बी.ए./बी.एस.सी/बी.कॉम, द्वितीय वर्ष
आधार पाठ्यक्रम, तृतीय प्रश्नपत्र

पर्यावरणीय अध्ययन

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल
MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr Mukesh Dikxit
   Professor
   Shyama Prasad Mukharjee Govt Science & Commerce College Benazir Bhopal

2. Dr K.K.Mishra
   Assistant Professor
   Shyama Prasad Mukharjee Govt Science & Commerce College Benazir Bhopal

3. Dr Mukesh Napit
   Assistant Professor
   Shyama Prasad Mukharjee Govt Science & Commerce College Benazir Bhopal

Advisory Committee

1. Dr Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

2. Dr L.S.Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

3. Dr Shailendra Kaushik
   Assistant Director
   Department of Student Support
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

4. Dr Mukesh Dikxit
   Professor
   Shyama Prasad Mukharjee Govt Science & Commerce College Benazir Bhopal

5. Dr K.K.Mishra
   Assistant Professor
   Shyama Prasad Mukharjee Govt Science & Commerce College Benazir Bhopal

6. Dr Mukesh Napit
   Assistant Professor
   Shyama Prasad Mukharjee Govt Science & Commerce College Benazir Bhopal

COURSE WRITERS

Dr. Rupesh Tyagi, Assistant Professor (Contractual), Department of Economics, CCS University, Meerut
Units (1, 3, 5.0-5.1, 5.2-5.2.1, 5.2.2-5.2.3, 5.2.4, 5.2.5-5.2.6, 5.3-5.10)

Chudasama Dharmendra, Indian Institute of Environment Health and Safety Management, New Delhi
Units (2.0-2.1, 2.2, 2.2.2-2.2.3, 2.3-2.3.5, 2.4-2.4.1, 2.5, 2.6-2.10)

Prof. Sateeshchandra Joshi, Ex Faculty, Bharati Vidyapeeth University, New Delhi
Units (4.0-4.1, 2.2.1, 4.2-4.3, 4.4-4.8)

Dr. D. Sai Sujatha, Associate Professor, Department of Population Studies & Social Work, Sri Venkateswara University, Tirupati
Units (2.3.6, 2.4.2-2.4.3)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

पर्यावरणीय अध्ययन

Syllabi	Mapping in Book
इकाई 1 पर्यावरण एवं पारिस्थितिकीय अध्ययन (क) परिभाषा एवं महत्व (ख) जनभागीदारी एवं जनजागरण (ग) पारिस्थितिकी–प्रस्तावना (घ) पारिस्थितिक तन्त्र– अवधारणा, घटक, संरचना तथा कार्यप्रणाली ऊर्जा का प्रवाह, खाद्य श्रृंखला, खाद्य जाल, पारिस्थितिक पिरामिड तथा प्रकार।	**इकाई 1** : पर्यावरण एवं पारिस्थितिकीय अध्ययन **(पृष्ठ 3–36)**
इकाई 2 पर्यावरणीय प्रदूषण तथा जनसंख्या (क) वायु, जल, ध्वनि, ताप एवं आणविक प्रदूषण– परिभाषा प्रदूषण के कारण प्रभाव एवं रोकथाम। (ख) जनसंख्या–वृद्धि, राष्ट्रों के बीच अन्तर। (ग) जनसंख्या–विस्फोट, परिवार कल्याण कार्यक्रम। (घ) पर्यावरण और मानव स्वास्थ्य। (ङ) स्वच्छता एवं घरेलू कचरे का निष्पादन।	**इकाई 2** : पर्यावरणीय प्रदूषण तथा जनसंख्या **(पृष्ठ 37–151)**
इकाई 3 प्राकृतिक संसाधन, समस्याएँ तथा संरक्षण (क) जल संसाधन (ख) वन संसाधन (ग) भूमि संसाधन (घ) खाद्य संसाधन (ङ) ऊर्जा संसाधन	**इकाई 3** : प्राकृतिक संसाधन : समस्याएं तथा संरक्षण **(पृष्ठ 153–184)**
इकाई 4 जैव विविधता और उसका संरक्षण (क) प्रस्तावना : आनुवंशिक, जातीय तथा पारिस्थितिक विविधता (ख) जैव विविधता का मूल्य– उपभोग्य उपयोग, 3 उत्पादक उपयोग सामाजिक, नैतिक तथा सौन्दर्यगत मूल्य (ग) वृहत जैव विविधता केन्द्र के राष्ट्र रूप में भारत, राष्ट्रीय तथा स्थानीय स्तरों पर जैव विविधता। (घ) जैव विविधता के खतरे– आवासीय हानि, वन्य जीवन में अनाधिकार घुसपैठ तथा मानव वन्य जीवन–संघर्ष	**इकाई 4** : जैव विविधता और उसका संरक्षण **(पृष्ठ 185–240)**
इकाई 5 आपदा प्रबंधन तथा पर्यावरण संरक्षण कानून (क) आपदा प्रबंधन– बाढ़, भूकंप, चक्रवात एवं भूस्खलन (ख) वायु तथा जल प्रदूषण– संरक्षण कानून (ग) वन्य प्राणी संरक्षण कानून (घ) पर्यावरण तथा स्वास्थ्य रक्षा में सूचना प्रौद्योगिकी की भूमिका।	**इकाई 5** : आपदा प्रबंधन तथा पर्यावरण संरक्षण कानून **(पृष्ठ 241–308)**

विषय–सूची

परिचय 1

इकाई 1 पर्यावरण एवं पारिस्थितिकीय अध्ययन 3–36

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 पर्यावरण : परिभाषा एवं महत्व
1.3 जनभागीदारी एवं जनजागरण
1.4 पारिस्थितिकी : प्रस्तावना
1.5 पारिस्थितिकी तंत्र : अवधारणा
  1.5.1 एक पारिस्थितिकी प्रणाली के घटक
  1.5.2 पारिस्थितिकी तंत्र की संरचना
  1.5.3 कार्यप्रणाली ऊर्जा प्रवाह
  1.5.4 खाद्य श्रृंखला
  1.5.5 खाद्य जाल
  1.5.6 पारिस्थितिक पिरामिड तथा प्रकार
1.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.7 सारांश
1.8 मुख्य शब्दावली
1.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.10 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 पर्यावरणीय प्रदूषण तथा जनसंख्या 37–151

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 पर्यावरणीय प्रदूषण : कारण, प्रभाव एवं रोकथाम
  2.2.1 वायु, जल एवं ध्वनि प्रदूषण
  2.2.2 तापीय एवं आणविक प्रदूषण
  2.2.3 प्रदूषण नियंत्रण में स्थानीय एवं वैश्विक भूमिका
2.3 जनसंख्या वृद्धि : राष्ट्रों के बीच अंतर
  2.3.1 जनसंख्या वृद्धि : उत्तरदायी कारक
  2.3.2 जनसंख्या–आकलन की विधियां
  2.3.3 जनसंख्या वृद्धि अथवा परिवर्तन के प्रतिरूप
  2.3.4 भारत में जनसंख्या वितरण एवं घनत्व
  2.3.5 जनसंख्या–वृद्धि को प्रभावित करने वाले कारक
  2.3.6 जनसंख्या वृद्धि एवं अन्य राष्ट्रों के बीच अंतर
2.4 जनसंख्या विस्फोट : पर्यावरण, परिवार कल्याण कार्यक्रम एवं मानव स्वास्थ्य
  2.4.1 जनसंख्या विस्फोट और पर्यावरण
  2.4.2 जीवन की गुणवत्ता एवं मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव
  2.4.3 जनसंख्या संबंधी नीतियां एवं परिवार कल्याण कार्यक्रम
2.5 स्वच्छता एवं घरेलू कचरे का निष्पादन
2.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.7 सारांश
2.8 मुख्य शब्दावली

2.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.10 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 प्राकृतिक संसाधन : समस्याएं तथा संरक्षण **153–184**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 प्राकृतिक संसाधन : स्वरूप एवं समस्याएं
3.2.1 जल संसाधन
3.2.2 खनिज संसाधन
3.2.3 वन संसाधन
3.2.4 भूमि संसाधन
3.2.5 खाद्य संसाधन
3.2.6 ऊर्जा संसाधन
3.3 प्राकृतिक संसाधन संरक्षण
3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.5 सारांश
3.6 मुख्य शब्दावली
3.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 जैव विविधता और उसका संरक्षण **185–240**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 जैव विविधता की प्रस्तावना, प्रकार एवं उसके मूल्य
4.2.1 आनुवंशिक जैव–वैविध्य
4.2.2 प्रजातीय जैव–वैविध्य
4.2.3 पारिस्थितिक जैव–वैविध्य
4.2.4 जैव विविधता के नैतिक मूल्य
4.2.5 सामाजिक एवं सौन्दर्यगत मूल्य
4.3 राष्ट्रीय तथा स्थानीय स्तर पर जैव विविधता तथा उससे संबंधित खतरे
4.3.1 राष्ट्रीय स्तर पर जैव विविधता और भारत
4.3.2 आवासीय हानि तथा जैव विविधता के अन्य खतरे
4.3.3 वन्य जीवन में अनाधिकार घुसपैठ और मानव–वन्यजीव संघर्ष
4.3.4 भारत के प्रमुख राष्ट्रीय उद्यान, वन्य जीव अभयारण्य तथा बायोस्फीयर रिजर्व
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 आपदा प्रबंधन तथा पर्यावरण संरक्षण कानून **241–308**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 आपदा प्रबंधन एवं पर्यावरण संरक्षण विधान
5.2.1 बाढ़, भूकंप, चक्रवात तथा भू–स्खलन आदि आपदाएं और उनका प्रबंधन
5.2.2 प्राकृतिक संसाधनों का क्षरण एवं पर्यावरण प्रबंधन
5.2.3 पर्यावरण क्षरण तथा प्रदूषण नियंत्रण

5.2.4 राष्ट्रीय पर्यावरण नीति
5.2.5 पर्यावरणीय बहिर्भाव तथा जलवायु परिवर्तन
5.2.6 पर्यावरण संरक्षण हेतु विधायी प्रावधान
5.3 वायु एवं जल प्रदूषण संरक्षण कानून
5.4 वन्य प्राणी संरक्षण कानून
5.5 पर्यावरण तथा स्वास्थ्य रक्षा में सूचना प्रौद्योगिकी
5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.7 सारांश
5.8 मुख्य शब्दावली
5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'पर्यावरणीय अध्ययन' विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित बी.ए. द्वितीय वर्ष के लिए पाठ्यक्रम के अनुरूप तैयार की गई है।

हम अच्छी तरह जानते हैं कि मनुष्य के लिए पर्यावरण अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह उसके जीवन को प्रभावित करता है। अपने अस्तित्व के लिए मनुष्य पर्यावरण पर निर्भर करता है। मनुष्य, पशु–पक्षी, वनस्पति तथा निर्जीव वस्तुएं मिल कर पर्यावरण का निर्माण करते हैं। पर्यावरण का अध्ययन और इसका संरक्षण कैसे किया जाए यह सीखना आवश्यक है और वर्तमान समय में तो यह और भी आवश्यक हो जाता है, जबकि आधुनिक विकास और प्रौद्योगिकी ने प्राकृतिक संसाधनों और पारिस्थितिकी तंत्र को नष्ट करना आरंभ कर दिया है। आज अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के माध्यम से वैश्विक पर्यावरणीय विषयों पर जागरूकता का प्रसार किया जा रहा है, जिससे कि उसके संकटों का समाधान किया जा सके। इन विषयों की शृंखला में ग्लोबल वार्मिंग, वन अनाच्छादन से लेकर खनन तक के मामले आते हैं। तीव्र शहरीकरण और प्रौद्योगिकीय उन्नति के साथ–साथ पर्यावरण सुधार के लिये आवश्यक उपायों को सीखने की भी आवश्यकता है, जिससे कि प्राकृतिक पारिस्थितिकी तंत्र की सुरक्षा की जा सके या एक बेहतर पारिस्थितिकी तंत्र से उसे प्रतिस्थापित किया जा सके।

इस पुस्तक में पांच इकाइयों को समायोजित किया गया है, जिनमें पर्यावरण विषय की प्रकृति, प्राकृतिक संसाधनों की स्थिति, पारिस्थितिकी तंत्र, जैव–विविधता तथा उसके विविध पहलुओं, पर्यावरण प्रदूषण और जनसंख्या पर पड़ने वाले इसके विभिन्न प्रभावों का विस्तृत आकलन प्रस्तुत किया गया है।

पुस्तक में स्वाध्याय प्रणाली का प्रयोग किया गया है, जिसमें प्रत्येक इकाई का आरंभ उस इकाई के परिचय से होता है, तत्पश्चात इकाई के उद्देश्य आते हैं। पाठ के बीच–बीच में अपनी प्रगति जांचिए के प्रश्न समाविष्ट किये गए हैं। प्रभावी पुनर्कथन के लिये प्रत्येक पाठ के अंत में सारांश, मुख्य शब्दावली और स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास दिए गए हैं।

पहली इकाई में पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी तंत्र की अवधारणा, परिभाषा, महत्व एवं घटक बताते हुए इनके संरक्षण में जनभागीदारी तथा जनजागरण की भूमिका पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरी इकाई में पर्यावरणीय प्रदूषण तथा जनसंख्या वृद्धि के कारणों, प्रभावों एवं उनकी रोकथाम के उपायों का विश्लेषण करते हुए जनसंख्या विस्फोट एवं वृद्धि का पर्यावरण तथा मानव स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों का आकलन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही इसमें स्वच्छता एवं घरेलू कचरे के प्रबंधन की भी जानकारी दी गयी है।

तीसरी इकाई में प्राकृतिक संसाधनों के आशय और स्वरूप को स्पष्ट करते हुए जल, वन्य, भूमि, खाद्य एवं ऊर्जा आदि प्राकृतिक संसाधनों के महत्व, लाभों और उनसे जुड़ी समस्याओं के साथ–साथ उनके संरक्षण के उपायों का भी विवरण दिया गया है।

चौथी इकाई का विषय जैव विविधता और उसका संरक्षण है। इसमें जैव विविधता के वर्गीकरण, उसमें निहित नैतिक, सामाजिक एवं सौन्दर्यात्मक मूल्यों, पर्यावरण विघटन संबंधी समस्याओं और उनके संरक्षण का उल्लेख किया गया है।

टिप्पणी

पांचवीं इकाई में आपदा प्रबंधन की आवश्यकता, महत्व, उसके विविध स्तरों आदि का वर्णन करते हुए वायु तथा जल संरक्षण एवं वन्य प्राणी संरक्षण से संबंधित पर्यावरण संरक्षण प्रावधानों का विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

हमें विश्वास है कि यह पुस्तक विषय के सांगोपांग अध्ययन में विद्यार्थियों के लिये उपयोगी साबित होगी।

इकाई 1 पर्यावरण एवं पारिस्थितिकीय अध्ययन

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 पर्यावरण : परिभाषा एवं महत्व
1.3 जनभागीदारी एवं जनजागरण
1.4 पारिस्थितिकी : प्रस्तावना
1.5 पारिस्थितिकी तंत्र : अवधारणा
  1.5.1 एक पारिस्थितिकी प्रणाली के घटक
  1.5.2 पारिस्थितिकी तंत्र की संरचना
  1.5.3 कार्यप्रणाली ऊर्जा प्रवाह
  1.5.4 खाद्य श्रृंखला
  1.5.5 खाद्य जाल
  1.5.6 पारिस्थितिक पिरामिड तथा प्रकार
1.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.7 सारांश
1.8 मुख्य शब्दावली
1.9 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

सभ्यता की शुरुआत के बाद से ही मनुष्य की पर्यावरण में रुचि रही है। प्राचीन भारतीय शास्त्रों में कई प्रथाएं पर्यावरण संरक्षण से संबंधित हैं। लेकिन आज हम दो परस्पर विरोधी विकल्पों के बीच फंसे हैं। एक ओर अधिशेष खाद्य उत्पादन, जेनेटिक इंजीनियरिंग, अंतरिक्ष और सूचना प्रौद्योगिकी व उन्नत चिकित्सा पद्धतियों के साथ एक समृद्ध और सुनहरे भविष्य की संभावना है, तो दूसरी ओर बढ़ती जनसंख्या के गंभीर परिदृश्य, आवास के लिए स्थान की कमी, पानी की कमी और जैव विविधता के नुकसान हैं। सतत विकास, प्रबंध व पर्यावरण आपदाओं को रोकने के लिए ऐसे आसन्न खतरों के साथ हवा, पानी और खनिज संपदा सहित संसाधनों के तर्कसंगत उपयोग की बढ़ती अनुभूति होनी चाहिए। आज पर्यावरण एवं पारिस्थितिकीय अध्ययन की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है।

- संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (मिलेनियम पारिस्थितिकी तंत्र आकलन) के अनुसार हर 24 घंटे में पौधों, कीड़ों, पक्षियों और स्तनधारियों की 150-200 प्रजातियां विलुप्त हो रही हैं।
- वर्षावन एक्शन नेटवर्क ने चेताया है कि अगर वर्षावन लगातार वर्तमान दर से ही नष्ट किए जाते रहे तो 2060 तक कुछ बाकी नहीं बचेगा।
- वास्तविक दिखने वाले उत्सर्जन परिदृश्यों के आधार पर इस सदी के अंत तक पृथ्वी की सतह का औसत तापमान 2 डिग्री सेल्सियस से 6 डिग्री सेल्सियस के बीच बढ़ सकता है।

टिप्पणी

कई कारणों में से ये केवल तीन कारण हैं, जिनके बारे में पर्यावरण जागरूकता लाने और भविष्य की पीढ़ियों के लिए इसे बचाने की आवश्यकता है।

वर्ष 2004 में नेचर पत्रिका में प्रकाशित एक अध्ययन में लीड्स यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिकों ने चेतावनी दी थी कि वर्ष 2050 तक 10 में से एक प्रजाति विलुप्त हो जाएगी। धरती पर पाये जाने वाले प्राणी- शेर, दरियाई घोड़ा, ध्रुवीय भालू, तेंदुआ, विशाल पांडा, व्हेल, अनगिनत तितलियां, चमगादड़ और मधुमक्खियां इत्यादि हमारी आगामी पीढ़ियों को दिखाई भी नहीं देंगे। इतनी ज्यादा प्रजातियों पर विलुप्ति का खतरा क्यों मंडरा रहा है? अवैध रूप से किया जाने वाला शिकार इसकी एक बड़ी वजह है, लेकिन इसके साथ-साथ प्राकृतिक आवास छिनना और पर्यावरण में होने वाले बदलाव भी इसके लिए समान रूप से जिम्मेदार हैं। इन बदलावों की वजह से पारिस्थितिकी तंत्र में आए बदलावों ने कुछ प्रजातियों के जीवन को कठिन बना दिया है।

एक पारिस्थितिकी तंत्र किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले संपूर्ण जैव समुदाय और इसके निर्जीव वातावरण का निर्माण करने वाले भौतिक और रासायनिक कारकों से निर्मित होता है। तालाब, जंगल, मूंगे की चट्टान, मुहाना, चरागाह या दूसरे शब्दों में कहें कि पारिस्थितिकी तंत्र वह प्रणाली है, जहां पर जैव समुदाय (सजीव प्राणी) और अजैव पर्यावरण एक संपूर्ण इकाई के तौर पर साथ में काम करते हैं। इनमें से हर एक इकाई एक-दूसरी के कार्य को प्रभावित करती रहती है। कोई पारिस्थितिकी तंत्र सहारा के मरुस्थल की तरह विशालकाय और आपके घर के सामने मौजूद पोखर जितना छोटा भी हो सकता है।

यह बात ध्यान में रखना जरूरी है कि पारिस्थितिकी तंत्र में संरचना और कार्य दोनों चीज़ें होती हैं। संरचना प्रजातियों की विविधता से संबंधित है, जबकि संरचनात्मक घटकों के बीच सामग्री का चक्रण और ऊर्जा का प्रवाह कार्य में शामिल है।

संपूर्ण धरती अपने आप में एक व्यापक पारिस्थितिकी तंत्र है और धरती का वह हिस्सा जहां जैविक घटक पाये जाते हैं, उसे जीव मंडल अथवा पर्यावरण मंडल कहते हैं। अगर धरती के आयतन से तुलना करें तो जीव मंडल एक बहुत ही पतली सी परत है, जो कि समुद्र के तल से 11 हजार मीटर की गहराई से लेकर समुद्र तल से 15 हजार मीटर की ऊंचाई तक होता है।

इस इकाई में पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी तंत्र की परिभाषा एवं महत्व बताते हुए उसके संरक्षण में जनभागीदारी एवं जनजागरण की भूमिका बतायी गयी है। साथ ही पारिस्थितिकी तंत्र के घटकों, कार्यों, प्रकारों आदि का भी विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- पर्यावरण की परिभाषा एवं महत्व से अवगत हो पाएंगे;
- पर्यावरण के संरक्षण में जनभागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिये राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर किये जा रहे प्रयासों को जान पाएंगे;

- पारिस्थितिकी की प्रस्तावना से परिचित हो पाएंगे;
- पारिस्थितिकी तंत्र की संरचना एवं उसके मुख्य कार्यों को जान पाएंगे;
- पारिस्थितिकी तंत्र के मुख्य प्रकारों का विश्लेषण कर पाएंगे।

टिप्पणी

1.2 पर्यावरण : परिभाषा एवं महत्व

पर्यावरण को समझने और इसके संरक्षण से पहले हमें यह समझना होगा कि पर्यावरण क्या है। पर्यावरण शब्द फ्रेंच भाषा के शब्द 'एन्वारन' से लिया गया है, जिसका अर्थ है 'घिरे होना' या 'चारों तरफ'। वास्तव में वातावरण का मतलब एक जीव के जीवन की बाह्य परिस्थितियों से है। पौधों और जानवरों जैसे जीवों सहित मनुष्य भी पर्यावरण से पोषण पाते हैं और इसकी गोद में जीवित रहते हैं। पर्यावरण स्थिर नहीं है, बल्कि यह समय और स्थान के हिसाब से बदलता जाता है। इसमें रहने वाले जीवों को जिंदा रहने और विकास करने के लिए एक या इससे अधिक पर्यावरणीय कारकों जैसे तापमान, आर्द्रता में परिवर्तन के अनुकूल खुद को ढालना पड़ता है। जो प्रजातियां पर्यावरण परिवर्तन के साथ सामंजस्य बनाने में असमर्थ रहती हैं उनके डायनासोर की तरह विलुप्त होने की संभावना रहती है।

पर्यावरण अध्ययन क्या है?

पर्यावरण अध्ययन मानव और पर्यावरण के बीच अंत:क्रिया के अध्ययन को दर्शाता है। व्यापक अर्थ में यह पृथ्वी स्थलीय, वायुमंडलीय और मानवशास्त्रीय वातावरण के बीच जटिल संबंधों का अध्ययन है। दूसरे शब्दों में यह पृथ्वी, हवा, पानी और रहने योग्य वातावरण तथा इन पर प्रौद्योगिकी के प्रभाव की समझ है। प्रकृति का हिस्सा होने के कारण मनुष्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पर्यावरण से प्रभावित होता है। यही नहीं मनुष्य भी अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप पर्यावरण की प्रकृति को परिवर्तित या संशोधित करता है। जनसंख्या में लगातार वृद्धि से पर्यावरण पर मानवीय गतिविधियों का प्रभाव बढ़ रहा है। यह प्रभाव हमेशा ही लाभप्रद नहीं होता। इसके वैश्विक जलवायु परिवर्तन, वायु और जल प्रदूषण व प्राकृतिक संसाधनों में कमी जैसे नकारात्मक प्रभाव भी पड़ रहे हैं। इन प्रभावों का मानव स्वास्थ्य पर भी असर पड़ता है।

पर्यावरण अध्ययन आज अध्ययन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र बन चुका है। इस अध्ययन के माध्यम से हम पर्यावरण प्रकृति और संसाधनों के साथ-साथ मानवीय गतिविधियों के पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में जानेंगे। वर्तमान और आने वाली पीढ़ियों के लिए पर्यावरण की रक्षा के मद्देनजर इसकी जानकारी बहुत महत्वपूर्ण है।

पर्यावरण अध्ययन की बहु-विषयक प्रकृति

आज दुनिया को पर्यावरण संबंधी चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है, जो व्यवहार (प्रकृति) में बहु-विषयक हैं। इनमें भौतिक और रासायनिक विज्ञान, जैविक और पृथ्वी विज्ञान, भूगोल, जनसांख्यिकी, अर्थशास्त्र के साथ-साथ राजनीति और कानून भी शामिल हैं। इसलिए पर्यावरण संबंधी अध्ययन का क्षेत्र व्यवहार में बहु-विषयक है। यही कारण है कि एक पर्यावरणविद् को पर्यावरण संबंधी प्रत्येक चुनौती को समझने और इसका अच्छी तरह से पर्याप्त व्यावहारिक समाधान विकसित करने के लिए कई विषयों की समझ होनी चाहिए।

टिप्पणी

पर्यावरण संबंधी अध्ययन एक व्यापक बहु-विषयक क्षेत्र है, जिसमें प्राकृतिक और मानव निर्मित पर्यावरण व इन दोनों के बीच संबंध शामिल है।

हालांकि यह पारिस्थितिकी और पर्यावरण विज्ञान से अलग है, लेकिन इसमें दोनों क्षेत्रों के बुनियादी सिद्धांत का अध्ययन शामिल है। इसके साथ-साथ इसमें नीति, राजनीति, कानून, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक पहलुओं, नियोजन, प्रदूषण नियंत्रण, प्राकृतिक संसाधान व मनुष्य और प्रकृति के बीच संबंध जैसे विषय भी शामिल हैं।

व्यावहारिक विज्ञान

पर्यावरण संबंधी अध्ययन एक व्यावहारिक विज्ञान है, क्योंकि यह सीमित संसाधनों के बीच मानव सभ्यता को स्थायी बनाने के लिए व्यावहारिक जवाब चाहता है। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है कि इसके घटकों में जीव विज्ञान, भूविज्ञान, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, समाजशास्त्र, स्वास्थ्य, अर्थशास्त्र और सांख्यिकी शामिल हैं।

पर्यावरण अध्ययन का विषय क्षेत्र

पर्यावरण संबंधी अध्ययन एक बढ़ता हुआ क्षेत्र है, क्योंकि इसका संबंध उन मुद्दों से है, जो मानव सहित विभिन्न जीवों को प्रभावित करते हैं। मानव जनसंख्या के लगातार बढ़ने के साथ ही मनुष्य की पानी, स्थान और प्राकृतिक संसाधन संबंधी आवश्कताएं भी बढ़ रही हैं। इसके साथ विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में तेजी से हो रही प्रगति भी पर्यावरण पर पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक और गंभीर मानवीय प्रभाव डाल रही है। इन प्रभावों से उत्पन्न हुई चुनौतियां केवल प्रदूषण नियंत्रण और वन की सुरक्षा तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि ये प्रकृति और जीवन को बनाए रखने के बारे में भी हैं।

आज दुनिया जिन चुनौतियों का सामना कर रही है, वे निम्नलिखित हैं-

- वातावरण में कार्बन डाइऑक्साइड और अन्य ग्रीन हाउस गैसों का स्तर बढ़ने का मुख्य कारण जीवाश्म ईंधन (कोयला, तेल और गैस) का जलना है, जो ग्लोबल वार्मिंग का प्रमुख कारण है।
- अगर कार्बन उत्सर्जन में वृद्धि इसी तरह जारी रही तो इस सदी के अंत तक औसत वैश्विक तापमान 12 डिग्री फारेनहाइट तक बढ़ सकता है, जिससे यह गृह मानव व अन्य जीवों के लिए काफी गर्म हो सकता है।
- वैश्विक जलवायु परिवर्तन और विषम मौसम के परिणामस्वरूप खाने की वस्तुओं और पानी में कमी आ सकती है, ग्लेशियर पिघल सकते हैं और समुद्र का स्तर बढ़ सकता है, जिससे तटीय शहरों में बाढ़ के हालात पैदा हो सकते हैं।
- ग्लोबल वार्मिंग और वन कटाव के कारण वन क्षेत्र कम हो रहा है।
- वनों की कटाई से स्थानीय और वैश्विक जलवायु में परिवर्तन को गति मिल सकती है।
- ग्लोबल वार्मिंग के कारण जैव विविधता को भी नुकसान हो रहा है। पौधों और पशुओं की प्रजातियां लुप्त हो रही हैं।
- बढ़ती आबादी के लिए वैश्विक जल संसाधन प्रबंधन ताजे पानी की सीमित आपूर्ति पर निर्भर हैं। (विश्व बैंक के अनुसार दो अरब लोगों के पास जल जनित

टिप्पणी

रोगों से रक्षा के लिए पर्याप्त सफाई सुविधाओं की कमी है, जबकि एक अरब लोगों के पास उपयोग के लिए साफ पानी की कमी है।)

- ऊर्जा संसाधन जैसे कि तेल, कोयला और प्राकृतिक गैस की कमी हो रही है।
- खनिज संसाधनों की भी लगातार कमी हो रही है।
- हवा और पानी में खतरनाक रसायनों की उपस्थिति से दुनिया में मछलियों की कमी हो रही है, मूंगा की चट्टानें लुप्त हो रही हैं और दुनियाभर में संक्रामक रोग फैल रहे हैं।

इन सभी समस्याओं का समाधान सतत विकास, स्वच्छ व नवीकरणीय ऊर्जा के उपयोग और प्राकृतिक संसाधानों के संरक्षण व विवेकपूर्ण उपयोग में निहित है।

पर्यावरण अध्ययन का महत्व

आदिमानव शिकार और भोजन पाने के लिए शारीरिक शक्ति का इस्तेमाल करते थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया मनुष्य ने पालतू पशुओं को पहचानना शुरू कर दिया और फसलें उगाने लगा। वह उपलब्ध ऊर्जा संसाधनों, जैसे आग और हवा का इस्तेमाल करने लगा। फिर धीरे-धीरे उपकरण बनाए, पहले पत्थरों से और बाद में लोहे जैसी धातुओं से। इस प्रकार मनुष्य ने प्रकृति के संसाधनों का इस्तेमाल करना सीखा, जिससे उसकी जीवन की गुणवत्ता में काफी सुधार आया। लेकिन इसके साथ ही मनुष्य का प्रकृति में हस्तक्षेप भी बढ़ गया।

जैसे-जैसे जनसंख्या में बढ़ोतरी होती गई, कपड़ों और घरेलू सामग्री की आवश्यकताएं भी बढ़ती गईं। मनुष्य की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए विभिन्न वस्तुओं के निर्माण के लिए उद्योग लगने शुरू हो गए। शहरीकरण का विस्तार होने लगा और वनों की कटाई शुरू हो गई। आज उद्योग अपने अपशिष्ट और उत्सर्जन के माध्यम से हवा, पानी और मिट्टी में विषाक्त रासायनिक पदार्थ छोड़ रहे हैं। ये रासायनिक पदार्थ खाद्य पदार्थों में मिल जाते हैं और मानव शरीर में जाकर जैवरासायनिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं। गैर-विषैले रासायनिक पदार्थ भी दूसरी तरह से नुकसान पहुंचा सकते हैं। वे ओजोन परत पर प्रभाव डाल सकते हैं, अम्ल वर्षा, कोहरा तथा अन्य कई प्रकार से हमारे पर्यावरण को नुकसान पहुंचा सकते हैं।

अगर हम अपने ग्रह पृथ्वी को बचाना चाहते हैं तो हमें यह सुनिश्चित करना होगा कि प्रत्येक पुरुष और महिला को बुनियादी पर्यावरण सिद्धांतों के बारे में जानकारी हो, जिससे वे आने वाली पीढ़ी के लिए पृथ्वी के पर्यावरण (पारिस्थितिकी) की सुरक्षा कर सकें और इसे बनाए रखने में अपना योगदान दे सकें। हमारे पर्यावरण के विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए, हमें जीव विज्ञान, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, भूगोल, संसाधन प्रबंधन, अर्थशास्त्र और आबादी के मुद्दों को समझने की जरूरत है।

पर्यावरण संबंधी अध्ययन अपने बहु-विषयक दृष्टिकोण के साथ, पर्यावरण प्रणालियों और प्रक्रियाओं के बारे में एक बुनियादी जानकारी प्रदान करता है। यह उन परिवर्तनों के बारे में भी बताता है जो मानवीय कारकों की वजह से हो रहे हैं। यह विभिन्न पर्यावरण प्रणालियों और उन पर मानवीय गतिविधियों के प्रभाव के विश्लेषण के लिए कौशल प्राप्त करने में हमारी मदद करता है। पर्यावरण अध्ययन में पर्यावरण प्रबंधन,

पर्यावरण नीति विश्लेषण, संपत्ति के अधिकार, प्रदूषण नियंत्रण के आर्थिक यंत्र और पर्यावरण नीति जैसे विभिन्न क्षेत्र शामिल हैं। पर्यावरण अध्ययन की अवधारणाएं कृषि, उद्योग, निर्माण और शहरी नियोजन जैसे क्षेत्रों में प्रयुक्त हो रही हैं।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. एन्वायर्नमेंट अथवा पर्यावरण शब्द 'एन्वारन' से बना है। यह किस भाषा से लिया गया है?

   (क) जर्मन (ख) फ्रेंच

   (ग) रसियन (घ) इटैलियन

2. यदि कार्बन उत्सर्जन में इसी तरह वृद्धि जारी रही, तो इस सदी के अंत तक औसत वैश्विक तापमान कितने डिग्री फारेनहाइट तक बढ़ सकता है?

   (क) 5 (ख) 8

   (ग) 12 (घ) 15

1.3 जनभागीदारी एवं जनजागरण

मनुष्य पर्यावरण का हिस्सा है। मानव सभ्यता ने पर्यावरणीय संसाधनों जैसे हवा, पानी और भूमि के माध्यम से प्रगति की है और समृद्धि पाई है। हालांकि मनुष्य की तकनीकी और औद्योगिक उन्नति निस्संदेह सराहनीय है, लेकिन यह भी सच है कि यह उन्नति पर्यावरण की कीमत पर हुई है। मनुष्य की प्रगति पर्यावरण पर प्रभाव डाल रही है और अक्सर यह प्रभाव नकारात्मक होता है। उदाहरण के लिए पानी की बढ़ती आवश्यकता (पेयजल, सिंचाई के लिए और पानी की अन्य जरूरतों हेतु) को पूरी करने के लिए भूमिगत जल का इसकी सीमाओं से परे अंधाधुंध दोहन किया जा रहा है और इसके परिणामस्वरूप हमें इस संसाधन से हमेशा के लिए वंचित होना पड़ सकता है।

हम सभी जानते हैं कि पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधन सीमित हैं। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ रही है हम सभी और ज्यादा संसाधनों का इस्तेमाल कर रहे हैं। ऐसे में पृथ्वी का संसाधन आधार निश्चित रूप से सिकुड़ जाएगा। इस संबंध में वैज्ञानिक पहले ही चेतावनी दे चुके हैं। मनुष्य द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन के बढ़ते दायरे के बीच पृथ्वी को सुरक्षित बनाए रखने की उम्मीद नहीं की जा सकती। मनुष्य को भविष्य में पर्यावरण क्षरण और जलवायु परिवर्तन के गंभीर परिणाम भुगतने पड़ सकते है। इसलिए आज जिन पर्यावरणीय समस्याओं का दुनिया को सामना करना पड़ रहा है उनके बारे में तत्काल जागरूकता लाने और उन्हें हल करने के तरीके ढूंढ़ने की आवश्यकता है।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास

1962 में पर्यावरणविद् राहेल कार्सन ने अपनी किताब 'साइलेंट स्प्रिंग' में अमेरिका में कीटनाशकों और हर्बिसाइड्स के खतरों का उल्लेख किया है। कार्सन ने अपने अनुसंधान के माध्यम से पानी में, धरती पर और यहां तक कि मां के दूध में भी लंबे समय से डीडीटी और जहरीले रसायनों की उपस्थिति दर्शाई थी। उनकी इस किताब से 20वीं सदी

के अंतिम दौर में अमेरिका में पर्यावरण संबंधी आंदोलन शुरू हो गया था। 1970 में पर्यावरण संरक्षण एजेंसी (ईपीए) की स्थापना की गई और 1972 में डीडीटी के उपयोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

टिप्पणी

1960 के दशक से पहले पर्यावरण की अवधारणा किसी भी राष्ट्रीय सरकार के लिए कम चिंता का विषय थी और अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में इसे अनसुना किया जाता था। लेकिन आज अंतरराष्ट्रीय वार्ताओं में भी इसका वर्चस्व है। इस क्रांति का श्रेय संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा आयोजित दर्जनों वैश्विक सम्मेलनों, विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूएनईपी), जो 1972 में स्टॉकहोम में पहले सम्मेलन के बाद स्थापित किया गया था, को जाता है। यूएनईपी संयुक्त राष्ट्र प्रणाली में पर्यावरण की आवाज है। इसका उद्देश्य पर्यावरण की देखभाल में प्रेरणा, सूचना और राष्ट्रों व लोगों को भविष्य की पीढ़ियों के पर्यावरणीय हितों से समझौता किए बिना अपने जीवन की गुणवत्ता में सुधार करने की भागीदारी को प्रोत्साहन और नेतृत्व प्रदान करना है। पर्यावरण के प्रति जागरूकता में अंतरराष्ट्रीय प्रयासों के मामले में विभिन्न संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन सबसे आगे रहे हैं। मानव पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र का पहला सम्मेलन 1972 में 5-16 जून तक स्टॉकहोम में आयोजित किया गया था। तब से पर्यावरण के बारे में जागरूकता को बढ़ावा देने और राजनीतिक ध्यान और सार्वजनिक कार्रवाई को प्रोत्साहित करने के लिए 5 जून को विश्व पर्यावरण दिवस (डब्ल्यूईडी) के रूप में मनाया जाता है।

पहला पर्यावरण दिवस 1973 में मनाया गया था। आज इसे विभिन्न शहरों में अलग-अलग विषयों के साथ आयोजित किया जाता है। इसके बाद कई संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन हुए। इनमें जून 1992 में रियो डी जेनेरियो में हुआ संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण और विकास सम्मेलन (यूएनसीईडी), जिसे रियो अर्थ समिट के नाम से भी जाना जाता है और 2002 में सतत विकास पर दक्षिण अफ्रीका के जोहानिसबर्ग में हुआ विश्व शिखर सम्मेलन (डब्ल्यूएसएसडी), जिसे पृथ्वी शिखर सम्मेलन भी कहा जाता है, शामिल हैं। इन सम्मेलनों ने पर्यावरण संरक्षण पर लोकप्रिय राय उत्पन्न की और विश्व समुदाय को इस मामले में एक मंच पर लेकर आए।

यूएनईपी के अनुसार निम्नलिखित तरीकों से पर्यावरण के प्रति लोगों में शिक्षा और जागरूकता को बढ़ाया जा सकता है-

- सार्वजनिक और प्रासंगिक कानूनों और नियमों के बारे में लोगों लोगों में जागरूकता उत्पन्न करके। इसके अलावा लोगों को उनके अधिकारों, हितों, कर्तव्यों और जिम्मेदारियों के बारे में बताकर। इसके साथ-साथ उन्हें सामाजिक, पर्यावरणीय और आर्थिक नियमों की अवहेलना से होने वाले दुष्प्रभावों के बारे में जानकारी देकर।
- प्रमुख सार्वजनिक खिलाड़ियों, निर्णय निर्माताओं को शामिल करके मीडिया के माध्यम से लोगों में जिम्मेदार कार्रवाई को प्रोत्साहन देकर। इसके साथ ही पर्यावरण जागरूकता के लिए अभियान चलाकर विभिन्न समुदायों, गैर सरकारी संगठनों, निजी क्षेत्रों और औद्योगिक व व्यापार संघों को जागरूक किया जा सकता है। इसके अलावा स्कूलों और अन्य शिक्षा संस्थानों में शैक्षिक कार्यक्रम में पर्यावरण जागरूकता संबंधी पाठ्यक्रम शामिल करके।
- पर्यावरण जागरूकता और पर्यावरण शिक्षा के कार्यक्रमों को प्रोत्साहन देने हेतु महिलाओं और युवाओं के लिए अभियान चलाना।

टिप्पणी

भारत में प्रयास

1970 के दशक में विशेषकर संयुक्त राष्ट्र स्टॉकहोम कान्फ्रेंस (1972) के बाद भारत में पर्यावरण जागरूकता एक प्रमुख मुद्दा बन गया है। इस दौरान ही पर्यावरण और वन मंत्रालय का गठन किया गया और पर्यावरण संरक्षण के लिए कानून बनाए गए।

निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए राष्ट्रीय पर्यावरण नीति (एनईपी) का गठन किया गया।

- सुरक्षित, स्वस्थ, उत्पादक और संतोषजनक पर्यावरण विकसित और संरक्षित करने के लिए।
- जीवन की गुणवत्ता सुधारने के लिए ग्रामीण और शहरी बस्तियों को विकसित करना।
- पर्यावरणीय प्रभाव आकलन और उचित पर्यावरण रक्षा उपायों के साथ ठोस पारिस्थितिकी आधारित योजनाबद्ध विकास करना।
- पर्यावरण सुरक्षा प्रौद्योगिकियों, संसाधानों के पुनर्चक्रण और अपशिष्ट के उपयोग को बढ़ावा देना।
- पहाड़ों, वर्षा वनों, चारागाह, रेगिस्तान, झीलों, समुद्र तटों, वनस्पतियों और द्वीपों के रूप में विशिष्ट निवास के लिए प्राकृतिक भंडार और अभयारण्य बनाकर देश में जैविक विविधता का संरक्षण करना।
- निगरानी, संग्रह और सूचना के प्रसार के लिए पर्यावरणीय मानदंडों को विकसित करना और प्रभावी तंत्र स्थापित करना।
- सभी स्तरों पर पर्यावरणीय शिक्षा को प्रोत्साहन देना और सार्वजनिक जागरूकता लाना।
- पर्यावरण विज्ञान और प्रौद्योगिकीय में अनुसंधान को प्रोत्साहित करना।

हालांकि हमारे पर्यावरण को सुरक्षित रखने के लिए राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किए जा रहे हैं, लेकिन पर्यावरणीय संसाधनों को देखभाल के साथ इस्तेमाल करने और उन्हें अंधाधुंध दोहन से बचाने की हर नागरिक की जिम्मेदारी है। हम सभी निम्नलिखित तरीकों से पर्यावरण की संरक्षा में अपना योगदान दे सकते हैं-

- तीन आर (R) रीड्यूस (कमी), रीयूज (पुनः उपयोग), रीसाइकल (पुनर्चक्रण) का इस्तेमाल करके।
- कागज और पानी की बचत को बढ़ावा देकर और प्लास्टिक के इस्तेमाल से परहेज करके।
- पेड़ों को बचाने के लिए चलाए जा रहे आंदोलनों का समर्थन करके।
- पर्यावरण अनुकूल उत्पाद खरीद कर।
- अच्छी आदतों से, जैसे रोड पर न थूकना, कचरा नहीं फेंकना और सार्वजनिक स्थानों पर धूम्रपान नहीं करके।
- विश्व पर्यावरण दिवस और वन्यजीवन सप्ताह पर आयोजित कार्यक्रमों में हिस्सा लेकर।
- हमारे पर्यावरण को नुकसान पहुंचाने वाले और दूषित करने वाले संसाधनों की सूचना सरकार या गैर सरकारी संगठनों (एनजीओ) को देकर।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. डीडीटी के उपयोग पर कब प्रतिबंध लगाया गया?

(क) 1970 (ख) 1960

(ग) 1972 (घ) 1975

4. 2002 में सतत् विकास पर विश्व शिखर सम्मेलन (डब्ल्यूएसएसडी) का आयोजन कहां हुआ था?

(क) बर्लिन (ख) जोहानिसबर्ग

(ग) रियो डी जेनेरियो (घ) स्टाकहोम

1.4 पारिस्थितिकी : प्रस्तावना

पृथ्वी विभिन्न प्रकार के पारिस्थितिकीय तंत्रों से बनी है। इन्हें दो व्यापक श्रेणियों के तहत समूहबद्ध किया जा सकता है- स्थलीय (भूमि आधारित) और जलीय (जल आधारित)। स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र में वन, घास के मैदान, मरुस्थल, शहरी भूमि और समुद्र तट के निवास शामिल हैं। जलीय पारिस्थितिकी तंत्र में झील, नदी, दलदल, ज्वारनदमुख समेत समुद्र की तह में मिलने वाले अनेक तंत्र शामिल होते हैं। समुद्र में मिलने वाले कुछ पारिस्थितिकी तंत्रों तक तो मनुष्य शायद ही पहुंचा हो, जैसे कि समुद्र की अथाह गहराइयों में मिलने वाले तंत्र।

यद्यपि गुणधर्म के लिहाज से ये दोनों तंत्र एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं, लेकिन इनमें दो मुख्य घटक होते हैं- अजैव और जैविक। जैसा कि हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि अजैव घटक निर्जीव तत्व (अकार्बनिक पदार्थ जैसे कि ऑक्सीजन, कार्बन, नाइट्रोजन और कार्बन डाइऑक्साइड एवं पानी जैसे यौगिक; प्रोटीन, सड़ी पत्तियों की मिट्टी, वसा जैसे कार्बनिक पदार्थ; तापमान, आर्द्रता और मिट्टी जैसे जलवायु संबंधी कारक) होते हैं।

जैविक घटक पारिस्थितिकी तंत्र में रहने वाले वे प्राणी होते हैं जो अपना आवास बरकरार रखने के लिए एक-दूसरे पर परस्पर प्रभाव डालते हैं। एक बार दोहराने के लिए आपको बता दें कि जैविक घटक तीन प्रकार के होते हैं- उत्पादक (अपना खुद का कार्बनिक भोजन तैयार करने में सक्षम, जैसे कि पेड़), उपभोक्ता (अपना भोजन खुद तैयार करने में अक्षम होते हैं और इस काम के लिए दूसरे जैविक घटकों पर निर्भर होते हैं) और विघटक (पारिस्थितिकी तंत्र में मृत पशुओं और पौधों को खाने वाले जीव)।

किसी भी स्थान की सभी सजीव, निर्जीव और जलवायु संबंधी परिस्थितियां आपस में जुड़ी हुई होती हैं। वनस्पति, जीव और मौसम के लिहाज से सभी पारिस्थितिकी तंत्र अलग होते हैं लेकिन वे सभी किसी न किसी प्रकार के जीवन को सहारा देते हैं। इसलिए विभिन्न पारिस्थितिकी तंत्रों की विशेषताएं समझना जरूरी है, ताकि सभी प्रजातियों का अस्तित्व बना रहे। शुरुआती दिनों में समझ नहीं होने की वजह से ही प्राकृतिक आवासों के अति-दोहन और कई प्रजातियों की विलुप्ति जैसी समस्याएं सामने आ रही हैं। और तो और कई सुंदर भौगोलिक परिदृश्य भी विध्वंस का शिकार हो गए।

टिप्पणी

पारिस्थितिकी तंत्र दो प्रकार के होते हैं- प्राकृतिक और मानव निर्मित।

स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र केवल जमीन पर ही मिलते हैं।

वन पारिस्थितिकी तंत्रों में वनस्पति प्रचुर मात्रा में होती है और इनमें तुलनात्मक रूप से छोटे क्षेत्र में काफी जीव रहते हैं।

घास के मैदानों के पारिस्थितिकी तंत्र खुले मैदानों से बने होते हैं, जिनमें न तो ज्यादा झाड़ियां होती हैं और न ही पेड़। घास के मैदान दो प्रकार के होते हैं- उष्णकटिबंधीय और शीतोष्ण।

मरुस्थल वे क्षेत्र होते हैं, जिनमें हर साल 20 इंच से भी कम बारिश होती है। इतना ही नहीं बारिश से मिलने वाले पानी की मात्रा वाष्पीकरण में खत्म होने वाले पानी से भी कहीं कम होती है।

जलीय पारिस्थितिकी तंत्र जल निकायों में स्थित होते हैं। ये मीठे पानी और समुद्री दोनों ही तरह के होते हैं। मीठे पानी के पारिस्थितिकी तंत्र में पीने लायक पानी होता है, जिसमें नमक न के बराबर होता है। तालाब पोखर, झील और नदी इसके उदाहरण हैं। वहीं समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र क्षारीय पानी पर आधारित होते हैं, जैसे कि समुद्र, महासागर और ज्वारनदमुख।

प्रत्येक पारिस्थितिकी तंत्र के पौधे और पशु अपने पारिस्थितिकी तंत्र की अजैव विशेषताओं के प्रति उल्लेखनीय अनुकूलन प्रदर्शित करते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

5. पृथ्वी के पारिस्थितिकीय तंत्र को कितनी व्यापक श्रेणियों में समूहबद्ध किया जाता है?

(क) दो (ख) तीन

(ग) चार (घ) पांच

6. प्रतिवर्ष कितने इंच से कम बारिश वाले क्षेत्र को मरुस्थल कहा जाता है?

(क) 10 इंच (ख) 15 इंच

(ग) 20 इंच (घ) 25 इंच

1.5 पारिस्थितिकी तंत्र : अवधारणा

किसी भी क्षेत्र में पर्यावरण के अजैव घटकों जैसे मिट्टी, हवा और पानी के साथ पौधों और जंतुओं का समुदाय एक क्षेत्र के पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण करता है। रॉय क्लेफैम ने वर्ष 1930 में, एक-दूसरे के साथ एक इकाई के संबंध के तौर पर दिखने वाले पर्यावरण के जैविक और भौतिक घटकों को दर्शाने के लिए पारिस्थितिकी तंत्र शब्द का इस्तेमाल किया था। हरेक पारिस्थितिकी तंत्र का अपना स्थल दृश्य होता है, जैसे- वन, मरुस्थल अथवा तटीय इलाका। इसकी विशेषताएं हैं- इसकी भौतिक खासियतें जैसे- पहाड़, मैदान, नदी, मिट्टी, जल निकासी, पानी का खारापन और पर्यावरणीय परिस्थितियां जैसे- बारिश, धूप की मात्रा और तापमान की रेंज।

टिप्पणी

व्यापक तौर पर पारिस्थितिकी तंत्र के दो प्रकार होते हैं- स्थलीय अथवा भूमि आधारित पारिस्थितिकी तंत्र और जलीय अथवा जल आधारित पारिस्थितिकी तंत्र। पृथ्वी पर रहने वाले सभी जीव इन दो निवासों में ही पाये जाते हैं।

किसी भी पारिस्थितिकी तंत्र के सभी सजीव और निर्जीव घटक और एक-दूसरे के साथ उनका व्यवहार और संबंध एक गतिशील और जटिल व संपूर्ण कार्यप्रणाली का निर्माण करता है, जिसे पारिस्थितिकीय इकाई कहते हैं। पारिस्थितिकीय इकाई में पाये जाने वाले अतिरिक्त गुणधर्म किसी एक घटक में नहीं मिलते।

पारिस्थितिकी तंत्र के लिए कोई क्षेत्र कितना बड़ा अथवा छोटा होना चाहिए इसके लिए कोई अवधारणागत प्रतिबंध नहीं हैं। इसी प्रकार एक पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण करने के लिए प्रजातियों अथवा मनुष्यों की न्यूनतम संख्या भी तय नहीं है। पूरी धरती भी एक पारिस्थितिकी तंत्र है और आपके घर में रखा मछलियों का जार भी।

कुछ पारिस्थितिकी तंत्र जैसे कि मरुस्थल काफी सख्त होते हैं और ये काफी मानवीय हस्तक्षेप का सामना कर सकते हैं। वहीं दूसरी तरफ, पहाड़ियों, झीलों, सदाबहार वनों और समुद्र के नीचे स्थित पारिस्थितिकी तंत्र अत्यधिक नाजुक होते हैं। ये विघटन का सामना कर रहे हैं। इनमें मानवीय गतिविधियां लगातार बढ़ने के चलते यहां रहने वाली कई प्रजातियां अपना प्राकृतिक आवास खोने की वजह से खतरे में हैं।

पारिस्थितिक उत्तराधिकार

पारिस्थितिक उत्तराधिकार वह क्रमिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा पारिस्थितिकी तंत्र में समय के साथ बदलावा होता है। निवास लगातार बदल रहे हैं। भूमि का ऐसा टुकड़ा जो खाली है, वह लंबे सयम तक खाली नहीं रहता। समय के साथ उस जगह को पेड़-पौधे, कीट-पतंगे और जीव-जंतु अपना निवास स्थान बना लेते हैं। उत्तराधिकार की प्रक्रिया में एक क्षेत्र में रहने वाली प्रजातियां क्रमिक रूप से बदल जाएंगी।

उत्तराधिकार इसलिए होता है, क्योंकि एक क्षेत्र में मौजूद पर्यावरणीय परिस्थितियां समय के साथ बदल जाती हैं। एक विशिष्ट पर्यावरणीय परिस्थिति में दूसरी प्रजातियों के साथ रहने के लिए एक प्रजाति को बदलाव अपनाने पड़ते हैं। अगर परिस्थितियों में परिवर्तन होता है, तो वर्तमान प्रजातियों की जगह वे नई प्रजातियां ले लेंगी, जो नई परिस्थितियों को ग्रहण करने में सक्षम होंगी।

एक पारिस्थितिकी समुदाय में प्रजातियों की संरचना के रूपांतरण की प्रक्रिया का अनुसरण ही पारिस्थितिक उत्तराधिकार है। एक समुदाय में कुछ प्रजातियां समय के अनुसार हो सकता है कम हो जाएं या फिर पूरी तरह विलुप्त ही हो जाएं। वहीं दूसरी प्रजाति प्रचुर मात्रा में हो सकती है या फिर कुछ नई प्रजातियां भी समुदाय में निकटस्थ पारिस्थितिकी तंत्र से आ सकती हैं।

प्रजातियों को विकास और प्रजनन के लिए कुछ विशेष पर्यावरणीय परिस्थितियों की जरूरत होती है। जो प्रजातियां अच्छे ढंग से जीवित रहती हैं और विकास व प्रजनन करती हैं, वे ही प्रचुर मात्रा में मिलने वाले जीव बन जाती हैं।

पारिस्थितिक तंत्र की पर्यावरणीय परिस्थितियां जब तक समान रहती हैं तब तक वे प्रजातियां जो इन परिस्थितियों के सबसे ज्यादा अनुकूल हैं, उनकी तादाद बढ़ जाती है।

टिप्पणी

पारिस्थितिक तंत्र में बदलाव का सबसे बड़ा कारण प्रजातियों द्वारा पर्यावरण पर डाले जाने वाले प्रभाव हैं। अपने जीवन के दौरान जीव कुछ समय के बाद अपना पर्यावरण बदल लेते हैं। हो सकता है कि वर्तमान पर्यावरण जानवरों या पौधों की कुछ प्रजातियों के लिए आदर्श हो वहीं दूसरी ओर नया पर्यावरण भी कुछ अन्य प्रजातियों के लिए सर्वोत्तम हो सकता है। बदली हुई परिस्थितियों में पहले वाली प्रजातियों के क्षीण होने और अन्य प्रजातियों के ताकतवर होने की संभावना होती है।

मौसम में परिवर्तन के कारण पारिस्थितिक उत्तराधिकार अल्पावधि का हो सकता है। उदाहरण के लिए गर्मी में हमारे पास का मैदान सूखा होता है और यह कवकों और चींटियों जैसे छोटे जीवों का घर हो सकता है। परंतु बरसात के मौसम में यह पानी से भर जाता है और दूसरे पौधों और जीवों जैसे शैवाल, मच्छरों, छोटी मछलियों आदि का निवास स्थान बन जाता है। जैसे ही बरसात का मौसम जाता है तो मैदान फिर सूख जाता है और इसकी मूल प्रजातियां वापस इस पर रहने को आ जाती हैं।

पारिस्थितिक उत्तराधिकार, एक पर्यावरण में आकस्मिक और तेजी से परिवर्तन के कारण भी हो सकता है। बाढ़, जंगल की आग, अंधड़ और मानवीय क्रियाकलाप जैसे खेती आदि भी पर्यावरण परिस्थितियों को तेजी से बदलते हैं। ये विध्वंसक ताकतें कुछ प्रजातियों का उन्मूलन कर सकती हैं और समुदाय की गतिक में कुछ गैर-प्रतिवर्ती बदलाव ला सकती हैं। इन बदलावों के कारण वहां रहने वाली प्रजातियों के लिए जिंदा रहने का संघर्ष शुरू हो जाता है।

1.5.1 एक पारिस्थितिकी प्रणाली के घटक

वातावरण में मौजूद सभी जीव पुनरावृत्ति करने के लिए जैविक घटक होते हैं। एक पारिस्थितिकी तंत्र में प्रजातियों के बीच संबंध प्राय: भोजन और भोजन शृंखला में उनकी भूमिका से संबंधित होते हैं। इस तरह पोषण संबंधी (भोजन निर्माण और भोजन निर्भरता) जैविक घटकों को हम निम्न भागों में बांट सकते हैं–

(क) उत्पादक या स्वपोषी अवयव

(ख) उपभोक्ता या परपोषी अवयव।

उत्पादक या स्वपोषी घटक

स्वपोषी अवययों में हरे पौधे, संश्लेषक बैक्टीरिया, रसायन संश्लेषी रोगाणु आदि शामिल हैं, जो उत्पादक नाम से जाने जाते हैं। इनका मुख्य कार्य निर्जीव जीवों से ऊर्जा अवशोषित कर इसे सभी जीवित जीवों को उपलब्ध कराना है। नि:संदेह हरे पौधे मुख्य उत्पादक हैं। पौधों में एक हरे रंग का द्रव्य क्लोरोफिल होता है जो सौर ऊर्जा को अवशोषित कर लेता है और इसे पानी और कार्बन डाइऑक्साइड जैसे अकार्बनिक और एंजाइम जैसे जैविक पदार्थों की सहायता से रसायन ऊर्जा में परिवर्तित कर देता है। इस प्रक्रिया को प्रकाश संश्लेषण कहते हैं। इन स्वपोषियों को फोटो स्वपोषी भी कहते हैं क्योंकि ये प्रकाश ऊर्जा का उपयोग करते हैं। पौधों द्वारा उत्सर्जित ऑक्सीजन का प्रयोग सभी जीवित जीव श्वसन के लिए करते हैं।

दूसरी तरह के स्वपोषियों को कीमो स्वपोषी कहते हैं, ये ऑक्सीकरण ह्रास प्रक्रिया में उत्पन्न हुई ऊर्जा का प्रयोग करते हैं। सल्फर बैक्टिरिया जैसे सूक्ष्मजीव इसके उदाहरण

टिप्पणी

हैं। हालांकि एक पारिस्थितिकी तंत्र में कीमो स्वपोषियों की उत्पादक के रूप में भूमिका न्यूनतम ही होती है।

उपभोक्ता और अपघटितकर्ता या परपोषी अवयव

परपोषी अवयय वे जीवित जीव हैं, जो अपना भोजन खुद बनाने में अक्षम हैं परंतु ये स्वपोषी घटकों द्वारा बनाई गई जटिल भोजन सामग्री को खा सकते हैं या अपघटित कर सकते हैं। परपोषी दो तरह के हैं-

(क) उपभोक्ता

(ख) अपघटितकर्ता या परिवर्तक

(क) उपभोक्ता

उपभोक्ता वे जीवित जीव हैं जो उत्पादकों द्वारा बनाए भोजन को खाते हैं। इनकी भोजन संबंधी आदतों के कारण इन्हें तीन भागों में बांटा जाता है-

(अ) प्राथमिक उपभोक्ता : ये वे जीव हैं जो हरे पौधों को सीधे तौर पर खाते हैं और ये वनस्पतिजीवी होते हैं, जैसे- गाय, हिरण, हाथी और तितली जैसे कीट।

(आ) द्वितीयक उपभोक्ता : ये प्राथमिक उपभोक्ता को खाते हैं और ये पूर्ण मांसाहारी हो सकते हैं या सर्वभक्षी, जैसे- विषधर मेढक, छिपकली और छोटे पक्षी आदि।

(इ) तृतीय उपभोक्ता : वे जो द्वितीयक और प्राथमिक दोनों ही उपभोक्ताओं को खाते हैं, तृतीय उपभोक्ता कहलाते हैं। ये मांसाहारी, सर्वभक्षी और वनस्पतिजीवी तीनों से ही भोजन प्राप्त करते हैं, जैसे- शेर, चीता, सांप, मोर, बड़ी मछलियां और चील आदि।

(ख) अपघटितकर्ता या परिवर्तक

अपघटितकर्ता परपोषी जीव होते हैं परंतु ये खाने के लिए मरे हुए जीवों पर निर्भर रहते हैं। ये मुख्यत: सूक्ष्मजीव जैसे बैक्टीरिया और कवक होते हैं। कुछ अकशेरुकी जानवर जैसे प्रोटोजोवा (अमीबा), एंटअमीबा और केंचुआ आदि मृत जीवों को अपघटित कर अपना भोजन प्राप्त करते हैं और इसलिए इनको परिवर्तक कहते हैं।

अपघटितकर्ता उत्पादकों और उपभोक्ताओं के शरीर पर हमला करते हैं और जटिल कार्बनिक पदार्थों को घटाकर साधारण पदार्थों में बदल देते हैं। फिर परिवर्तक इन साधारण जैविक पदार्थों को इनके अकार्बनिक रूप में परिवर्तित कर देते हैं। फिर इन अकार्बनिक पदार्थों को पौधे जड़ों के माध्यम से अवशोषित कर लेते हैं। अपघटितकर्ता और परिवर्तक बहुत ही महत्वपूर्ण सूक्ष्मजीव हैं, जो पारिस्थितिकी तंत्र में गतिशील संतुलन बनाए रखते हैं।

1.5.2 पारिस्थितिकी तंत्र की संरचना

किसी भी पारिस्थितिकी तंत्र की दो प्रमुख संरचनागत विशेषताएं होती हैं- इसकी प्रजाति संरचना और स्तर विन्यास। किसी भी पारिस्थितिकी तंत्र की संरचना उसके उत्पादक-उपभोक्ता संबंध के जरिए परिभाषित की जा सकती है। इसे पारिस्थितिकी तंत्र की पौष्टिकता संरचना भी कहते हैं, जहां प्रत्येक जीवआबादी विविध पौष्टिकता स्तर का गठन करती है।

टिप्पणी

उत्पादक (हरे पौधे) पहला पौष्टिक स्तर हैं। उत्पादक को खाने वाले शाकाहारी पौष्टिकता के दूसरे स्तर का निर्माण करते हैं और इसके बाद द्वितीयक उपभोक्ता, तृतीयक उपभोक्ता और इसी प्रकार शृंखला चलती रहती है। पारिस्थितिकी तंत्र की पौष्टिकता संरचना को पोषक तत्वों की कुल मात्रा अथवा सजीव पदार्थों की कुल मात्रा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। किसी भी दिए गए समय पर मिट्टी में उपलब्ध पोषक तत्वों की मात्रा को खड़ी अवस्था कहते हैं, जबकि सजीव पदार्थों की संख्या को खड़ी फसल कहते हैं।

निर्जीव (अजैव) कारक पर्यावरण की भौतिक और रासायनिक विशेषताएं होती हैं। इनमें सौर ऊर्जा (सूर्य की रोशनी की मात्रा), ऑक्सीजन, कार्बन डाइऑक्साइड, पानी, तापमान, आर्द्रता, पीएच स्तर और नाइट्रोजन की उपलब्धता शामिल हैं। पर्यावरण के सजीव (जैविक) घटकों में वे सभी जीवित चीजें शामिल हैं जो कि एक जीव को प्रभावित करती हैं। वे उत्पादक, उपभोक्ता और विघटक हैं। एक पारिस्थितिकी तंत्र की संरचना चित्र के अनुसार दर्शाई जा सकती है।

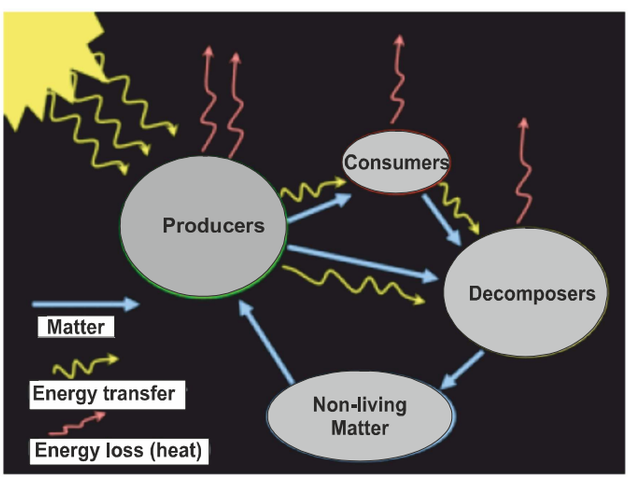

Figure *Structure of an Ecosystem*

पारिस्थितिकी तंत्र के कार्य

ऑक्सीजन चक्र

सभी सजीव प्राणियों को अपनी जीवित कोशिकाओं में ऊर्जा उत्पन्न करने के लिए ऑक्सीजन की जरूरत होती है।

पौधे ऑक्सीजन चक्र के आरंभिक बिंदु हैं। वे सूर्य की किरणों का प्रयोग कार्बन डाइऑक्साइड और पानी से ऑक्सीजन बनाने में करते हैं और प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया से कार्बोहाइड्रेट बनाते हैं।

$$\underset{\text{कार्बनडाइआक्साइड}}{6CO_2} + \underset{\text{जल}}{6H_2O} + \underset{\text{ऊर्जा}}{\text{Energy}} \xrightarrow[\text{प्रकाशसंश्लेषण}]{\text{Photosynthesis}} \underset{\text{ग्लूकोस}}{C_6H_{12}O_6} + \underset{\text{आक्सीजन}}{6O_2}$$

इसका अर्थ है कि पौधे कार्बन डाइऑक्साइड ग्रहण करते हैं और ऑक्सीजन छोड़ते हैं (चित्र)। इसीलिए अगर भविष्य में जंगल कट गए तो हमारे वायुमंडल में भी

ऑक्सीजन की कमी हो जाएगी। यह हमारी जिंदगी से जुड़ा सवाल है, इसलिए सभी को वनीकरण को बढ़ावा देने में योगदान देना चाहिए। ऑक्सीजन चक्र का दूसरा भाग सभी जानवरों और मानवों द्वारा पूरा होता है। हम ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं। ऑक्सीजन का प्रयोग हम श्वसन प्रणाली के द्वारा कार्बोहाइड्रेट्स को ऊर्जा में बदलने के लिए करते हैं।

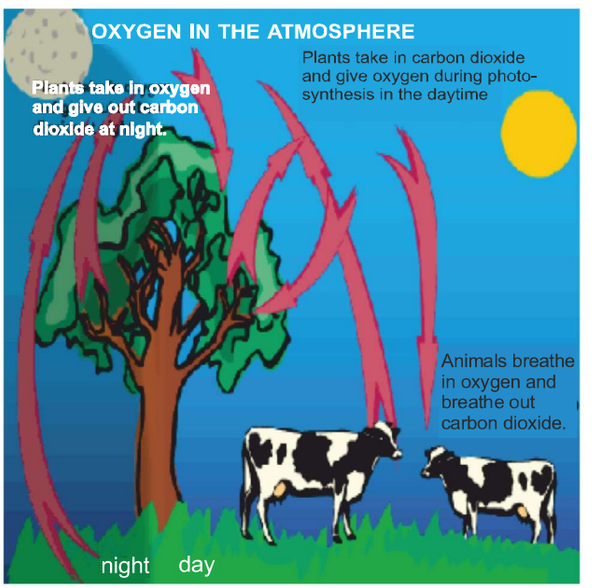

O_2 + carbohydrates $CO_2 + H_2O$ + energy

Figure *Oxygen Cycle*

इस तरह श्वसन प्रक्रिया के दौरान जानवर कार्बन डाइऑक्साइड का उत्सर्जन करते हैं। इस तरीके से पौधे ऑक्सीजन बनाते हैं जिसका प्रयोग जानवर और मनुष्य करते हैं। हालांकि ऑक्सीजन चक्र जितना सरल लगता है उतना है नहीं। यह बहुत जटिल है। पौधों को भी जानवरों की तरह कार्बोहाइड्रेट्स को तोड़कर ऊर्जा बनानी होती है। दिन के समय पौधे प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया से बनाई गई ऑक्सीजन अपने पास रख लेते हैं जिसका प्रयोग वे कार्बोहाइड्रेट्स को तोड़ने के लिए करते हैं। अपने उपापचय और रात को लगातार श्वसन के लिए हवा से ऑक्सीजन सोखने और कार्बन डाइऑक्साइड छोड़ने की आवश्यकता पड़ती है।

पानी में ऑक्सीजन

पौधे रात को जितनी ऑक्सीजन सोखते हैं, उससे दस गुना ज्यादा ऑक्सीजन वे दिन के समय छोड़ते हैं। पौधों द्वारा रात को ऑक्सीजन सोखने के कारण कहीं-कहीं पानी में ऑक्सीजन की कमी हो जाती है। पानी में मौजूद ऑक्सीजन को विलीन ऑक्सीजन कहते हैं। पानी में मौजूद जीवों द्वारा जिस दर से ऑक्सीजन का प्रयोग किया जाता है उसे तेज दर कहते हैं। पानी में जीव ऑक्सीजन का निरंतर प्रयोग करते हैं और हवा के द्वारा पानी में लगातार ऑक्सीजन घुलती रहती है, इसलिए पानी में ऑक्सीजन की मात्रा काफी स्थिर रहती है। एक स्वस्थ पारिस्थितिकी तंत्र में पानी में ऑक्सीजन के घुलने और उसके प्रयोग की दर में संतुलन बना रहता है।

टिप्पणी

कार्बन चक्र

कार्बन चक्र एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें सभी कार्बन परमाणु बारी-बारी से अस्तित्व में रहते हैं। उदाहरण के लिए बहुत साल पहले जल चुकी लकड़ी कार्बन डाइऑक्साइड पैदा कर चुकी होगी। वही कार्बन डाइऑक्साइड प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया के द्वारा किसी पौधे का हिस्सा बन सकती है। जो भी उस पौधे को खाएगा, वह वही कार्बन (जली हुई लकड़ी से पैदा हुई) ग्रहण करेगा और वह उसका हिस्सा बन जाएगी। इस तरह कार्बन चक्र कार्बन परमाणुओं का प्राकृतिक पुनर्चक्रण है।

कार्बन चक्र बनाने में पौधे, जानवर, भूमि और पर्यावरण भूमिका निभाते हैं। कार्बन चक्र में पौधे कार्बन डाइऑक्साइड को जलवायु से सोखते हैं और पानी भूमि से लेते हैं। इन दोनों का प्रयोग वे कार्बोहाइड्रेट्स का निर्माण करने में करते हैं जिसकी जरूरत पौधों को अपने विकास के लिए होती है। प्रकाश संश्लेषण की यह प्रणाली कार्बन के परमाणुओं को कार्बन डाइऑक्साइड से शर्करा में बदल देती है।

$$6CO_2 + 6H_2O \xrightarrow{\text{Photosynthesis}} C_6H_{12}O_6 + 6O_2$$

वनस्पतिजीवी जानवर पौधों को खाते हैं और कार्बन का प्रयोग ऊतकों के निर्माण के लिए करते हैं। मांसाहारी जीव वनस्पतिजीवी जीवों को खाते हैं और कार्बन को अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए ग्रहण करते हैं। दोनों, जीव और पौधे वापस कार्बन डाइऑक्साइड हवा में सांस के द्वारा और अपशिष्ट के रूप में छोड़ देते हैं। जब पौधे और जीव मरते हैं तो कार्बन भूमि में चली जाती है क्योंकि सूक्ष्मजीव इनके मृत शरीरों को खा जाते हैं और अपघटन के माध्यम से कार्बन भूमि में मिल जाती है। भूमि में मौजूद कार्बन को कोई नया उगा पौधा या सूक्ष्मजीव अवशोषित कर लेता है। अंत में वही कार्बन परमाणु कई छोटे सूक्ष्मजीवों के माध्यम से यात्रा कर सकता है।

नाइट्रोजन चक्र

नाइट्रोजन जीवों में मौजूद एमीनो अम्ल, न्यूलिक एसिड, वसा और प्रोटीन का एक प्रमुख घटक है। नाइट्रोजन फिक्सिंग बैक्टिरिया को छोड़कर अन्य जीव वातावरण से सीधे मौलिक नाइट्रोजन नहीं ले सकते। पौधे केवल नाइट्रेट (NO_3) के रूप में ही नाइट्रोजन ग्रहण करते हैं। नाइट्रोन का नाइट्रेट के रूप में स्थिरीकरण दो तरीकों से होता है-

(क) गैर जैविक विधि: इसमें गरज और बिजली मौलिक नाइट्रोजन को केवल कुछ प्रतिशत ही नाइट्रेट में बदलते हैं।

(ख) जैविक विधि: इस विधि में मौलिक नाइट्रोजन सहजीवी और गैर-सहजीवी बैक्टिरिया और कुछ अन्य सूक्ष्मजीवों जैसे नीली हरी शैवाल द्वारा नाइट्रेट में परिवर्तित की जाती है। जैविक विधि में नाइट्रोजन स्थिरीकरण गैर जैविक विधि से 20 गुना ज्यादा होता है।

इस तरह बने नाइट्रेट का प्रयोग पौधे एमिनो एसिड, न्यूक्लिक एसिड और प्रोटीन का संश्लेषण करने के लिए करते हैं। वनस्पतिजीवी पौधे खाते हैं और पौधे में मौजूद एमिनो एसिड और प्रोटीन को अपने ऊतकों में जमा करते हैं। मौत के बाद पौधों और जीवों के शरीर को बहुत से बैक्टिरिया अपघटित करते हैं और इससे अमोनिया उत्सर्जित होती है। इस प्रक्रिया को एमोनीकरण कहते हैं। अमोनिया वातावरण में भी जा सकती है और यह भूमि में भी मौजूद रह सकती है।

टिप्पणी

एक प्रकार का बैक्टीरिया अमोनिया को नाइट्राइट (NO_2-) में और बाद में एक अन्य बैक्टीरिया इसे नाइट्रेट (NO_3-) में परिवर्तित कर देते हैं। इस प्रक्रिया को नाइट्रीकरण कहते हैं।

इस तरह बनी नाइट्रेट (NO_3-) भूमि में अनाक्सीय परिस्थितियों में कुछ लौह और सल्फर बैक्टिरिया के द्वारा नाइट्रोजन और अमोनिया में परिवर्तित कर दी जाती है। इस प्रक्रिया को अनाइट्रीकरण कहते हैं। इस प्रक्रिया में एक अन्य गैस भी उत्पन्न होती है जिसे नाइट्रस ऑक्साइड कहते हैं (N_2O)। नाइट्रस ऑक्साइड, जिसे हंसी गैस भी कहते हैं, एक हल्की चेतना शून्य करने वाली दवा भी है। यह एक ग्रीनहाउस गैस है जो ग्लोबल वार्मिंग में योगदान देती है।

1.5.3 कार्यप्रणाली ऊर्जा प्रवाह

एक पारिस्थितिकी तंत्र के विभिन्न अवययों के बीच ऊर्जा के प्रपांतरण को ऊर्जा प्रवाह कहते हैं। एक पारिस्थितिकी तंत्र में ऊर्जा प्रवाह हमेशा एक दिशा में होता है। भोजन बनाने और इसे रसायन ऊर्जा के रूप में रखने के लिए पौधे अपने हरे रंग के द्रव्य क्लोरोफिल की मदद से सौर ऊर्जा को पकड़ते हैं और कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2) और पानी (H_2O) को अन्य पोषक तत्वों की सहायता से जटिल खाद्य पदार्थों में बदल देते हैं। यह प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया के द्वारा किया जाता है और इसे प्राथमिक उत्पादन कहते हैं।

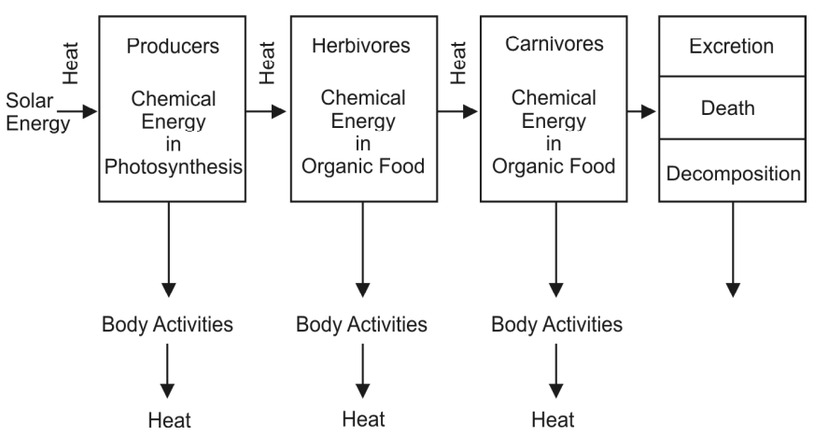

Figure *Energy Flow in an Ecosystem*

पौधों द्वारा जितनी सौर ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा में बदला जाता है उसे सकल प्राथमिक उत्पादन (जीपीपी) कहा जाता है। जीपीपी के कुछ अंश का प्रयोग पौधों द्वारा अपनी विभिन्न चयापचय गतिविधियों (मुख्यत: श्वसन, एमए) के लिए किया जाता है बाकि बची को शुद्ध प्राथमिक उत्पादन (एपीपी) कहा जाता है। इस प्रकार,

जीपीपी = एनपीपी + एमए

जब

(क) जीपीपी = एमए, हो तो ऊर्जा सामग्री में कोई परिवर्तन नहीं होता (एनपीपी = 0)

(ख) जीपीपी < एमए, हो तो एमपीपी नकारात्मक हो जाती है, अर्थात जैव भार में गिरावट आ जाती है।

(ग) जीपीपी > एमए, हो तो एमपीपी सकारात्मक हो जाती है अर्थात जैव भार का संचय हो जाता है।

टिप्पणी

पारिस्थितिकी में प्राथमिक उत्पादन बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह वह ऊर्जा है जो पौधे सौर ऊर्जा को भोजन में रासायन ऊर्जा के रूप में स्थिर करते हैं जो कि जीवन की सहायता करती है।

जब शाकाहारी स्वपोषी पौधों को भोजन के रूप में खाते हैं तो उसमें से कुछ भाग आत्मसात किया जाता है और कुछ खाया जाता है। आत्मसात किए भोजन का कुछ भाग ही ऊर्जा को भोजन की रासायन ऊर्जा के रूप में भंडारित कर लिया जाता है। श्वसन के द्वारा ऑक्सीकरण होता है। कार्बन-कार्बन बांड टूटते हैं और कार्बन ऑक्सीजन के साथ जुड़कर कार्बन डाइऑक्साइड बनाते हैं और गतिजन्य ऊर्जा उत्सर्जित करते हैं। ऊर्जा के बड़े हिस्से का प्रयोग जीव काम करने के लिए करते हैं और बाकी का भाग गर्मी के रूप में उड़ जाता है।

$$C_6H_{12}O6 + O2 \rightarrow CO2 + H2O + \text{Kinetic energy}$$

ऊर्जा उपयोग करने की कुशलता जीवधारी से जीवधारी और एक ही प्रजाति के जीवधारियों में अलग-अलग हो सकती है। यह जीवधारी की शारीरिक संरचना और उम्र पर निर्भर करती है। आत्मसात की गई ऊर्जा दैहिक और पुनरुत्पादक ऊतकों में विकास और पुनरुत्पति के लिए संचित की जाती है।

परपोषी जीवधारियों द्वारा उत्पादित पदार्थों को द्वितीयक उत्पादन कहते हैं। पौधों की जितनी सामग्री परपोषी जीवधारियों (शाकाहारियों) द्वारा खाई और अपने शरीर में भंडारित की जाती है उसे सकल द्वितीयक उत्पादन कहते हैं और उपापचयी प्रक्रियाओं के बाद (मुख्यत: श्वसन) आत्मसात किए गए भोजन (ऊर्जा) के बाकी हिस्से को शुद्ध द्वितीयक उत्पादन कहते हैं।

जब मांसाहारी शाकाहारियों को खाते हैं तो ऊर्जा का और ह्रास होता है। इसी तरह जब मांसाहारियों (द्वितीयक उपभोक्ता) को शीर्ष मांसाहारी (तृतीय उपभोक्ता) खाते हैं तो ऊर्जा का और भी ह्रास होता है। इस तरह तंत्र के हर स्तर पर ऊर्जा का ह्रास होता रहता है। चित्र से पारिस्थितिकी तंत्र के विभिन्न घटकों को समझा जा सकता है।

1.5.4 खाद्य शृंखला

हरे पौधे सौर ऊर्जा को पानी, कार्बन डाइऑक्साइड जैसे अकार्बनिक पदार्थों और कुछ पोषक तत्वों की सहायता से रासायनिक ऊर्जा में बदल देते हैं और इन्हें भोजन सामग्री के रूप में संग्रहित करके रखते हैं। पौधे इसका प्रयोग अपने जीवन के लिए करते हैं और पौधों को शाकाहारी जीव खाते हैं। शाकाहारियों को मांसाहारी अपना भोजन बनाते हैं और मांसाहारियों को सर्वभक्षी खाते हैं। इस प्रक्रिया में जीवन का एक प्रकार दूसरे प्रकारों की सहायता करता है। दूसरे शब्दों में भोज्य ऊर्जा का उत्पादकों से कई जीवों की शृंखला (शाकाहारी, मांसाहारी और अपघटितकर्ता) के द्वारा बार-बार खाकर हस्तांतरण को भोजन या खाद्य शृंखला कहते हैं।

टिप्पणी

एक खाद्य शृंखला को निम्नलिखित तरीके से चित्रित कर सकते हैं-

पौधे	शाकाहारी	मांसाहारी (मांसाहारी 1)	सर्वभक्षी (मांसाहारी 2)

उदाहरण के लिए एक टिड्डा घास खाता है और उसको मेढक अपना शिकार बनाता है। मेढक से सांप अपना पेट भरता है। आइए अब विभिन्न पारिस्थितिकी तंत्रों की खाद्य शृंखला के उदाहरणों को देखते हैं-

चारागाह पारिस्थितिकी तंत्र

घास → टिड्डा → पक्षी → आदमी → चीता

वन्य पारिस्थितिकी तंत्र

पौधे → हिरण → शेर

तालाब पारिस्थितिकी तंत्र

पादप प्लवक → छोटी मछली → बड़ी मछली → मगरमच्छ

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि पिछले ट्रोफिक लेवल की केवल दस फीसदी संभावित ऊर्जा ही अगले ट्रोफिक लेवल को मिलती है। इस तरह किसी खाद्य शृंखला की दक्षता मौजूद ट्रोफिक लेवलों की संख्या या उनके संबंधों पर निर्भर करती है। इस तरह जितनी छोटी खाद्य शृंखला होगी, उतनी ही ज्यादा ऊर्जा उपलब्ध होगी।

1.5.5 खाद्य जाल

प्रकृति में खाद्य शृंखला संबंध बहुत जटिल होते हैं। उन्हें पृथक दृश्यों के रूप में कभी नहीं देखा जा सकता क्योंकि एक जीव बहुत से जीवों के भोजन स्रोत की रचना कर सकता है। इसलिए एक खाद्य शृंखला के बजाय बहुत सी खाद्य शृंखलाएं आपस में जुड़ी होती हैं और एक जाल जैसी संरचना बनाती हैं, जिसे खाद्य जाल कहा जाता है।

उदाहरण के लिए घास को टिड्डे और खरगोश आदि खाते हैं और इनको बहुत से मांसाहारी जैसे पक्षी, सांप, लोमड़ी आदि अपना भोजन बनाते हैं। इस प्रकार कोई जीव हर खाद्य शृंखला में समान ट्रोफिक लेवल हासिल नहीं कर सकता। वह जीव द्वितीयक, तृतीय या उपभोक्ता की भूमिका में हो सकता है। जिन जीवों का भोजन समान चरणों में पौधों से आता है उन्हें समान अनुवर्ती स्तर (ट्रोफिक लेवल) कहा जाता है। इस तरह पौधे प्रथम अनुवर्ती स्तर या उत्पादक स्तर प्राप्त करते हैं। पौधे खाने वाले द्वितीय अनुवर्ती स्तर या उपभोक्ता स्तर या फिर शाकाहारी स्तर (सारे पौधे खाने वाले कीट-पतंगे, पशु, हिरण आदि) पाते हैं।

मांस खाने वाले जो शाकाहारियों को खाते हैं, वे तीसरा अनुवर्ती स्तर बनाते हैं या द्वितीयक उपभोक्ता या मांसाहारी स्तर बनाते हैं। तीसरा अनुवर्ती चरण तृतीयक उपभोक्ता या मांसाहारियों का है जो मांसाहारियों और शाकाहारियों को खाते हैं और ये द्वितीयक उपभोक्ता हैं। इसी अंदाज में खाद्य शृंखला जीवों की भोज्य आदतों के अनुसार बढ़ती जाती है।

एक खाद्य शृंखला में पांच से ज्यादा कड़ियां मिलना आमतौर पर नामुमकिन है क्योंकि ऊर्जा हस्तांतरण के हर स्तर पर ऊर्जा का ह्रास होता है। ऊर्जा हस्तांतरण तंत्र ही किसी खाद्य शृंखला में संबंधों की संख्या को निश्चित करता है।

टिप्पणी

खाद्य जाल पारिस्थितिक तंत्र में स्थिरता बनाए रखता है। उदाहरण के लिए चारागाह में बहुत से जीव जैसे कीट-पतंगे, खरगोश, जानवर आदि चरते हैं। कीट-पतंगे मेढकों का भोजन बन सकते हैं और मेढक सांप का या फिर बड़ी मछलियों का। इस तरह प्रकृति के पास बहुत से विकल्प होते हैं पारिस्थितिकी तंत्र को स्थिर रखने के।

चारागाह पारिस्थितिकी तंत्र के खाद्य जालों के उदाहरण निम्नलिखित हैं-

घास → टिड्डा → मेढक → सांप → गिद्ध

घास → चूहा → सांप → गिद्ध

घास → चूहा → गिद्ध

जब खाद्य जाल बनाने वाली खाद्य शृंखला के संबंध मानवीय क्रियाकलापों या पारिस्थितिकी बदलावों से टूट जाते हैं या बाधित हो जाते हैं, तो इससे कुछ पौधे या जानवरों की प्रजातियां विलुप्त हो सकती है और खाद्य जाल टूट सकता है।

1.5.6 पारिस्थितिक पिरामिड तथा प्रकार

पारिस्थितिक पिरामिड की अवधारणा का प्रतिपादन चार्ल्स एल्टन ने 1972 में किया था। पारिस्थितिक पिरामिड किसी पारिस्थितिकी तंत्र के प्रत्येक अनुवर्ती स्तर के आंकड़ों का आरेखी प्रस्तुतीकरण है। पिरामिड में उत्पादक स्तर आधार बनाता है और उत्तरोत्तर स्तर परतों का निर्माण करते हैं जिनसे शीर्ष बनता है। पारिस्थितिकी तंत्र में जितने ऊंचे स्तर होते हैं, उतने ही कम संख्या वैयक्तिकों की होती है।

पारिस्थितिक पिरामिड तीन तरह के होते हैं-

1. संख्यात्मक पिरामिड
2. बायोमास के पिरामिड
3. ऊर्जा पिरामिड

पारिस्थितिकी तंत्र के विभिन्न प्रकार

एक पारिस्थितिकी तंत्र एक विशिष्ट परिदृश्य स्वरूप जैसे कि वन, घास के मैदान, मरुस्थल इत्यादि के साथ चिह्नित करने लायक क्षेत्र है।

पारिस्थितिकी तंत्र दो प्रकार के होते हैं-

प्राकृतिक पारिस्थितिकी तंत्र : ये तालाब, समुद्र, वन, घास के मैदान, मरुस्थल जैसे पारिस्थितिकी तंत्र होते हैं। मनुष्य के बहुत ज्यादा प्रत्यक्ष हस्तक्षेप और छेड़छाड़ के बिना ये तंत्र स्व-विनियमित होते हैं। प्राकृतिक पारिस्थितिकी तंत्र आगे दो प्रकार के होते हैं- (क) स्थलीय (भूमि-आधारित) और (ख) जलीय (जल-आधारित)।

कृत्रिम पारिस्थितिकी तंत्र : कस्बे, शहर और खेत जैसे पारिस्थितिकी तंत्र मनुष्य द्वारा बनाए गए होते हैं और इसलिए इन्हें कृत्रिम पारिस्थितिकी तंत्र कहा जाता है।

हालांकि, यहां पर यह समझना काफी महत्वपूर्ण है कि प्राकृतिक और कृत्रिम पारिस्थितिकी तंत्रों के बीच निरंतर पारस्परिक क्रिया होती रहती है (चित्र)।

टिप्पणी

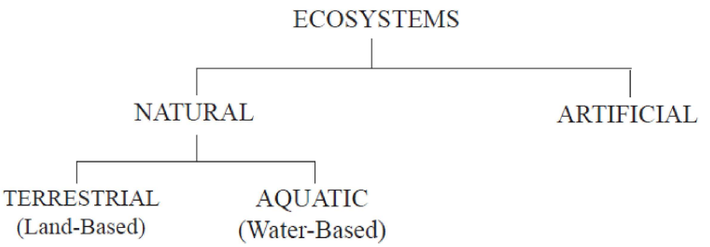

Figure *Types of Ecosystems*

थलीय पारिस्थितिकी तंत्र

ये केवल भूमि के स्वरूप में ही पाये जाते हैं। जलीय तंत्र से ये इस प्रकार भिन्न हैं कि इनके पास पानी की उपलब्धता कम होती है और इस प्रकार पानी एक सीमित करने वाला कारक बन जाता है। वहीं, दूसरी तरफ इसमें तापमान में भारी बदलाव होता रहता है और चूंकि वायुमंडल पानी से ज्यादा पारदर्शी है, इसलिए इनमें रोशनी भी प्रचुर मात्रा में होती है। जलीय पारिस्थितिकी तंत्र की तुलना में ऑक्सीजन, कार्बन डाइऑक्साइड और नाइट्रोजन जैसी गैसें स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र में ज्यादा उपलब्ध होती हैं।

स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र धरती की सतह के महज 28.2 प्रतिशत हिस्से पर हैं। इससे कहीं ज्यादा स्थान जलीय पारिस्थितिकी तंत्रों ने घेरा हुआ है। अगर जीवन के इतिहास की तुलना करें तो स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र की आयु काफी कम है। पहला स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र 425 मिलियन वर्ष पहले दिखाई दिया था। स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र में पौधों, पेड़ों, कीड़ों, पक्षियों और स्तनधारियों की लाखों प्रजातियां रहती हैं।

अब हम विभिन्न प्रकार के स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्रों को देखेंगे।

वनीय पारिस्थितिकी तंत्र

वन भूमि का एक बड़ा क्षेत्र होता है जो कि घने पेड़ों से ढंका होता है। इसमें एक विशिष्ट समूह के जानवर रहते हैं जो कि इस वन में जीने के प्रति अनुकूलन कर चुके हैं। वनीय पारिस्थितिकी तंत्र में जीवन का घनत्व काफी उच्च होता है, क्योंकि अधिकतर वनस्पति (पौधे) और जीव-जंतु (जानवर) तुलनात्मक रूप से छोटे क्षेत्रों में रहते हैं। इसलिए पारिस्थितिकी तंत्र में होने वाला एक छोटा-सा बदलाव भी पूरे संतुलन को बुरी तरह प्रभावित कर सकता है। और तो और पारिस्थितिकी तंत्र नष्ट भी हो सकता है।

पृथ्वी की 40 प्रतिशत भूमि पर वन हैं। भारत में कुल भूमि के दसवें हिस्से पर वन हैं।

अपनी अजैव परिस्थितियों के आधार पर वन विभिन्न प्रकारों में वर्गीकृत किए जाते हैं। अजैव घटकों में वातावरण और मिट्टी में पाये जाने वाले कार्बनिक और अकार्बनिक दोनों ही पदार्थ शामिल होते हैं। जैसे कार्बन डाइऑक्साइड, पानी, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन और कार्बोहाइड्रेट्स, प्रोटीन और लिपिड मृत कार्बनिक मलबे में पाये जाते हैं जो कि मिट्टी के ही एक स्वरूप का निर्माण करता है (चित्र)। इन गुणधर्मों के आधार पर वनों को निम्नलिखित प्रकारों में विभाजित किया जाता है-

टिप्पणी

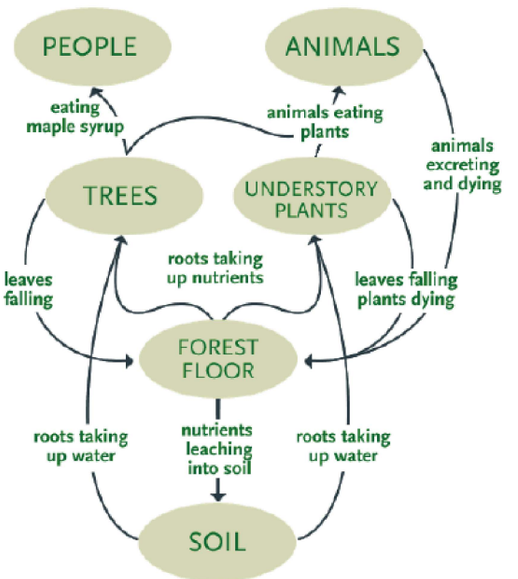

Figure *Forest Ecosystems*

ऊष्णकटिबंधीय सदाबहार वन : इन वनों में हर साल 80 से 400 इंच तक औसत वर्षा होती है। इनकी विशेषता घनी वनस्पति और लंबे पेड़ हैं, जो कि विभिन्न प्रकार के जानवरों को आश्रय देते हैं।

ऊष्णकटिबंधीय पर्णपाती वन : इनमें घने झाड़ झंखाड़ और लंबे पेड़ होते हैं। ये वन विश्व के कई भागों में पाये जाते हैं।

शीतोष्ण सदाबहार वन : इन वनों में पेड़ों की मोटी चादर नहीं होती है। यहां फर्न और मोजेज प्रमुखता से होते हैं। स्वेद को न्यूनतम करने के लिए पेड़ बालीदार पत्तियों से युक्त होते हैं।

समशीतोष्ण पर्णपाती वन : ये वन पर्याप्त वर्षा वाले नम समशीतोष्ण क्षेत्रों में पाये जाते हैं। सर्दियों के दौरान पेड़ अपने पत्ते गिरा देते हैं।

टैगा : आर्कटिक क्षेत्र के दक्षिणी छोर पर स्थित टैगा सदाबहार शंकुवृक्षों द्वारा प्रतिष्ठित है। साल के छह महीने तक यहां पर तापमान लगभग उप शून्य रहता है। वर्ष के बाकी दिनों में यहां कीड़े और प्रवासी पक्षी रहते हैं।

वनीय पारिस्थितिकी तंत्र कीड़ों, पक्षियों, अरचिन्ड और स्तनधारियों को आश्रय एवं जीने लायक परिस्थितियां प्रदान करता है। यही मिल कर इसके जैविक घटक का निर्माण करते हैं। छोटे से छोटा जीव और पौधा भी वनीय पर्यावरण की संरचना के लिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि ये खाद्य शृंखला का हिस्सा होते हैं। पेड़, झाड़-झंखाड़, फफूंद, घास अथवा फूलों की संख्या इन्हें भोजन के स्रोत के तौर पर प्रयोग करने वाले जानवरों अथवा कीड़ों द्वारा बरकरार रखी जाती है। जीवित प्राणियों के तीन समूहों (उत्पादक, उपभोक्ता और विघटक) में से किसी की भी संख्या में उतार-चढ़ाव आता है तो संपूर्ण खाद्य शृंखला ही बिगड़ सकती है। उदाहरण के लिये शिकारियों की संख्या बहुत कम होगी, तो इसके परिणामस्वरूप शाकाहारियों की संख्या बढ़ जाएगी, जिसके चलते पारिस्थितिकी तंत्र में से पौधों का जीवन खत्म होने लगेगा।

टिप्पणी

वनीय पारिस्थितिकी तंत्र के समक्ष खतरे

पिछली सदी के दौरान भारत का वन आच्छादित क्षेत्र 33 प्रतिशत से कम होकर 21 प्रतिशत रह गया है। कृषि भूमि, इमारती लकड़ी, लकड़ी का गूदा और ईंधन के लिए हमारी बढ़ती आवश्यकताओं की वजह से यह हानि हुई है। लेकिन वन आच्छादित क्षेत्र निरंतर घटते जाने के एकाधिक परिणाम हैं-

- भोजन और अन्य उत्पादों के लिए प्रत्यक्ष रूप से वनों पर निर्भर करने वाले लोगों को जिंदा रहने के लिए भी संघर्ष करना पड़ रहा है।
- वन कम होने का अर्थ है, मधुमक्खियों, तितलियों और पतंगों की संख्या भी कम होना। इससे कृषि फसलों और फलदार वृक्षों में परागण की प्रक्रिया प्रभावित होती है। इस वजह से कृषि उत्पादों की मात्रा कम होती है और खाद्य पदार्थों के दाम और बढ़ जाते हैं।
- पेड़ नहीं होंगे तो बारिश के पानी को रोकने और भूमिगत जल में मिलाने के लिए जड़ें भी नहीं होंगी। ऐसे में यह सारा पानी नदियों और झीलों में चला जाता है। इस वजह से जहां बारिश के दिनों में बाढ़ की विभीषिका झेलनी पड़ती है, वहीं साल के बाकी दिनों में पानी की भयंकर किल्लत रहती है।
- पेड़ों की जड़ें खत्म होने की वजह से पोषक तत्वों से भरपूर मिट्टी की ऊपरी सतह भी बारिश के पानी के साथ बह जाती है। इससे भूमि की उर्वरा शक्ति प्रभावित होती है।
- जंगली जानवरों का प्राकृतिक आवास छूट जाता है, जिससे उनकी प्रजाति का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाता है।

वनीय पारिस्थितिकी तंत्र का संरक्षण

अगर वनीय संसाधनों का इस्तेमाल बुद्धिमता और उन्हें भावी पीढ़ियों के लिए बचाए रखने के उद्देश्य के साथ किया जाए तो हम अपने समृद्ध वनीय पारिस्थितिकी तंत्र को संरक्षित कर सकते हैं। संरक्षण की शुरुआत ईंधन के लिए लकड़ी की बजाय दूसरे स्रोत ढूंढ़ने के साथ होती है। व्यापक तौर पर वनीकरण करने की भी आवश्यकता है। वन आच्छादित भूमि को बचाए रखने और आगे बढ़ाने के लिए जरूरी है कि जितने पेड़ काटे जाएं, उससे कहीं ज्यादा लगाए भी जाएं। राष्ट्रीय पार्क और वन्य जीव अभयारण्यों की स्थापना हरित चादर का संरक्षण करने में मदद के साथ-साथ यहां रहने वाले पौधों और जीव-जंतुओं को आश्रय भी प्रदान करेगी।

घास के मैदान पारिस्थितिकी तंत्र

घास के मैदान पारिस्थितिकी तंत्र में बहुत ज्यादा झाड़ियां और पेड़ नहीं होते, बल्कि इसमें घास प्रमुखता के साथ उगी होती है। औसत तौर पर घास के मैदानों में हर साल दस से तीस इंच तक बारिश होती है। अगर यहां ज्यादा बारिश होने लगे तो घास के मैदान भी वन में परिवर्तित हो जाएंगे। इसके विपरीत अगर यहां पर बारिश कम होने लगे तो घास के मैदान मरुस्थल में भी परिवर्तित हो सकते हैं।

घास के मैदान प्राय: मरुस्थल और वनों के बीच स्थित होते हैं और यहां की मिट्टी काफी गहरी और उर्वरा होती है। धरती की सतह का लगभग 21 प्रतिशत हिस्सा घास

टिप्पणी

के मैदान हैं। इनकी प्रमुख वनस्पतियों में प्राय: समग्र परिवार से संबंधित घास, फलियां और पौधे शामिल होते हैं। यहां पर चरने वाले कई पशु, शाकाहारी और कीटभक्षी पाये जाते हैं। घास के मैदान पारिस्थितिकी तंत्र के दो मुख्य प्रकार हैं-

उष्णकटिबंधीय घास के मैदान : ये भूमध्य रेखा के निकट स्थित होते हैं और मौसमी शुष्क और सारा साल गर्म रहते हैं। ये काफी संख्या में शिकारियों और शाकाहारियों को सहारा प्रदान करते हैं। उष्णकटिबंधीय घास के मैदान चारागाह भी कहे जाते हैं।

शीतोष्ण घास के मैदान : ये भूमध्य रेखा से दूर होते हैं और इनकी गर्मियां काफी गर्म और सर्दियां काफी कठोर होती हैं। ये पूरी तरह पेड़ और बड़ी झाड़ियों से रहित होते हैं। लंबी और छोटी घास ही इनकी विशेषता होती है। शीतोष्ण घास के मैदानों को स्तेपीय मैदान भी कहा जाता है।

शीतोष्ण घास के मैदान उत्तरी अमेरिका के बड़े हिस्से के साथ-साथ यूरेशिया और दक्षिणी अमेरिका के बड़े भू-भाग पर मौजूद हैं। पहली बार जब इन पर कृषि की गई थी तब ये काफी उर्वर थे, क्योंकि मिट्टी में मौजूद कार्बनिक पदार्थ हजारों वर्षों के विघटन के परिणामस्वरूप एकत्रित हुए थे। संयुक्त राज्य के स्तपीय घास के मैदानों के अलावा दुनिया भर में विभिन्न नामों से घास के मैदान पाये जाते हैं। दक्षिणी अमेरिका में घास के मैदानों को वृक्षहीन क्षेत्र भी कहा जाता है। यूरोप में इन्हें सपाट मैदान और अफ्रीका में चारागाह भी कहा जाता है।

घास के मैदानों को खतरा

प्राचीन समय से ही देहाती समुदाय घास के मैदानों को पशुओं को चराने के लिए इस्तेमाल करते आए हैं। हालांकि अति दोहन और भूमि के प्रयोग में परिवर्तन की वजह से विघटन शुरू हो गया। वर्तमान समय में भारत की बात करें तो पूरी भूमि का महज 3.7 प्रतिशत हिस्सा ही घास के मैदानों के तहत है। घास के मैदानों को कृषि के लिए प्रयोग किया जाना इनके सिकुड़ने का सबसे बड़ा कारण है। हालांकि ऐसी भूमि पर निरंतर सिंचाई और कृषि से भूमि क्षारीय हो जाती है और फिर कृषि के लायक भी नहीं रहती।

बचे हुए घास के मैदानों पर पशुधन की बढ़ती जनसंख्या का दबाव बढ़ रहा है। अत्यधिक चराई और बार-बार लगने वाली आग की वजह से घास का पुन:उत्पादन भी बाधित हो रहा है। और जब मिट्टी की ऊपरी परत बारिश के पानी के साथ बह जाती है (क्योंकि इसे जमाए रखने के लिए कोई वनस्पति नहीं होती है) तो घास के मैदान बंजर भूमि में परिवर्तित हो जाते हैं। तेजी से लुप्त होते घास के मैदानों की वजह से कई प्रजातियां विलुप्त हो गई हैं और इनसे कहीं ज्यादा प्रजातियां खतरे में हैं। चीता इन दिनों खतरे में है, जबकि भेड़िया, काला हिरण और ग्रेट इंडियन बस्टर्ड अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं। अगर इनके प्राकृतिक निवास संरक्षित नहीं किए गए तो जल्द ही ये प्रजातियां भारत से विलुप्त हो जाएंगी।

घास के मैदान पारिस्थितिकी तंत्र का संरक्षण करना

यह बात तो स्पष्ट है कि अगर घास के मैदानों का संरक्षण करना है तो अत्यधिक चराई से बचना होगा। पर्यावरणविदों का सुझाव है कि घास को पुन: उगने का मौका देने के लिए बारी के आधार पर घास के मैदानों के कुछ हिस्सों की बाड़बंदी की जानी चाहिए। आग से बचने की कोशिश करनी चाहिए और अगर ऐसा कुछ होता भी है तो इस पर जल्द काबू करने के प्रबंध होने चाहिए। इन पारिस्थितिकी तंत्रों की वनस्पतियों और पशुवर्ग का

टिप्पणी

संरक्षण करने और भूमि प्रयोग में परिवर्तन को रोकने के लिए सरकार को इन कीमती घास के मैदानों को राष्ट्रीय पार्क और अभयारण्य के रूप में घोषित कर देना चाहिए।

मरुस्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र

मरुस्थल ऐसे क्षेत्रों के तौर पर परिभाषित किए जाते हैं, जहां वार्षिक वर्षा बमुश्किल 20 से 25 इंच तक होती है। यहां पर वाष्पीकरण में खत्म होने वाले पानी की मात्रा वर्षा से मिलने वाले पानी से काफी कम होती है। इस प्रकार मरुस्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र बहुत ही संवेदनशील होते हैं। पूरी धरती का करीब 17 प्रतिशत हिस्सा मरुस्थल है।

अति उच्च तापमान, सूर्य की तेज रोशनी और पानी की किल्लत की वजह से मरुस्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र की वनस्पति और पशु वर्ग काफी खराब तरीके से विकसित होते हैं। मरुस्थल की वनस्पति में मुख्य रूप से झाड़-झंखाड़, थोड़ी-बहुत घास और बहुत दुर्लभ मिलने वाले पेड़ होते हैं। प्रकृति ने इन पेड़ों की जड़ों को काफी लंबा और गहरा बनाया होता है। इनके पत्तों और तनों की संरचना भी पानी का संरक्षण करने वाली होती है। मरुस्थल के आम पौधों में सरस जैसे कांटेदार पत्तों वाले कैक्टस शामिल हैं। मरुस्थल के जीवों में कीड़े, सरीसृप, पक्षी और ऊंट शामिल होते हैं। ये सभी जीव मरुस्थलीय परिस्थितियों के प्रति स्वयं का अनुकूलन कर चुके होते हैं।

मरुस्थल भी दो प्रकार के होते हैं- गर्म मरुस्थल, जैसे कि सहारा, थार एवं मोजावे और ठंडे मरुस्थल जिसका उदाहरण अंटार्कटिका और भारत में लद्दाख हैं। गर्म और ठंडे मरुस्थल के बीच सबसे बड़ा अंतर वर्षा के स्वरूप में होता है। ठंडे मरुस्थलों में जहां बर्फ गिरती है, वहीं गर्म मरुस्थलों में बारिश होती है। आपको यह जानकार हैरानी होगी कि गर्म मरुस्थलों में भी रात को द्रुतशीतन तापमान होता है।

मरुस्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र को खतरे

उन्नत सिंचाई तकनीकों के चलते इन दिनों कई मरुस्थल उपजाऊ भूमि में परिवर्तित हो गए हैं। लेकिन तीखी गर्मी की वजह से पानी तेजी से वाष्पीकृत हो जाता है। इस दौरान क्षारीय पदार्थ भूमि की सतह पर रह जाते हैं। इससे भूमि क्षारीय होने के साथ-साथ बंजर भी हो जाती है। इतना ही नहीं गहरे कुएं खोदकर पानी निकालने की वजह से भूमिगत पानी का स्तर और नीचे चला जाता है, जिसकी वजह से पानी की समस्या और बढ़ेगी।

मरुस्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र का संरक्षण

मरुस्थल अत्यधिक संवेदनशील होते हैं और ये कई दुर्लभ प्रजातियों के प्राकृतिक निवास होते हैं। कृषि की वजह से यह महत्वपूर्ण पारिस्थितिकी तंत्र नष्ट होता जा रहा है। राजस्थान में इंदिरा गांधी नहर कीमती मरुस्थल को कृषि भूमि में तब्दील करके इसे नष्ट कर रही है। वहीं कच्छ का छोटा रण जो कि भारत में जंगली गधों का एकमात्र निवास स्थान है, वह भी नमक के काम की वजह से प्रभावित हो रहा है। इस नाजुक पारिस्थितिकी तंत्र की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए सतत विकास का एक प्रतिमान अपनाया जाना चाहिए।

जलीय पारिस्थितिकी तंत्र

जैसा कि नाम से ही पता चलता है, जलीय पारिस्थितिकी तंत्र जल निकायों में स्थित होता है। इसमें जलीय वनस्पति और जीव-जंतुओं के साथ-साथ पानी के गुण भी शामिल होते हैं। जब क्षमता से ज्यादा दबाव पड़ता है तो जलीय पारिस्थितिकी तंत्र के स्वास्थ्य के साथ

टिप्पणी

समझौता होने लगता है। जलीय पारिस्थितिकी तंत्र पर यह दबाव इसके पर्यावरण के साथ भौतिक, रासायनिक अथवा जैविक छेड़छाड़ का परिणाम हो सकते हैं।

भौतिक छेड़छाड़ पानी के तापमान, पानी के प्रवाह और प्रकाश की उपलब्धता में संशोधन के रूप में हो सकती है। पानी में ऑक्सीजन की खपत करने वाले पदार्थ, जहरीले पदार्थ इत्यादि घुलना रासायनिक छेड़छाड़ की श्रेणी में आता है। जलीय पारिस्थितिकी तंत्र में विदेशी प्रजाति का प्रवेश जैविक तौर पर छेड़छाड़ कहा जाएगा। यह सुनिश्चित करना मनुष्य की जिम्मेदारी है कि इन पारिस्थितिकी तंत्रों पर बेवजह का दबाव न डाला जाए।

लवणता के आधार पर जलीय पारिस्थितिकी तंत्रों को इन भागों में विभाजित किया जा सकता है-

- मीठे पानी का पारिस्थितिकी तंत्र
- समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र।

मीठे पानी का पारिस्थितिकी तंत्र

मीठे पानी के पारिस्थितिकी तंत्रों का पानी पीने लायक होता है अथवा इनमें नमक की मात्रा न के बराबर होती है। इनमें झील और तालाब, नदी और नाले और भूमिगत जल शामिल हैं। मीठे पानी के पारिस्थितिकी तंत्र पृथ्वी की सतह का महज 0.8 प्रतिशत हिस्सा ही घेरते हैं और इनमें पृथ्वी पर मौजूद पूरे पानी का 0.009 प्रतिशत हिस्सा ही होता है। मूल रूप से मीठे पानी के पारिस्थितिकी तंत्र तीन प्रकार के होते हैं-

- **स्थिर :** स्थिर अथवा धीरे बहने वाला पानी जैसे तालाब, झील और पोखर।
- **गतिशील :** नदी और नालों की तरह बहता हुआ पानी।
- **आर्द्र प्रदेश :** ऐसे स्थान जहां पर भूमि या तो संतृप्त होती है अथवा कुछ समय के लिए जल प्लावित होती है।

ये पारिस्थितिकी तंत्र जलथलचरों, सरीसृपों और विश्व की 41 प्रतिशत मत्स्य प्रजातियों को आश्रय प्रदान करते हैं। तेजी से बहने वाले पानी में घुली हुई ऑक्सीजन की मात्रा बहुत ज्यादा होती है। ऐसे में ये पारिस्थितिकी तंत्र धीरे चलने वाले या स्थिर पानी जैसे झील और तालाब की तुलना में जैव विविधता को ज्यादा सपोर्ट करते हैं।

तालाब पारिस्थितिकी तंत्र

जैसा कि आप जानते हैं, तालाब तुलनात्मक रूप से छोटा और मीठे पानी से भरा क्षेत्र होता है। बड़ा तालाब झील कहा जाता है। तालाब पारिस्थितिकी तंत्र मीठे पानी के पारिस्थितिकी तंत्रों को प्रदर्शित करता है। इस तंत्र में मिलने वाले जीव समुदाय अपने अस्तित्व और पोषक तत्वों की जरूरतों के लिए एक-दूसरे के अलावा जलीय पर्यावरण पर निर्भर करते हैं (चित्र)। प्रायः तालाब उथले (12 से 15 फीट) जल निकाय होते हैं, जिनमें सूर्य की रोशनी तली तक पहुंच सकती है। इससे जलीय पौधों को उगने में मदद मिलती है। यह आत्मनिर्भर और आत्म-विनियमित पारिस्थितिकी तंत्र होता है।

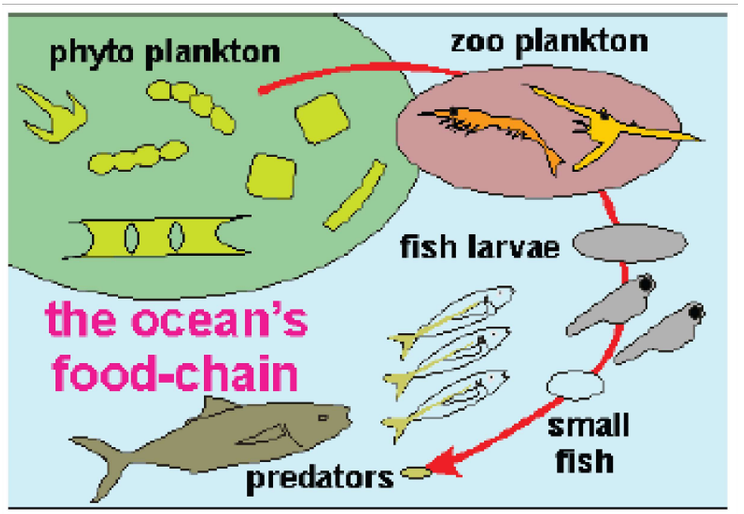

Figure *Food Chain in a Pond*

तालाब पारिस्थितिकी तंत्र में जैविक और अजैव दोनों ही घटक होते हैं। अजैव घटकों में सूर्य की रोशनी, जल प्रवाह, ऊष्मा जैसे भौतिक घटक; और पानी में घुली हुई ऑक्सीजन, कार्बन डाई ऑक्साइड, नाइट्रोजन इत्यादि और फास्फोरस, कैल्शियम, मैग्नीज इत्यादि घुलनशील पोषक तत्वों जैसे अकार्बनिक पदार्थ शामिल होते हैं। प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और लिपिड जैसे अकार्बनिक पदार्थ भी भौतिक घटकों में ही शामिल हैं।

जैविक पदार्थों में पादप प्लवक जैसे सूक्ष्मदर्शी उत्पादक, जो कि जड़ रहित तैरते हुए पौधे होते हैं, जैसे कि काई और शैवाल, शामिल होते हैं। इनके अलावा हाइड्रिला, निम्फेआ जैसे सूक्ष्म पौधे भी शामिल होते हैं, जो कि पूरे अथवा आधे डूबे हुए हो सकते हैं या फिर तैरते हुए भी हो सकते हैं। क्लोरोफिल की मदद से सूर्य की रोशनी को खाद्य पदार्थ की रासायनिक ऊर्जा में परिवर्तित करने के लिए उत्पादक हवा से कार्बन डाइऑक्साइड के साथ-साथ पानी में मौजूद बाई कार्बोनेट्स का भी प्रयोग करते हैं।

तालाब पारिस्थितिकी तंत्र में प्राथमिक उपभोक्ता छोटी मछली और मेढक के डिंभकीट जैसे शाकाहारी शामिल होते हैं, जो कि पादक प्लवक का सेवन करते हैं। ये शाकाहारी आगे द्वितीयक उपभोक्ताओं जैसे छोटी मछली, केकड़े और मेढक इत्यादि का भोजन बनते हैं। ये द्वितीयक उपभोक्ता आगे तृतीयक उपभोक्ताओं जैसे बड़ी मछली, कछुए इत्यादि का भोजन बनते हैं। पानी के अंदर अच्छी खासी संख्या में ऐसे जीवाणु, फफूंदी और ऐसे जीव होते हैं, जो कि विघटक के तौर पर काम करते हैं। वे मृत जीवों के जटिल कार्बनिक पदार्थों का विघटन कर उनमें निहित खनिजों को मुक्त करते हैं। ये खनिज फिर से उत्पादकों को उपलब्ध हो जाते हैं और यह चक्र निरंतर चलता रहता है।

नदी पारिस्थितिकी तंत्र

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, नदी पारिस्थितिकी तंत्र गतिशील (लोटिक) पारिस्थितिकी तंत्र होता है। लोटिक बहते पानी की तरफ संकेत करता है। यह लैटिन के शब्द लोटस से निकला है, जिसका अर्थ धोना होता है। गतिशील जल के स्रोतों का स्वरूप परिविर्तित होता रहता है। ये कुछ सेंटीमीटर चौड़े झरने भी हो सकते हैं और कई

टिप्पणी

किलोमीटर चौड़ी नदी भी। इन विभिन्नताओं के अलावा ऐसी कई विशेषताएं हैं जो कि बहते पानी के पारिस्थितिकी तंत्र को अद्वितीय बनाती हैं-

- पानी का प्रवाह एक ही दिशा में होता है।
- इसमें लगातार भौतिक परिवर्तन होता रहता है।
- इसमें सभी स्तरों पर व्यापक स्थानिक और लौकिक विविधता होती है।
- इनमें रहने वाली प्रजातियां बहते पानी की परिस्थितियों में जीवित रहने के लिए अनुकूलन कर लेती हैं।

नदी के पारिस्थितिकी तंत्र में महत्वपूर्ण स्थल नदी के ढाल और पानी के प्रवाह की गति के आधार पर ज्ञात किए जाते हैं। अशांत पानी में घुली हुई ऑक्सीजन की मात्रा अधिक होती है और तालाबों और झीलों के स्थिर अथवा धीमी गति से प्रवाहित होने वाले पानी की तुलना में ये जल स्रोत अधिक जैव विविधता को सहारा प्रदान करते हैं।

नदी पारिस्थितिकी तंत्र के अंदर निहित पानी के अलावा भी पानी के ऐसे कई स्रोत होते हैं, जो कि सीधे नदी में ही प्रवाहित होते हैं। ये स्रोत भी नदी पारिस्थितिकी तंत्र के एक महत्वपूर्ण भाग का निर्माण करते हैं। बाढ़ के मैदानों अथवा जल विभाजन क्षेत्रों, नदी घाटियों और सहायक नदियों के मामले में भी ऐसा ही है। ये सभी नदी पारिस्थितिकी तंत्र का एक अहम भाग होते हैं और विविध पौधों और पशुओं को आश्रय प्रदान करते हैं, जो कि अपने अस्तित्व के लिए नदियों पर निर्भर होते हैं।

नदी तंत्र में पानी का प्रवाह एक महत्वपूर्ण कारक होता है और इनकी पारिस्थितिकी पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। तंत्र के अंदर ही पानी की गति अथवा शक्ति परिवर्तित हो सकती है। इसमें उफनती लहरें भी हो सकती हैं और स्थिर जल स्रोत की तरह दिखने वाला धीमी गति से चलता पानी भी हो सकता है। पानी के बहाव की दर निर्धारित करने में बारिश और बर्फ पिघलने की सूरत में आने वाले सीधे पानी के साथ-साथ भूमिगत पानी भी अहम भूमिका निभाता है। नदी पारिस्थितिकी तंत्र के लिए रोशनी बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह प्रकाश संश्लेषण (प्राथमिक उत्पादन) के लिए ऊर्जा उपलब्ध करवाती है। रोशनी की वजह से बनने वाली परछाइयों में शिकारी प्रजातियों को आश्रय भी मिलता है।

नदी पारिस्थितिकी तंत्र की सबसे आम निवासी मछलियां होती हैं। बहते पानी में जिंदा रहने के प्रति मछलियों की प्रजातियों का अनुकूलन इस पर निर्भर करता है, कि वे पानी में कितनी तेजी से तैर सकती हैं और इस गति को कितने समय तक बरकरार रख सकती हैं। विभिन्न प्रजातियों के बीच यह क्षमता परिवर्तित होती रहती है। कुछ प्रजातियों ने केवल नदी के तल में ही रहने के प्रति अनुकूलन कर लिया है और वे मुक्त जल प्रवाह में कभी नहीं लौटतीं। ऐसी मछलियों का शरीर सपाट होता है, जिस वजह से प्रवाह के प्रति प्रतिरोध कम हो जाता है। इनकी आंखें सिर के ऊपर होती हैं, ताकि ये अपने ऊपर के परिदृश्य को देख सकें।

नदी पारिस्थितिकी तंत्रों का आपस में एक सरल अंतर्संबंध होता है, जो कि समुद्र की तरफ रास्ते का निर्माण करता है (झरना नाला नदी समुद्र)। इस प्रकार कई मछलियों का तो ऐसा जीवन चक्र होता है, जिसके लिए मीठे पानी के साथ-साथ खारे पानी में भी उत्तरजीविता जरूरी है। उदाहरण के लिए साल्मन समुद्रापगामी होती है। यह मीठे पानी में

टिप्पणी

पैदा होती है और इसी में विकसित होती है, लेकिन वयस्क होने के बाद समुद्र का रुख कर लेती है। वहीं अगर ईल की बात करें तो उसकी प्रकृति इससे बिल्कुल उलट होती है। वह जन्म तो समुद्र में लेती है, लेकिन वयस्क होने के बाद मीठे पानी में चली जाती है।

समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र

समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र बहुत ही बड़ा पारिस्थितिकी तंत्र होता है और यह पृथ्वी की सतह के 71 प्रतिशत भाग को घेरे हुए है। आपको यह जानकार हैरानी होगी कि इस ग्रह पर मौजूद कुल पानी का 97 प्रतिशत हिस्सा समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र में ही है। समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र के पानी में उच्च गुणवत्ता के लवण और खनिज घुले हुए होते हैं। विभिन्न प्रकार के समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र हैं–

- **महासागरीय :** महासागर का तुलनात्मक रूप से उथला भाग जो कि महाद्वीपीय जलसीमा के ऊपर होता है।
- **अथाह गहरा :** तलीय अथवा गहरा पानी
- **बेंथिक :** तलछट
- **अंतर ज्वारीय :** ज्वार और भाटे के बीच का क्षेत्र
- **ज्वारनदमुख**
- **नमक का दलदल**
- **प्रवाल भित्तियां**

आइए, अब महासागरीय और ज्वारनदमुख पारिस्थितिकी तंत्र के बारे में विस्तार से चर्चा करते हैं–

महासागरीय पारिस्थितिकी तंत्र

संसार के प्रमुख महासागर मिलकर समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण करते हैं। भारत में हिंद महासागर, अरब महासागर और बंगाल की खाड़ी समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण करते हैं।

मीठे पानी के पारिस्थितिकी तंत्र की तुलना में समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र रासायनिक तौर पर अधिक स्थिर होते हैं। प्रवाह बहुत ही महत्वपूर्ण कारक है, जिसके निहितार्थ जैविक और अजैव दोनों ही घटकों के लिए हैं। यह जीवों तक भोजन और ऑक्सीजन के परिवहन जैसा महत्वपूर्ण कार्य निष्पादित करता है। यही प्रवाह पौधों तक पोषक तत्व और कार्बन डाइऑक्साइड भी पहुंचाता है। पानी का तापमान भी इस पारिस्थितिकी तंत्र में रहने वाले जीवों की उपापचयी क्रियाओं पर काफी प्रभाव डालता है। ट्राऊट जैसे कई जीव ठंडी धारा के प्रवाह को प्राथमिकता देते हैं तो वहीं, स्मालमाऊथबास जैसे अन्य जीवों का उच्च तापमान पर ही बेहतर विकास होता है।

प्रकाश संश्लेषण के लिए रोशनी अनिवार्य कारक है। यह वास कारक को भी ज्ञात करती है। मछलियां और अकशेरूकीय पानी के अंदर कम रोशनी वाले स्थानों पर ही रहते हैं, जिससे कि शिकारियों की नजर में आने से बचे रहें। समुद्री निकाय के रसायन उसके जलग्रहण क्षेत्र द्वारा नियंत्रित होते हैं। इससे भी आगे वर्षा और मानवीय गतिविधियां भी इस पर प्रभाव डालती हैं।

टिप्पणी

प्रकृति ने समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र कुछ इस तरह सृजित किया है कि शिकारी आकार में अपने से करीब 10 गुना छोटे शिकार को ही निशाना बनाते हैं। सबसे छोटा पादप प्लवक इतना महीन होता है कि साल्मन मछली के आकार के शिकारी तक पहुंचने के लिए इसे खाद्य शृंखला में 10 से ज्यादा कड़ियों से गुजरना होता है। नई खाद्य ऊर्जा उत्पादित करने के लिए खाद्य शृंखला में हर स्तर पर खाद्य ऊर्जा के केवल 10 प्रतिशत भाग का ही इस्तेमाल किया जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो 100 किलोग्राम पादप प्लवक में से प्राणिमंदप्लवक सिर्फ 10 किलोग्राम ही बचेगा।

ज्वारनदमुख पारिस्थितिकी तंत्र

ज्वारनदमुख एक अर्द्ध-संलग्न स्थान है, जहां मीठे पानी के झरने अथवा नदियां समुद्र में मिलती हैं। मीठा और खारा पानी आपस में मिलकर एक विशेष पारिस्थितिकी तंत्र सृजित करते हैं, जो कि जैव विविधता को पोषित करने के लिए पोषक तत्वों से भरपूर होता है। ज्वारनदमुख को मुक्त पारिस्थितिकी तंत्र कहा जाता है, क्योंकि यह सूक्ष्म रूप से व्यापक पर्यावरण के साथ जुड़ा होता है। नदियां भूमि से पोषक तत्व लेकर आती हैं तो लहरें समुद्र से। मछली और पक्षियों जैसे जानवर ज्वारनदमुख छोड़ते वक्त इनमें से कुछ पोषक तत्वों को अपने साथ ले जाते हैं। वहीं, वापस लौटती लहरें भी कुछ तत्वों को अपने साथ बहा ले जाती हैं।

ज्वारनदमुख के अंदर रहने वाले जीव एक-दूसरे के साथ अन्योन्याश्रित भोजन संबंधों का आनंद उठाते हैं। जैसा कि आपने पिछले अध्याय में पढ़ा था कि यही संबंध खाद्य जाल का निर्माण करते हैं। ज्वारनदमुख के खाद्य जाल में निम्नलिखित घटक होते हैं–

- पादप प्लवक- ये सूक्ष्म जीव प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा भोजन का निर्माण करते हैं और पानी से पोषक तत्व अवशोषित करते हैं।
- अपरद (मृत कार्बनिक पदार्थ)।
- प्राणिमन्दप्लवक के नाम से ज्ञात सूक्ष्म जानवर पादप प्लवक को खाते हैं। लंबे समय तक जिंदा रहने वाले पादप प्लवक मरने के बाद अपरद में परिवर्तित हो जाते हैं।
- ज्वारनदमुख के बड़े जानवर जैसे कि फिल्टर-फीडिंग वॉर्म, शंख और यंग फिश इन प्राणिमन्दप्लवक और अपरद को खाते हैं।

जलीय पारिस्थितिकी तंत्र को खतरे

जलीय पारिस्थितिकी तंत्र को सबसे बड़ा खतरा जल प्रदूषण से है, खासतौर पर शहरी इलाकों में। शहरी घरों से निकलने वाले मल और ठोस कचरे को प्रायः पर्याप्त उपचार किए बिना झीलों और नदियों में डाल दिया जाता है। यह यूट्रोफिकेशन की वजह बनता है। इस प्रक्रिया में पानी में ऑक्सीजन का स्तर खतरनाक रूप से गिर जाता है, जिसके परिणामस्वरूप मछली और अन्य जलीय जीव मरने लगते हैं। इन जीवों की पानी में सड़ती लाशें भयंकर दुर्गंध छोड़ती हैं और धीरे-धीरे सभी पौधों और पशु प्रजातियों को नष्ट कर देती हैं।

टिप्पणी

ग्रामीण क्षेत्रों की समस्या अलग ही है। उर्वरकों का अत्यधिक इस्तेमाल करने से पोषक तत्वों की मात्रा बढ़ जाती है, जो कि दोबारा से यूट्रोफिकेशन की वजह बनती है। इसके अलावा खेतों में इस्तेमाल किए जाने वाले कीटनाशक अपने नजदीकी जल निकायों में घुल जाते हैं और जलीय जीवों की मौत का कारण बनते हैं। पानी के अंदर भारी धातुएं, जहरीला कचरा और जहरीले रसायन डालने की वजह से न केवल जलीय जीव प्रभावित होते हैं, बल्कि अपनी रोजमर्रा की जरूरतों के लिए इन जल निकायों से पानी लेने वाले लोगों के स्वास्थ्य पर भी इसके दुष्प्रभाव पड़ते हैं।

जलीय पारिस्थितिकी तंत्र का संरक्षण

पहला और सबसे महत्वपूर्ण कदम है जल प्रदूषण को रोकना। जल निकायों में कचरा, (घरेलू, कृषि अथवा औद्योगिक) डालने के खिलाफ सरकार को सख्त कानून बनाकर उन्हें मजबूती से लागू करना चाहिए। निर्माण अथवा बांध किसी भी जलीय पारिस्थितिकी तंत्र की प्रकृति को गतिशील से स्थिर में परिवर्तित कर देते हैं। ऐसे में जैव विविधता नष्ट हो जाती है।

वैटलैंड पारिस्थितिकी तंत्रों पर ज्यादा ध्यान देने की जरूरत है, क्योंकि ये बहुत दुर्लभ होते हैं और सभी पारिस्थितिकी तंत्रों में सबसे ज्यादा खतरे में हैं। इन्हें संरक्षित करने का एक तरीका यह भी है कि इन्हें अभ्यारण्य अथवा राष्ट्रीय पार्कों में शामिल कर लिया जाए।

अपनी प्रगति जांचिए

7. ऑक्सीजन चक्र के आरंभिक बिंदु के रूप में निम्न में से किसे स्थान मिला है?

   (क) प्रकाश (ख) कार्बन डाइऑक्साइड

   (ग) पानी (घ) पौधे

8. नाइट्रोजन इनमें से किसका मुख्य घटक नहीं है?

   (क) एमीनो अम्ल (ख) वसा

   (ग) प्रोटीन (घ) कार्बन डाइऑक्साइड

1.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (ग)
4. (ख)
5. (क)
6. (ग)
7. (घ)
8. (घ)

टिप्पणी

1.7 सारांश

वातावरण का मतलब एक जीव के जीवन की बाह्य परिस्थितियों से है। पौधों और जानवरों जैसे जीवों सहित मनुष्य भी पर्यावरण से पोषण पाते हैं और इसकी गोद में जीवित रहते हैं। पर्यावरण स्थिर नहीं है, बल्कि यह समय और स्थान के हिसाब से बदलता जाता है। इसमें रहने वाले जीवों को जिंदा रहने और विकास करने के लिए एक या इससे अधिक पर्यावरणीय कारकों जैसे तापमान, आर्द्रता में परिवर्तन के अनुकूल खुद को ढालना पड़ता है। जो प्रजातियां पर्यावरण परिवर्तन के साथ सामंजस्य बनाने में असमर्थ रहती हैं उनके डायनासोर की तरह विलुप्त होने की संभावना रहती है।

पर्यावरण अध्ययन आज अध्ययन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र बन चुका है। इस अध्ययन के माध्यम से हम पर्यावरण प्रकृति और संसाधनों के साथ-साथ मानवीय गतिविधियों के पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में जानेंगे। वर्तमान और आने वाली पीढ़ियों के लिए पर्यावरण की रक्षा के मद्देनजर इसकी जानकारी बहुत महत्वपूर्ण है।

पर्यावरण संबंधी अध्ययन एक व्यावहारिक विज्ञान है, क्योंकि यह सीमित संसाधनों के बीच मानव सभ्यता को स्थायी बनाने के लिए व्यावहारिक जवाब चाहता है। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है कि इसके घटकों में जीव विज्ञान, भूविज्ञान, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, समाजशास्त्र, स्वास्थ्य, अर्थशास्त्र और सांख्यिकी शामिल हैं।

मनुष्य पर्यावरण का हिस्सा है। मानव सभ्यता ने पर्यावरणीय संसाधनों जैसे हवा, पानी और भूमि के माध्यम से प्रगति की है और समृद्धि पाई है। हालांकि मनुष्य की तकनीकी और औद्योगिक उन्नति निस्संदेह सराहनीय है, लेकिन यह भी सच है कि यह उन्नति पर्यावरण की कीमत पर हुई है। मनुष्य की प्रगति पर्यावरण पर प्रभाव डाल रही है और अक्सर यह प्रभाव नकारात्मक होता है।

पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधन सीमित हैं। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ रही है हम सभी और ज्यादा संसाधनों का इस्तेमाल कर रहे हैं। ऐसे में पृथ्वी का संसाधन आधार निस्संदेह रूप से सिकुड़ जाएगा। इस संबंध में वैज्ञानिक पहले ही चेतावनी दे चुके हैं। मनुष्य द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन के बढ़ते दायरे के बीच पृथ्वी को सुरक्षित रखने की उम्मीद नहीं की जा सकती। पर्यावरण क्षरण और जलवायु परिवर्तन के मनुष्य को भविष्य में गंभीर परिणाम भुगतने पड़ सकते है। इसलिए आज जिन पर्यावरणीय समस्याओं का दुनिया को सामना करना पड़ रहा है उनके बारे में तत्काल जागरूकता लाने और इन्हें हल करने के तरीके ढूंढ़ने की आवश्यकता है।

पृथ्वी विभिन्न प्रकार के पारिस्थितिकीय तंत्रों से बनी है। इन्हें दो व्यापक श्रेणियों के तहत समूहबद्ध किया जा सकता है- स्थलीय (भूमि आधारित) और जलीय (जल आधारित)। स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र में वन, घास के मैदान, मरुस्थल, शहरी भूमि और समुद्र तट के निवास शामिल हैं। जलीय पारिस्थितिकी तंत्र में झील, नदी, दलदल, ज्वारनदमुख समेत समुद्र की तह में मिलने वाले अनेक तंत्र शामिल होते हैं। समुद्र में मिलने वाले कुछ पारिस्थितिकी तंत्रों तक तो मनुष्य शायद ही पहुंचा हो, जैसे कि समुद्र की अथाह गहराइयों में मिलने वाले तंत्र।

टिप्पणी

किसी भी क्षेत्र में पर्यावरण के अजैव घटकों जैसे मिट्टी, हवा और पानी के साथ पौधों और जंतुओं का समुदाय एक क्षेत्र के पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण करता है। रॉय क्लेफैम ने वर्ष 1930 में, एक-दूसरे के साथ एक इकाई के संबंध के तौर पर दिखने वाले पर्यावरण के जैविक और भौतिक घटकों को दर्शाने के लिए पारिस्थितिकी तंत्र शब्द का इस्तेमाल किया था। हरेक पारिस्थितिकी तंत्र का अपना स्थल दृश्य होता है, जैसे वन, मरुस्थल अथवा तटीय इलाका। इसकी विशेषताएं इसकी भौतिक खासियतों जैसे पहाड़, मैदान, नदी, मिट्टी, जल निकासी, पानी का खारापन और पर्यावरणीय परिस्थितियों जैसे बारिश और धूप की मात्रा और तापमान की रेंज।

पारिस्थितिक तंत्र की पर्यावरणीय परिस्थितियां जब तक समान रहती हैं तब तक वे प्रजातियां जो इन परिस्थितियों के सबसे ज्यादा अनुकूल हैं, उनकी तादाद बढ़ जाएगी। पारिस्थितिक तंत्र में बदलाव का सबसे बड़ा कारण प्रजातियों द्वारा पर्यावरण पर डाले जाने वाले प्रभाव हैं। अपने जीवन के दौरान जीव कुछ समय के बाद अपना पर्यावरण बदल लेते हैं। हो सकता है कि वर्तमान पर्यावरण जानवरों या पौधों की कुछ प्रजातियों के लिए आदर्श हो वहीं दूसरी ओर नया पर्यावरण भी कुछ अन्य प्रजातियों के लिए सर्वोत्तम हो सकता है। बदली हुई परिस्थितियों में पहले वाली प्रजातियों के क्षीण होने और अन्य प्रजातियों के ताकतवर होने की संभावना होती है।

1.8 मुख्य शब्दावली

- **बहुविषयक :** कई विषयों से संबंधित।
- **स्थलीय :** स्थल से संबंधित।
- **घटक :** अवयव, तत्व।
- **विन्यास :** बनावट, बुनावट।
- **आर्द्रता :** नमी।
- **उपापचय :** उपचय एवं अपचय की क्रिया।

1.9 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. पर्यावरण अध्ययन का आशय बताइए।
2. पर्यावरण अध्ययन को एक व्यावहारिक विज्ञान क्यों कहा जाता है?
3. पर्यावरण के प्रति जनजागृति लाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर क्या प्रयास हुए हैं?
4. भारत में पर्यावरण संरक्षण को लेकर बनी नीति के उद्देश्य बताइए।
5. पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण किस प्रकार होता है?
6. पारिस्थितिकी तंत्र में ऊर्जा का प्रवाह किस प्रकार होता है?
7. वनीय पारिस्थितिकी तंत्र के प्रमुख प्रकारों के नाम लिखिए।
8. जलीय पारिस्थितिकी तंत्र को किस प्रकार खतरा उत्पन्न हुआ है?

टिप्पणी

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. पर्यावरण की परिभाषा एवं महत्व बताते हुए उसके संरक्षण में जनभागीदारी बढ़ाने के प्रयासों पर प्रकाश डालिए।
2. पारिस्थितिकी तंत्र पर एक विस्तृत प्रस्तावना लिखिए।
3. पारिस्थितिकी तंत्र की संरचना एवं उसके प्रमुख कार्यों का परिचय दीजिए।
4. पारिस्थितिकी तंत्र के मुख्य प्रकारों का वर्णन कीजिए।

1.10 सहायक पाठ्य सामग्री

Allaby, M. Environment. York: Gareth Stevens Publishing, 2000.

Carson, R. Silent Spring. Boston: Houghton Miffin Harcourt, 1962.

Rajagopalan, R. Environmental Studies, 2nd edn. New Delhi: Oxford University Press.

Rangarajan M. and K. Sivaramakrishnan (eds). India's Environmental History-A Reader: (Vol. 1: From Ancient Times to the Colonial Period, Vol. 2: Colonialism, Modernity, and the Nation). New Delhi: Orient Blackswan Press, 2011.

Rangarajan, M (ed). Environmental Issues in India: A Reader. New Delhi: Pearson Longman, 2007.

WCED (World Commission on Environment and Development). Our Common Future. New York: Oxford University Press, 1987.

इकाई 2 पर्यावरणीय प्रदूषण तथा जनसंख्या

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 पर्यावरणीय प्रदूषण : कारण, प्रभाव एवं रोकथाम
  2.2.1 वायु, जल एवं ध्वनि प्रदूषण
  2.2.2 तापीय एवं आणविक प्रदूषण
  2.2.3 प्रदूषण नियंत्रण में स्थानीय एवं वैश्विक भूमिका
2.3 जनसंख्या वृद्धि : राष्ट्रों के बीच अंतर
  2.3.1 जनसंख्या वृद्धि : उत्तरदायी कारक
  2.3.2 जनसंख्या–आकलन की विधियां
  2.3.3 जनसंख्या वृद्धि अथवा परिवर्तन के प्रतिरूप
  2.3.4 भारत में जनसंख्या वितरण एवं घनत्व
  2.3.5 जनसंख्या–वृद्धि को प्रभावित करने वाले कारक
  2.3.6 जनसंख्या वृद्धि एवं अन्य राष्ट्रों के बीच अंतर
2.4 जनसंख्या विस्फोट : पर्यावरण, परिवार कल्याण कार्यक्रम एवं मानव स्वास्थ्य
  2.4.1 जनसंख्या विस्फोट और पर्यावरण
  2.4.2 जीवन की गुणवत्ता एवं मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव
  2.4.3 जनसंख्या संबंधी नीतियां एवं परिवार कल्याण कार्यक्रम
2.5 स्वच्छता एवं घरेलू कचरे का निष्पादन
2.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.7 सारांश
2.8 मुख्य शब्दावली
2.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.10 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

निर्वनीकरण एवं अनियोजित औद्योगिकीकरण, नगरीकरण इत्यादि के कारण पर्यावरणीय घटकों को जब हानि पहुंचने लगती है, तो उस अवस्था को पर्यावरण–प्रदूषण कहा जाता है। ऐसा प्रायः बाहरी पदार्थों को पर्यावरण में छोड़े जाने के कारण होता है, यथा अकार्बनिक, कार्बनिक, जैविक अथवा अजैविक। इस स्थिति में रेडियोलॉजिकल अथवा अन्य प्रकार की अप्राकृतिक क्रियाएं अथवा/एवं उत्पाद मानवों द्वारा प्रकृति में प्रवेश करा दिये जाते हैं। इस प्रकार सांश्लेषक व कृत्रिम पदार्थों अथवा/एवं क्रियाओं के कारण पर्यावरण का स्वरूप सामान्य न होकर विकृत हो जाता है जो जीवों के पालन–पोषण में आंशिक अथवा पूर्णतः अयोग्य हो जाता है। जब इन बाहरी सामग्रियों का सांद्रण इतना उच्च हो जाता है कि पारितंत्र उसका वहन ही न कर पाए तो प्राकृतिक पुनर्जीवन क्षमता घटने लगती है, जैसे कि गंगा अपने सतत् प्रवाह द्वारा अब स्वयं को स्वच्छ नहीं कर पाती। इस कारण प्रदूषक तत्व विघटित नहीं हो पाते, इस प्रकार ये हानिप्रद तत्व पर्यावरण में संचित होते चले जाते हैं।

प्रदूषक का अभिप्राय प्रायः ऐसे पदार्थों से होता है जो किसी मानव–गतिविधि के कारण प्रकृति में सामान्य से अधिक मात्रा में पहुंच जाते हैं एवं समस्त सजीवों पर

टिप्पणी

हानिप्रद प्रभाव डालते हैं, यथा Pb, Hg, NO_X जबकि संदूषक ऐसे पदार्थों को कहा जाता है जो प्राकृतिक रूप से नहीं पाए जाते अपितु मानव–गतिविधियों के द्वारा पर्यावरण में लाए गए हैं एवं उसके संघटन को प्रभावित कर रहे हैं, यथा MIC (methyl isocyanate, CH_3-N=C=O) एवं पॉलिथीन। संदूषक हानिप्रद प्रभाव लिए हो सकते हैं अथवा नहीं। जो संदूषक हानिप्रद प्रभाव लिए होते हैं उन्हें प्रदूषक कहते हैं।

इस इकाई में पर्यावरणीय प्रदूषण, मानव स्वास्थ्य तथा जनसंख्या विस्फोट के विभिन्न पहलुओं का विस्तृत विश्लेषण किया जा रहा है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- पर्यावरणीय आपदाओं एवं प्रदूषण के कारण, प्रभावों एवं रोकथाम के उपायों को जान पाएंगे;
- जनसंख्या गतिकी, वृद्धि और पर्यावरण एवं मानव स्वास्थ्य पर उसके प्रभावों का आकलन कर पाएंगे;
- जनसंख्या विस्फोट तथा परिवार कल्याण कार्यक्रमों की स्थिति को समझ पाएंगे;
- स्वच्छता एवं घरेलू कचरों के निष्पादन के तरीकों से अवगत हो पायेंगे।

2.2 पर्यावरणीय प्रदूषण : कारण, प्रभाव एवं रोकथाम

पर्यावरणीय प्रदूषण को समझने से पहले हमें उन पर्यावरणीय स्थितियों को समझने की आवश्यकता होगी, जिसके कारण पर्यावरण के लिये संकट या आपदा उपस्थित होती है, और उनका सामना करना अपरिहार्य हो जाता है।

पर्यावरणीय आपदा उस अनर्थ अथवा संकट को कहा जाता है, जिसमें जन व धन का भीषण घाटा होता है एवं अर्थव्यवस्था का संतुलन छिन्न–भिन्न हो जाता है। आपदा एक दुःखांत घटना होती है, जो सामान्य जीवन सहित सामाजिक व व्यक्तिगत विकास को प्रभावित कर देती है। स्रोतों के अनुरूप आपदा दो प्रकार की होती हैंः मानव–जन्य एवं प्राकृतिक। आपदा से बचाव अथवा इसके प्रभावों को न्यूनतम रखने के लिए उपरोक्त दोनों प्रकारों को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। जोख़िमों के अदक्ष प्रबंधन के कारण भी आपदाएं आ सकती हैं। यदि सुरक्षात्मक सावधानियां बरती जाएं तो आपदा के प्रभाव को घटाया जा सकता है। आपदाओं के प्रति विकासशील देश अधिक संवेदनशील होते हैं। पर्यावरणीय आपदा वह अनर्थ अथवा संकट है जिसमें पर्यावरण को प्रत्यक्ष क्षति पहुंचती है एवं गंभीर परिवर्तन आ जाते हैं। इन परिवर्तनों से आगामी आपदा की आधारशिला तैयार हो सकती है। चूंकि पर्यावरणीय आपदाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव पर्यावरण पर पड़ता है, इनसे आर्थिक उन्नति अवरुद्ध हो सकती है, सामाजिक–आर्थिक बाधाएं उत्पन्न हो सकती हैं, पर्यावरणीय स्थितियां विकृत हो सकती हैं अथवा/एवं जीवन संकट में पड़ सकता है।

तात्कालिक भीषण प्रभावों के अतिरिक्त आपदा के दीर्घकालिक प्रभावों से भी पर्यावरण को जूझना पड़ जाता है जिनसे निपटना असंभवतुल्य अथवा अत्यधिक समय,

टिप्पणी

श्रम व धनसाध्य हो सकता है। पर्यावरणीय आपदा से पारिस्थितिक तंत्र प्रभावित होने से ऐसे विनाशक परिणाम उपज सकते हैं जिन्हें पीढ़ियों तक भुगतना पड़े। इन दीर्घकालिक प्रभावों से पारितंत्र को क्षति पहुंचने के कारण आगामी वर्षों अथवा दशकों तक रोगों व विकारों के माध्यम से और अधिक मृत्यु संभव हैं। आपदाओं के कारण वृक्षों की वृद्धि में विघ्न पड़ सकता है अथवा खेती बंद हो सकती है।

जब भी कोई आपदा आए अर्थव्यवस्था को अपने सभी संसाधन यथेष्ट परिमाणों में प्रभावित क्षेत्रों की ओर भेजने होते हैं ताकि आपदाग्रस्त भाग के बचे अवयवों को सुरक्षित किया जा सके व क्षति को यथासंभव कम किया जा सके। वैसे आपदा से नष्ट अथवा क्षतिग्रस्त हुए अवयवों को पूर्वावस्था में वापस लाना अथवा पुनर्प्राप्त करना एक धनसाध्य कार्य है।

पर्यावरणीय आपदाओं के मुख्य कारण निम्नांकित हैं–

1. **अतिरेक जनसंख्या वृद्धि** : जनसंख्या–विस्फोट स्वयं एक विपदा है। बढ़ायी जा रही जनसंख्या की मौलिक आवश्यकताओं (भोजन, आवास) एवं शैक्षणिक, व्यावसायिक इत्यादि इच्छाओं को पूर्ण करने के चक्र में शासन द्वारा नैसर्गिक संसाधनों का शोषण कर दिया जाता है ताकि मत (वोट) प्राप्त करने आगामी निर्वाचन में विजयी होने के लिए नागरिकों को रिझाया जा सके; इस प्रकार भंगुर होता पारितंत्र आपदाओं के प्रति अधिक संवेदनशील होता चला जाता है
2. **अनुपयुक्त नियोजन** : तथाकथित योजनाकार एवं विकासकर्त्ता (डेवलपर) ने प्रकृति से तादात्म्य स्थापित नहीं रखा, उदाहरणार्थ नगरों में बाढ़ का मुख्य कारण सड़कों का जाल बिछाया जा चुका होने से वर्षाजल भूमि में एकत्र न हो पाना एवं पॉलिथीन द्वारा नालियों का अवरुद्ध हो जाना है
3. **पर्यावरणीय विघटन** : प्रकृति ने जो उपादान हमें उपहार में प्रदान किये हैं उनकी सुरक्षा न किये जाने पर वे आपदाकारक हो सकते हैं। यदि बाढ़ रोकने वाले वनों को उजाड़ दिया गया तो संसाधन समझा जाने वाला जल विनाशकारी रूप धारण कर लेता है। वनों का शोषण किये जाने से ये अब पर्याप्त नहीं रह गए हैं अतः मानव द्वारा पुनर्वनीकरण किया जाना परमावश्यक है। किसी स्थान पर आपदा की तीव्रता वहां के प्राकृतिक सुरक्षा–कवच के व्युत्क्रमानुपाती होती है। इस कारण इनकी सुरक्षा की जानी व यथावश्यकता संवर्द्धन नितांत आवश्यक है।

पर्यावरणीय आपदाओं की विचारणीय स्थितियां

विविध प्रकार की स्थितियां पर्यावरणीय आपदाओं को जन्म देती हैं। इन स्थितियों का वर्णन निम्न प्रकार से है–

1. कृषि

- पूर्वोत्तरी भारत की अत्यधिक चौड़ी नदी ब्रह्मपुत्र से प्रतिवर्ष आने वाली व्यापक बाढ़ से आसपास लगाये गए खेतों की फसलें बह जाती हैं।
- ऑस्ट्रेलिया व गुजरात में लवणीयता (खारापन)।

टिप्पणी

- चीन में गोरैया को खेतों से दूर करने के लिए व्यापक नाश किया गया जिससे टिड्डियों के झुंड खेतों में एकत्र होते चले गए एवं परिणामस्वरूप आए अकाल के कारण 3 करोड़ अस्सी लाख लोग मारे गए।
- दक्षिणी भारत व मालदीव के मध्य हिंद महासागर में प्रवाल–भित्तियां/मूंगे की चट्टानें समुद्री प्रदूषण के कारण सिमटने लगी हैं जिन्हें बचाने के लिए व्यापक वैश्विक पहल अति आवश्यक है।
- भारत, अमेरिका सहित अनेक देश व महाद्वीपों में खेती ख़तरे में पड़ती जा रही है जहां उपग्रह संचार के विकिरण के कारण परागणकर्त्ता मधुमक्खियों, तितलियों व अन्य बहु–उपयोगी कीटों की संख्या आवश्यकता से भी कम हो चली है जबकि अधिकांश उपज इन्हीं के द्वारा संपन्न किये गए परागण के प्रसाद पर निर्भर है।
- विश्व में अब तक की सबसे बड़ी औद्योगिक त्रासदी के रूप में विश्वविख्यात् भोपाल गैस कांड के समीप की भूमि आज भी प्रदूषित है।

2. जैव–वैविध्य

- भोपाल गैस त्रासदी के कारण दूषित हुई मृदा एवं भूजल अब तक सामान्य नहीं हो पाए।
- जापान के हिरोशिमा व नागासाकी क्षेत्रों के दूर–दूर तक के अंचल जीवन के अधिकांश रूपों को पाल पाने में दशकों से अक्षम हैं।
- मूलतः ऑस्ट्रेलिया की प्रजाति नीलगिरि (यूकेलिप्टस) को भारत लाए जाने के कारण यह यहां की स्थानीय प्रजातियों के वृक्षों की संख्या घटने का कारण बन रही है।
- अंतर्राष्ट्रीय समुद्री परिवहन एवं यातायात के कारण मार्ग में बहे ईंधन के कारण ऐसी मत्स्य व प्रवासी पक्षी–प्रजातियों की संख्या निरंतर घटती जा रही है जिनकी संख्या पहले से चिंतनीय स्तर तक कम हो चुकी है।
- पूर्वोत्तरी भारत में ब्रह्मपुत्र नदी की बाढ़ में जंगली भैंसों, अत्यधिक दलदली बारहसिंघा व एक सींग वाले गैंडों के लिए विश्वप्रसिद्ध काजीरंगा राष्ट्रीय उद्यान व निकटवर्ती वनक्षेत्र के कई पशुओं को जल–समाधि लेनी पड़ती है।

3. मानव–स्वास्थ्य

- किसी भी आपदा के परिणामस्वरूप विकलांगता, मृत्यु अथवा भूमि सहित अन्य अचल व चल संपत्तियों की हानि होती है, अपनों के देहावसान के दुःख में अनेक व्यक्ति आत्महत्या कर लेते हैं अथवा जो जीवित हैं वे अवसाद इत्यादि मनोरोगों से घिर जाते हैं।
- भोपाल गैस त्रासदी से निपटने के कई प्रयासों के बावजूद अनेक ऐसे रोगी पुराने भोपाल में मिल जाएंगे जो गैसजन्य दुष्प्रभाव की चपेट में आकर नेत्रान्ध होकर अथवा अन्य प्रकार से अक्षम होकर आजीवन पराश्रित हो चुके हैं तथा अनेक पीढ़ियां रसायन–जनित आनुवंशिक रोगों से जूझ रही हैं।

टिप्पणी

- हरित क्रान्ति के नाम पर कृषि–रसायनों (रासायनिक उर्वरकों, पीड़कनाशियों इत्यादि) के प्रयोग से पंजाब की भूमि इतनी अधिक प्रदूषित हो गयी है कि वहां के स्थानीय किसान बड़ी संख्या में अपने–अपने भूखंड बेचकर सदा के लिए विदेश जा बसे हैं; या तो उपज घट चुकी है अथवा धरती दूषित अन्न उपजा रही है।
- दुग्धक्रान्ति की आड़ में विदेशी सांडों से देशी गायों का संकरण कराने से दुग्ध की मात्रा चाहे बढ़ा ली जाती हो परंतु गुणवत्ता घट जाती है जिससे दूध वास्तव में पूर्ण पोषक अथवा हानिरहित नहीं रह जाता।
- अधिक उत्पादन का लोभ लिए जैव–प्रौद्योगिकी द्वारा आनुवंशिक अभियांत्रिकी से तैयार की गयी आनुवंशिकतः रूपांतरित फसलें मानवसहित अन्य पशुओं के लिए भी अनेकप्रकारेण स्वास्थ्यहर सिद्ध हुई हैं; इस प्रकार खेती व पशुपालन में क्रमशः उपज, दूध की मात्रा तो बढ़ ली गयी परंतु रसायनों, विदेशी व संकरित बीजों एवं विदेशी पशुओं के माध्यम से गुणवत्ता घट गयी।

4. औद्योगिक परिभाषाएं

जैव–संचयनः जीव में किसी हानिप्रद रसायन, कार्बनिक यौगिक इत्यादि उस परिमाण में आते चले जाना जिस परिमाण में उसे शरीर द्वारा बाहर न निकाला जा सकता हो; इसे जैव–सांद्रण (बायो–कॉन्सण्ट्रेशन) द्वारा मापा जाता है।

जैव–आवर्द्धनः खाद्य–शृंखला के माध्यम से कोई हानिप्रद रसायन, कार्बनिक यौगिक इत्यादि आगे के स्तरों (पोषण–स्तर, उदाहणार्थ पौधे से शाकाहारी, फिर मांसभक्षी में और अधिक सांद्र) पर अधिक सान्द्रित होते चले जाना।

- दिल्ली, दक्षिणी व पश्चिमी भारत में किये गए विभिन्न परीक्षणों में पाया गया है कि मानव रक्त व दूध तक में विषाक्त रसायनों की मात्रा अनुमेय (पर्मिसिबल) मात्रा से कई गुनी हो चुकी है, इस प्रकार इन रसायनों का जैव–संचयन (बायो–एक्युमुलेशन) एवं पीढ़ी–दर–पीढ़ी जैव–आवर्द्धन (बायोमैग्निफ़िकेशन) हो रहा है।
- मिनामाटा रोग– जापान में पारद (मर्करी) विषाक्तता (1950 व 1960 के दशकों में)।
- भोपाल गैस त्रासदी (3–4 दिसम्बर सन् 1984)।
- औद्योगिक नालों के कारण मैंग्रूव–जीवन पर संकट।

5. वायु

- सन् 1952 का महाधुंध जिसके माध्यम से 4000 लन्दनवासी काल–कवलित हो गए।
- विश्व की विभिन्न खदानों में श्रमिकों को होने वाले रक्त व श्वसन–संबंधी रोग।

6. भूमि

- बांधों के निर्माण के कारण प्राकृतिक जल–असंतुलन (सीमित जल, बढ़ी लवणीयता, जल–भराव), बांधों के कारण उत्तराखंड में भूस्खलन एवं मृदा अपरदन।
- भूतापोन्नयन के परिणामस्वरूप सागरीय जलस्तर बढ़ने से तटीय स्थल निमग्न होना।

टिप्पणी

- बिना उपचार किये अपशिष्टों को भू–भरण (लैंड–फ़िलिंग) कर देने से मीथेन–रिसाव होने सहित मृदा की उर्वरता घटना एवं भूजल–संदूषण।

7. जल

- समुद्री मलबे।
- जलस्रोतों के तटों पर मानव–बसाहट व गतिविधियों के परिणामस्वरूप स्रोत में गाद का जमाव, उदाहरणार्थ कई तालाबों व झीलों तक की घटी संग्रहण–क्षमता को सामान्य करने के लिए ग्रीष्मकाल में गाद निकालने का कार्य बड़े पैमाने पर किया जाता रहता है क्योंकि मानव–बसाहट के कारण दूर–दूर के अपशिष्ट बहकर आकर उनकी तली में गाद के रूप में जम जाते हैं।
- भले ही नदियों को पूज्य माना गया हो परंतु धार्मिक कर्मकांडों एवं औद्योगिक बहिःस्रावों के कारण संसार के अधिकांश नैसर्गिक जलस्रोत अतिगंभीरता से प्रभावित हो गए हैं तथा सरोवरों व नदियों का जल बहुसंख्य प्रजातियों के लिए पेय नहीं रह गया है।

आपदाओं के विविध स्वरूप

मूल रूप से आपदाओं को प्राकृतिक व मानव–रचित आपदाओं के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। कारण को जानकर आपदा के प्रभावों को घटाने अथवा आपदा को रोकने के प्रयास किये जा सकते हैं। आपदा के विस्तार से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कितनी क्षतियां होने की संभावना है। इस प्रकार प्रभावों को अल्पतम करने की दिशा में कार्य किया जा सकता है। इसीलिए आपदाओं को उनके विस्तार के अनुसार भी वर्गीकृत किया जा सकता है। बड़े पैमाने पर हानि पहुंचाने वाली आपदाओं को दीर्घ आपदाएं जबकि व्यापक क्षति न पहुंचाने वाली आपदाओं को गौण आपदाएं कहते हैं।

1. प्राकृतिक आपदाएं

प्राकृतिक आपदाएं ऐसी संकटकारी घटनाओं को कहा जाता है जो नैसर्गिक रूप से होती हैं। ये पर्यावरण में आकस्मिक परिवर्तनों से उपजती हैं। प्राकृतिक आपदाओं के अंतर्गत भूकंप, चक्रवात्, ज्वालामुखी विस्फोट इत्यादि सम्मिलित हैं। इनसे जीवन की व्यापक हानि होती है एवं भौतिक परिसंपत्तियां नष्ट हो जाने से अत्यधिक वित्तीय घाटे भी होते हैं। इन आपदाओं का विस्तार न्यूनाधिक हो सकता है। प्राकृतिक आपदा–संभावित क्षेत्रों के लोगों को जागरुक करके बहुत कुछ नष्ट होने से बचाया जा सकता है। चक्रवात् आने की आशंका होने पर कुछ घण्टे पूर्व चेतावनी जारी की जाती है। भूकंप के आरंभिक झटके लगने पर भी भवनों से बाहर दूर किसी सुरक्षित स्थान चले जाने का पूर्वपरामर्श दिया जाता है ताकि ऊपर से कुछ गिरने से नीचे दबने से सुरक्षा हो सके।

आपदा से पूर्व भी सुरक्षात्मक सावधानियां बरतनी आवश्यक हैं। उदाहरण हेतु जिन क्षेत्रों में टेक्टोनिक प्लेट्स अत्यधिक निकट हों वहां भूकंप की आशंका बनी रहती है जबकि सक्रिय ज्लावामुखी के निकटवर्ती क्षेत्रों में विस्फोट की लावा व गैसें पहुंचने की संभावना रहती है। क्षेत्र–विशिष्ट आपदाओं से लोगों को बचाने के लिए राज्य व केंद्र शासन को पर्याप्त व्यवस्थाएं करके रखनी चाहिए ताकि क्षतियों को यथासंभव न्यूनतम

टिप्पणी

किया जा सके। आपदाओं के प्रभाव को घटाने अथवा निपटने की तैयारी करने में आधुनिक प्रौद्योगिकी भी उपयोगी हो सकती है, उदाहरणार्थ आकाशवाणी इत्यादि। अधोसंरचना एवं भवनों का विनिर्माण पर्यावरण–अनुकूल शैली में किया जाना चाहिए जिसके उदाहरण प्राचीन भारत की पुरातन परंपराओं में निहित हैं।

2. मानव–रचित आपदाएं

ये आपदाएं मानव–जनित होती हैं, अर्थात् मानव के कार्यकलापों से उत्पन्न होती हैं। ये भी जन–धन को गंभीर क्षतियां पहुंचाती हैं। ये पर्यावरण को प्रतिकूल रूप से प्रभावित कर देती हैं एवं परिणाम समूची अर्थव्यवस्था के लिए भी नाशकारी सिद्ध हो सकता है। मानव–रचित आपदाएं कई कारणों से आती हैं जिनमें से सबसे प्रमुख है मानव द्वारा प्राकृतिक प्रक्रियाओं की अनदेखी। आगज़नी, नागरिक–युद्ध, आतंकवाद इत्यादि दुर्घटनाएं साभिप्रेत (स+अभिप्रेत) अर्थात् जान–बूझकर की जाती हैं जबकि अन्य मानव–जन्य आपदाएं प्रौद्योगिक त्रुटियों अथवा औद्योगिक विस्फोटों के कारण आती हैं। औद्योगिक संस्थापना इत्यादि से पूर्व, दौरान व पश्चात् पर्याप्त सावधानियां बरतते हुए इन आपदाओं से सरलता से बचा जा सकता है।

प्राकृतिक व मानव–रचित आपदाओं में मुख्य अंतर

प्राकृतिक आपदा	मानव–रचित आपदा
इन्हें आने से नहीं रोका जा सकता परन्तु यदि पूर्वानुमान हो जाये तो बचा जा सकता है।	ये मानवीय पहुंच में होती हैं, अतः इन्हें आने से रोका जा सकता है।

पर्यावरणीय आपदाओं के प्रभाव

आपदा जिस भी प्रकार की हो, व्यापक जन–धन हानि तो होती ही है। पर्यावरण अनेक रूपों में क्षतिग्रस्त हो जाता है। कुछ प्रभाव अल्पकालिक तो कुछ दीर्घकालिक हो सकते हैं। प्रभाव की तीव्रता व परिमाण के अनुरूप तात्कालिक के साथ सुनियोजित उपचारों की आवश्यकता होती है। इन सबसे निपटना समय, श्रम व धन साध्य होता है। आपदा के कुप्रभावों को इन वर्गों में वर्गीकृत किया जाता हैः भौतिक नाश, भावनात्मक आघात्, आर्थिक चिंताएं, भूगोल पर प्रत्यक्ष/परोक्ष प्रभाव, पर्यावरण पर प्रभाव एवं मानवीय स्वास्थ्य चिंताएं।

1. भौतिक नाश : भवनों, आवासों, कार्यालयीन परिसरों, अधोसंरचना इत्यादि ध्वस्त होना। उदाहरणार्थ प्राकृतिक जलधाराओं को अपने लाभ के लिए मोड़कर बांध बनाने से आयी बाढ़ के कारण उत्तराखंड में हुए नाश का अनुमान आज तक कोई भी सटीकता से नहीं लगा पाया। आपदा की तीव्रता यदि सीमित हुई तो संभव है कि भौतिक हानि दिखे ही ना। प्राकृतिक आपदाओं की संख्या भले ही मानव–रचित आपदाओं से कम रहती हो परंतु इनका आयाम इतना अधिक होता है कि सतत् प्रयास करते रहने पर भी कई बार तो इनसे उबरने में दशकों लग जाते हैं। सड़कों व संचार–व्यवस्था के ध्वस्त हो जाने से प्रभावितों की सहायता कर पाना भी अति कठिन हो जाता है, जैसा कि सन् 2014 में जम्मू–कश्मीर की बाढ़ के प्रकरण में देखा गया।

टिप्पणी

मृत हो चुके अथवा खो गए परिजनों के दुःख में शेष परिजन जीवन पर व्यथित होते रहते हैं। दंगे व साम्प्रदायिक उपद्रव के समय प्रायः चुन–चुनकर क्षति पहुंचायी जाती है। प्रौद्योगिकीय आपदाओं से हुए नाश में विस्फोट अथवा अग्निप्रकोप के कारण पर्यावरण की भौतिक संपदाएं क्षत–विक्षत हो जाती हैं अथवा विलुप्ति की ओर बढ़ने लगती हैं।

2. **भावनात्मक आघात** :आपदा का स्वरूप जैसा भी हो, जीवित बचे जन मानसिक वेदना व उत्कट प्रतीत होने वाली पीड़ा से घिर जाते हैं। आवास एवं व्यापार नष्ट हो जाने से भी लोग मनोविकृतियों से जूझने लगते हैं।

आपदा के उपरांत तनाव के कारण अवसाद जैसे मनोविकार पनपने का भय रहता है। भोपाल गैस त्रासदी के पीड़ित अनेक जन अब भी मनोजैविक विकरों से ग्रसित जीवन जी रहे हैं।

3. **आर्थिक चिंताएं** : आर्थिक संसाधनों एवं/अथवा जीविका–स्रोत के छिन जाने से व्यक्ति, परिवार व समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जन व धन की क्षतिपूर्ति के प्रयास में अर्थव्यवस्था की बड़ी राशि खप जाती है। आर्थिक पुनरुद्धार के बिना आपदा के प्रभावों से पार पाना दुष्कर है। मन की भी अस्थिरता के कारण बहुत सारे नागरिक बेरोज़गार, असहाय अथवा दिवालये होते देखे गए हैं। ऐसी स्थितियों में व्यक्ति आपराधिक प्रवृत्तियों की ओर आकर्षित होता है जिससे विधान–व्यवस्था डगमगाने लगती है। आपदा से प्रभावित राज्य अथवा अंचल की शक्तिशाली अर्थव्यवस्था भी भंग हो सकती है। अर्थव्यवस्था थम–सी जाती है क्योंकि आर्थिक क्षतिपूर्ति के लिए धन की आवश्यकता बनी रहती है। आपदा के वित्तीय संकटों से निपटने के लिए आर्थिक नीतियों में संशोधन व आवश्यकतानुसार नवीन विधि–निर्माण किया जा सकता है। बड़ी आपदाओं के आर्थिक घाटों का आकलन करना सरल नहीं होता।

4. परोक्ष प्रभाव : ये प्रभाव स्पष्ट तो नहीं होते परंतु लोगों व पर्यावरण के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। उदाहरणार्थ चिकित्सा–सुविधाओं की तात्कालिक उपलब्धता प्रभावित हो जाने से आपदा–प्रभावितों के बच पाने की संभावना और सिमट जाती है।

आपात राहत दस्ते को आपदा–पीड़ितों पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए एवं पीड़ा–निवारण का यथासंभव उपाय करना चाहिए। वयोवृद्ध व्यक्तियों व गर्भवतियों के प्रकरण में यह सब और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। आपदा के एक अन्य प्रभाव में दुकानें बंद कर दी जाती हैं जिससे दिनचर्या की सामग्रियां सहज उपलब्ध नहीं रह जातीं व सामान्य जनजीवन भी प्रभावित होने लगता है। आपदा के उपरांत कुछ दिनों तक व्यापारिक कार्य बंद हो जाने से प्रभावित क्षेत्रों में तत्संबंधी सेवाओं व उत्पादों की उपलब्धता घट जाती है।

5. भौगोलिक संरचना पर प्रभाव : कभी–कभी आपदा के कारण किसी स्थान की भौगोलिक संरचना स्थायी रूप से बदल जाती है। उदाहरणार्थ सघन वन में आग लगा देने से दूर–दूर तक का पर्यावरण स्थायी रूप से क्षतिग्रस्त हो जाता है। एक और उदाहरण पहाड़ियों पर सड़कनिर्माण करने के कारण हुआ भूस्खलन है जिससे हुए भू–रूपांतर को पूर्ववत् कर पाना मानवीय सीमा से परे है। बाढ़ व भूकंप जैसी आपदाओं के कारण प्रभावित क्षेत्र की भौगोलिक स्थितियों में समुद्री परिवर्तन आ सकता है। भूखंड ढह अथवा बह जाने से स्थान आवास योग्य न रह जाने से पुनर्वास आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार समीपवर्ती अन्य स्थानों का जनसंख्या–घनत्व बढ़ जाता है एवं

जनसंख्या–असंतुलन और बढ़ सकता है। प्रभावितों को अस्थायी राहत प्रदान करने की दृष्टि से तैयार किये गए आसरों से भौगोलिक रूपाकृति में विकृति आ सकती है।

टिप्पणी

6. पर्यावरण पर प्रभाव : प्रभावित क्षेत्र में मनुष्यों सहित अन्य प्रजातियों पर भी दुष्प्रभाव पड़ते हैं। आपदाएं पहले से संकट में घिरी वन्य प्रजातियों के अस्तित्व के लिए नाशकारी सिद्ध हो सकती हैं। उपयुक्त स्थान की खोज में निकल पड़ने वाले वन्यजीव ऐसे स्थानों पर पहुंच सकते हैं जहां उनके फलने–फूलने के अवसर और अधिक सीमित हों। विभिन्न वनस्पति–प्रजातियों पर भी ख़तरा बढ़ सकता है।

7. स्वास्थ्यगत चिंताएं : आपदा के तात्कालिक स्वास्थ्यगत प्रभाव स्पष्ट रूप में दिखायी दे सकते हैं परंतु कुछ आपदाओं के प्रभाव आनुवंशिक स्तर पर पीढ़ियों तक जाते हैं। उदाहरणार्थ वायुमंडल में विषाक्त गैसों के दुर्घटनात्मक विस्फोट से अथवा हमारे खाद्य में कृषि–रसायन आ जाने से हमारे शरीर में उत्परिवर्तन हो सकता है जो कि भावी पीढ़ी में पहुंच जाएगा। इस प्रकार कैंसर, जन्मजात व जन्मपूर्व विकृतियों की आशंकाएं बढ़ जाती हैं। जनसंख्या के स्वास्थ्य पर आपदा के प्रभाव घातक शारीरिक चोटों तक सीमित नहीं होते वरन् हृदयाघात सहित कुछ मनो–विकृतियां आने की भी आशंका उत्पन्न हो जाती है।

2.2.1 वायु, जल एवं ध्वनि प्रदूषण

पर्यावरण प्रदूषण के निदान शीघ्रातिशीघ्र खोजे जाने आवश्यक है क्योंकि प्रदूषक को ऐसे जैविक, अजैविक अथवा भौतिक कारक (जैसे ऊष्मा, ध्वनि इत्यादि) अथवा पदार्थ के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसकी अधिकता से पर्यावरण का कोई भाग जीवनयोग्य न रह जाए। प्रदूषित वायु श्वास लेने योग्य नहीं होती, न ही पादप उसमें दक्षता से प्रकाश–संश्लेषण कर पाते हैं। प्रदूषित जल पेय नहीं रह जाता है। प्रदूषित मृदा या तो अनुर्वर (बंजर) हो जाती है अथवा उसमें उगाये गए पौधों में विषाक्तता होती है, उदाहरणार्थ घरेलु नालियों व औद्योगिक नालों के पानी से उगायी गयी फसलें पशुओं के लिए भी हानिप्रद सिद्ध होती हैं। वनाग्नि से उपजी अत्यधिक ऊष्मा एवं वाहनों के माध्यम से किया जाने वाला ध्वनि–प्रदूषण इंद्रियों (नेत्र, कर्ण इत्यादि) की क्षमताओं को क्षीण करता जाता है। प्रदूषक न प्रतीत होने वाले कुछ पदार्थ भी प्रदूषणकारी हो सकते हैं, यथा कृषि में प्रयोग किये जाने वाले रसायनों के कारण भूमि का पोषक–संतुलन तो बिगड़ता ही है, साथ ही भूजल व तालाब–सरोवर का भी दूषित हो जाता है। प्रदूषक अनेक रूपों में सामने आ सकते हैं : ठोस, द्रवीय, गैसीय अपशिष्ट अथवा ऊर्जा।

ठोस अपशिष्ट– घरेलू दैनिक अवशिष्ट, राख, कृषि–अपशिष्ट, औद्योगिक अपशिष्ट इत्यादि।

द्रवीय अपशिष्ट– कार्बनिक तरल, अकार्बनिक अम्ल, क्षार, कारखानों के बहिःस्राव इत्यादि।

गैसीय अपशिष्ट– कार्बन मोनोऑक्साइड, नाइट्रोजन डाइ–ऑक्साइड, सल्फ़र डाइ–ऑक्साइड इत्यादि।

ऊर्जात्मक अपशिष्ट– ऊष्मा, ध्वनि, रेडियोएक्टिव पदार्थ इत्यादि।

कुछ प्रदूषक जैव– अपघट्य होते हैं जबकि अन्य ऐसे नहीं होते। जैव–अपघट्य प्रदूषक वास्तव में सामान्य अवशिष्ट हो सकते हैं, यथा पशु–पालन केंद्रों एवं खाद्य–प्रसंस्करण

शालाओं से निकाले जाने वाले पदार्थ जो प्रायः कार्बनिक स्वरूप लिए होते हैं। जैव–अनपघट्य पदार्थों के अंतर्गत रासायनिक पीड़कनाशी, भारी धातुएं (सीसा इत्यादि) एवं इनके लवण, प्लास्टिक, कांच इत्यादि सम्मिलित हैं।

टिप्पणी

प्रदूषकों के भौतिक रूप (ठोस, द्रव, गैस, ऊर्जा) एवं पर्यावरण के प्रकार (वायु, जल, भूमि) के आधार पर प्रदूषण को छः मुख्य वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है– (1) वायु–प्रदूषण; (2) जल–प्रदूषण; (3) भू–प्रदूषण; (4) ध्वनि–प्रदूषण; (5) तापीय प्रदूषण; (6) विकिरण प्रदूषण

प्रदूषण के प्रभाव

प्रदूषण के प्रभाव व्यापक होते हैं। प्रदूषण पारितंत्र में जटिल परिवर्तनों की शृंखला को आरंभ कर सकता है; जलीय अथवा वन्य जीवन हेतु संकटकारी हो सकता है; ऐसे प्रसुप्त रोगाणु उत्पन्न हो अथवा फैल सकते हैं जो संक्रामक रोग के कारक के रूप में सक्रिय हो सकते हैं; प्रदूषक जीवनदायी घटकों का नाश करके जीवन–संभावनाओं को सीमित अथवा समाप्त कर सकते हैं; अन्य प्रदूषकों के साथ मिलकर पर्यावरण पर अज्ञात परिणामों का भार डाल सकते हैं।

प्रदूषण के प्रकारों व उपचारात्मक उपायों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है–

1. वायु–प्रदूषण

वायु (प्रदूषण बचाव एवं नियंत्रण) अधिनियम 1981 में 'वायु–प्रदूषक' एवं इसके संदर्भ में वायु–प्रदूषण को परिभाषित किया गया है– "वायु–प्रदूषक ऐसे ठोस, द्रवीय अथवा गैसीय पदार्थ (ध्वनि सहित) को कहा जाता है जो वायुमंडल में इस सांद्रण/परिमाण में उपस्थित होते हैं कि मानव अथवा अन्य जंतुओं सहित पेड़–पौधों अथवा अजैविक संरचनाओं को हानि पहुंचा सकते हैं। वायु–प्रदूषण का तात्पर्य वायुमंडल में वायु–प्रदूषक की उपस्थिति है। इस संबंध में 'उत्सर्जन' की परिभाषा भी प्रासंगिक है। उत्सर्जन का आशय प्रायः ऐसे ठोस, द्रव अथवा गैसीय पदार्थ से होता है जिसे किसी चिमनी, नाली अथवा अन्य किसी निर्गम से निकाला जाता है। ऐसे 'मानकों' व प्रावधानों का निर्धारण किया गया है जिनसे हानिप्रद उत्सर्जन पर अंकुश रखा जा सके। पृथ्वी की वायु का लगभग 95 प्रतिशत् भाग निम्नतर स्तर अर्थात् क्षोभमंडल (ट्रोपोस्फ़ियर) में है। प्राकृतिक अवस्था में वायु में 78 प्रतिशत् नाइट्रोजन, 21 प्रतिशत् ऑक्सीजन, 0.4 प्रतिशत् कार्बन डाइ–ऑक्साइड व अतिअल्प मात्राओं में अन्य गैसों सहित जलवाष्प होती है। हमारे ग्रह की 0.5 प्रतिशत् वायु ऊपरी स्तरों समतापमंडल (स्ट्रेटोस्फ़ियर) इत्यादि में ओज़ोन सहित अन्य गैसों के साथ होती है।

वायु–प्रदूषक प्राथमिक अथवा द्वितीयक हो सकते हैं। कार्बन डाइ–ऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड्स, सल्फ़र डाइ–ऑक्साइड, कार्बन मोनोऑक्साइड (ये सभी जीवाश्म ईंधनों के दहन से निर्मित होते हैं) सहित एरोसॉल्स एवं CFC व कणीय पदार्थ प्राथमिक वायु–प्रदूषक हैं जबकि द्वितीयक वायु–प्रदूषक अम्लवर्षा एवं ओज़ोन हैं। सल्फ़र डाइ–ऑक्साइड व नाइट्रोजन डाइ–ऑक्साइड वायुमंडल के जल से संयुक्त हो जाते हैं एवं सूर्यप्रकाश से अभिक्रिया करते हुए अम्ल–बिंदुकों का निर्माण कर लेते हैं। ये अम्ल–बिंदुकें वर्षाजल के साथ धरती पर आ जाती हैं।

टिप्पणी

वायु–प्रदूषण के स्रोत

वायु–प्रदूषण के स्रोत नैसर्गिक अथवा मानवजनित हो सकते हैं। इन स्रोतों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

नैसर्गिक स्रोत– ज्वालामुखीय विस्फोट, वनाग्नि, समुद्री लवण की बौछारें, जैविक क्षरण, भारासायनिक (फ़ोटोकेमिकल) ऑक्सिडेशन, भू–इतर पिंड, भू–पर्पटी (अर्थ–क्रस्ट) में उपस्थित रेडियोएक्टिव खनिज इत्यादि किंतु इन्हें प्रायः वास्तविक प्रदूषक तत्वों में नही गिना जाता क्योंकि या तो ये परिमाण में सीमित रहते हैं अथवा इनकी आवृत्ति इतनी कम होती है कि मानवजनित प्रदूषण–स्रोतों की तुलना में ये नगण्य लगते हैं।

मानव जनित स्रोत– तापीय विद्युत संयंत्र, औद्योगिक इकाइयां, वाहन–उत्सर्जन, जीवाश्म ईंधन–दहन, कृषि–रसायनों का बुरकाव व छिड़काव, जलाऊ लकड़ी का प्रयोग इत्यादि। भारत में तापीय विद्युत संयंत्र विद्युत–उत्पादन व वायु–प्रदूषण के मुख्य केंद्र हैं, इनसे लाए एश व SO_2 जैसे घातक प्रदूषक बाहर आ जाते हैं। मानव ने निर्वनीकरण करके वायु–प्रदूषकों के अवशोषकों अर्थात् वनक्षेत्रों को भी स्वयं उजाड़ा है। धातुकर्म–संबंधी संयंत्रों में भी कोयले की खपत की जाती है एवं उपरोक्त प्रदूषकों का उत्सर्जन किया जाता है।

रासायनिक उर्वरकों के संयंत्र, गलन–इकाइयां, कपड़ा–कारखाने, कागज़ व लुगदी चक्कियां सहित अन्य रासायनिक उद्योग भी वायु–प्रदूषण के अन्य बड़े स्रोत हैं। ऑटोमोबाइल उद्योग व यंत्रों से निकलने वाला धूम्र एक अन्य मुख्य प्रदूषक है।

भवन के भीतर वायु–प्रदूषण– इस श्रेणी में रेडॉन गैस मुख्य वायु–प्रदूषक है जिसके कारण प्रतिवर्ष बहुत–से लोग फुफ्फुस कैंसर के माध्यम से काल के गाल में समा जाते हैं। यह गैस ईंटों, कॉन्क्रीट व टाइल्स जैसी विनिर्माण–सामग्रियों से उत्सर्जित होती रहती है। भारत जैसे अनेक विकासशील व अविकसित देश कोयला, कंडा (उपल), जलाऊ लकड़ी व केरोसिन इत्यादि का प्रयोग रसोईघर में किये जा रहे हैं। ईंधन के पूर्ण दहन से कार्बन डाइ–ऑक्साइड निकलती है जो वायुमंडल में विषाक्तता बढ़ा देती है परंतु अपूर्ण दहन से और अधिक विषाक्त गैस कार्बन मोनोऑक्साइड निकलती है।

वायु–प्रदूषण के प्रभाव

- **मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव** : घर अथवा कार्यस्थल पर प्रदूषित वायु के संपर्क में रहने से अथवा धूम्रपान के द्वारा शरीर की रोग–प्रतिरोधक क्षमता क्षीण होती चली जाती है। परिणामस्वरूप फुफ्फुस कैंसर, अस्थमा, दीर्घावधिक (क्रोनिक) ब्रोंकाइटिस इत्यादि की आशंकाएं घेर लेती हैं। अनेक तत्व तो आनुवंशिक पदार्थ के साथ मिलकर उत्परिवर्तन के कारक बन जाते हैं, प्रजनन–समस्याएं उत्पन्न करते हैं तथा धातुओं की विषाक्तता के प्रकरण विकासशील व विकसित दोनों देशों में बहुत मिल जाते हैं।
- **पादपों पर प्रभाव** : रंध्रों के माध्यम से विषाक्त तत्वों का प्रवेश पादप–शरीर में हो जाता है जिससे या तो पादप की पुष्पन–फलन क्षमता घट जाती है अथवा वह नष्ट हो जाता है, दोनों स्थितियां पर्यावरण के लिए अत्यधिक हानिप्रद हैं।

भोपाल गैस त्रासदी के कारण ऐसे अनेक वृक्ष (विशेषतया पीपल के पेड़) देखे गए थे जिनकी पत्तियां प्रदूषकों को अत्यधिक अवशोषित कर लेने से रातोंरात काली पड़ गयीं थीं।

टिप्पणी

- **जल जीवन पर प्रभाव** : विशेषतया वायुयानों व औद्योगिक संक्रियाओं से निकले विषाक्त धूम्र में उपस्थित घातक रसायन वायु में मिलकर अम्लवर्षा के रूप में नीचे नैसर्गिक जलस्रोतों में घुल जाते हैं, इस प्रकार मत्स्यजीवन अत्यधिक दुष्प्रभावित होता है। कुछ लवणमुक्त सरोवरों में तो सभी मत्स्य मृत पायी जा चुकी हैं।
- **सामग्रियों पर प्रभावः** संक्षारकों के क्षयकारी प्रभावों के कारण वायु के प्रत्यक्ष संपर्क में रहने वाली सतहें कणित होने लगती हैं अर्थात् सूक्ष्म कणों के रूप में टूट–टूट कर बिखर जाती हैं। राजस्थान व गुजरात के पुरातन पर्यटनस्थलों के राजप्रासाद जो अब तक भव्य आभा लिए हुए थे उन पर वायु–प्रदूषण के प्रभाव परिलक्षित होने लगे हैं।

वायु–प्रदूषण पर नियंत्रण

वायु–प्रदूषण के नियंत्रण व शमन में लिए निम्नलिखित उपाय अपनाये जा सकते हैं–

- पर्याप्त पर्यावरणीय प्रभाव मूल्यांकन अध्ययन करने के उपरांत ही उद्योग–स्थापना।
- उद्योगों में कम गंधक वाले कोयले का प्रयोग।
- कोयले से गंधक हटाकर (जीवाणुओं की सहायता से अथवा प्रक्षालन द्वारा)।
- दहन–प्रक्रिया के दौरान NOx की उपयुक्त निकासी द्वारा।
- धूम्र–निकासी के मार्ग में इलेक्ट्रोस्टेटिक अवक्षेपकों, बैग–हाउस फ़िल्टर्स, सायक्लोन सेपरेटर्स, स्क्रबर्स इत्यादि लगाकर गैसों से कणों को हटाकर।
- वाहन–प्रदूषण पर अंकुश रखने के लिए इन्जिन्स का नियमित परीक्षण, कन्वर्टर्स का प्रयोग, इन्जिन रूपांतरण ताकि ईंधन–प्रभावी (दक्ष) मिश्रण के माध्यम से CO व हायड्रोकार्बन उत्सर्जन घटाना तथा NOx उत्सर्जन घटाने के लिए ईंधनों का दहन धीमा व शीतलता के साथ करना (होंडा टेक्नोलॉजी)।
  - o बायसाइकल्स सहित सार्वजनिक परिवहन प्रणाली का उपयोग।
  - o अल्प अथवा शून्य प्रदूषणकारी ईंधनों (हायड्रोजन अथवा अन्य) का प्रयोग।
  - o ऊर्जा के अक्षय स्रोतों का उपयोग।
  - o जैविक निस्यंदकों एवं bio-scrubbers का प्रयोग।
  - o अधिकाधिक वृक्षारोपण।
  - o वायु–प्रदूषण नियंत्रण अधिनिसम का क्रियान्यवन दृढ़ता से कराकर।

2. जल–प्रदूषण

जल–प्रदूषण का आशय जल के भौतिक, रासायनिक अथवा जैविक गुणधर्मों में ऐसे परिवर्तन से है जिससे इसे ज्यों–का–त्यों उपयोग में नहीं लाया जा सकता।

जल–प्रदूषण के स्रोत

जीवन के लिए जल एक आधारतत्व है। पीने, खाना पकाने, स्नान, प्रक्षालन, सिंचाई व औद्योगिक संक्रियाओं में जल की महत्ता तो सर्वविदित हैं किंतु जल पृथ्वी को

टिप्पणी

जीवन–आवास बनाने में बहुसंख्य प्रकारों से प्रत्यक्ष व परोक्ष रूपों में अनेक महत्तापूर्ण भूमिकाएं निभाता है। जल को सार्वत्रिक विलायक माना जाता है परंतु इसी विशेषता के कारण प्रदूषक भी इसमें सरलता से विलीन हो जाते हैं, इन पदार्थों को जल–प्रदूषक कहा जाता है। जलप्रदूषण के मुख्य स्रोत उद्योग, विद्युत–संयंत्र, भूमिगत कोयला खदानें एवं समुद्रतटीय तैल–कूप इत्यादि हैं।

भूजल–प्रदूषण एवं सतही जल–प्रदूषण

- **भूजल–प्रदूषण** : आकलनानुसार पृथ्वी पर उपलब्ध कुल जल का 6.2 प्रतिशत् भाग भूमिगत जल के रूप में है, यह सतही जल (अर्थात् झीलों, नदियों इत्यादि) से तीन गुना अधिक है। सेप्टिक टैंक, उद्योग (विशेषतया कपड़ा, रसायन एवं चर्म), गहन कूप खुदाई, खनन इत्यादि के कारण सर्वाधिक भूजल–प्रदूषण होता है जो कि अनुत्क्रमणीय है अर्थात् पूर्व–स्थिति में लौटा जाना असंभवतुल्य हो जाता है। आर्सेनिक, फ्लोराइड एवं नाइट्रेट से प्रदूषित भूजल गंभीर स्वास्थ्य–संकटों का सृजक होता है।

भूजल एवं सतही जल प्रदूषण के मुख्य स्रोत निम्नानुसार हैं–

1. मलजल।
2. औद्योगिक बहिःस्राव।
3. सांश्लेषक अपमार्जक।
4. कृषि रसायन (उर्वरक, पीड़कनाशी व परिरक्षक)।
5. तैल।
6. अपशिष्ट ऊर्जा।

जल–प्रदूषण के प्रभाव

जल–प्रदूषण के कुछ प्रभाव नीचे दर्शाये जा रहे हैं–

- ऑक्सीजन–आपेक्षी पदार्थों का निर्माण अर्थात् ऐसे रसायन बनना जो ऑक्सीजन से क्रिया कर लेते हैं, इस प्रकार और अधिक हानिप्रद रसायनों का निर्माण होने लगता है अथवा/एवं जल में विलीन ऑक्सीजन की कमी हो जाने से जलीय जंतु कुप्रभावित होते हैं।
- नाइट्रोजन व फ़ॉस्फ़ोरस यौगिक (पोषक कहलाने वाले इन यौगिकों का आधिक्य हानिप्रद होता है)।
- रोगजनक।
- विषाक्त यौगिक।
- जलजन्य रोग।
- पेयजल समझे जाने वाले जल में पीड़कनाशी आ जाने से विभिन्न स्वास्थ्य–समस्याएं पनपती हैं। DDT, एल्ड्रिन, डाइ–एल्ड्रिन इत्यादि को प्रतिबन्धित किये जाने के बाद भी ये जैव–संचयन (बायो–एक्युमुलेशन) व जैव–आवर्द्धन (बायो–मैग्निफ़िकेशन) के माध्यम से अब तक मनुष्यों के रुधिर में उपस्थित हैं।
- हाल ही में आंध्रप्रदेश में एंडोसल्फ़ान–संदूषित काजू के सेवन के कारण लोग विभिन्न असामान्यताओं से जूझते पाए गए।

टिप्पणी

जल–प्रदूषण पर नियंत्रण

विधि–निर्माण (कानून बनाकर) पॉइण्ट स्रोतों से होने वाले जल–प्रदूषण पर अंकुश लगाना सरल है। वैसे सुस्पष्ट रणनीति के बिना तो नॉन–पॉइण्ट स्रोतों से जल–प्रदूषण रोकना अत्यंत कठिन है। नॉन–पॉइण्ट स्रोतों से होने वाले जल–प्रदूषण को घटाने के निम्नांकित उपाय सफल हो सकते हैं–

- कृषि–रसायनों, विशेषतः पीड़कनाशियों व उर्वरकों के उत्पादन व आयात् को निषिद्ध किया जाए, यदि इसमें कुछ सप्ताह लगने की संभावना हो तो तब तक के लिए इन रसायनों के विज्ञापनों को अभी से सदा के लिए प्रतिबन्धित कर दिया जाए।
- नाइट्रोजन पूर्ति हेतु नाइट्रोजन–स्थिरीकरण पादपों एवं अन्य मृदा–पोषकों के लिए भी विशेष पादपों एवं सूक्ष्मजीवों का उपयोग किया जाए। कृषि के पुरातन वैभव की ओर लौटकर गोबर–खाद व केंचुआखाद जैसे देसी रूपों को प्रोत्साहित किया जाए।
- एकीकृत पीड़क प्रबंधन अपनाना ताकि पर्यावरण व मानवस्वास्थ्य को क्षति पहुंचाये बिना अपना कार्य किया जा सके।
- पोषक–समृद्ध जल का भी प्रयोग किया जा सकता है तथा नदियों व अन्य जलस्रोतों की गाद निकालने, गहनीकरण के परिणामस्वरूप निकाली गयी मिट्टी खेतों में डालने की दृष्टि से पोषक मानी जाती है।
- मलजल एवं वर्षाजल की निकासियों को पृथक् किया जाए।, अभी तो अनेक स्थानों पर वर्षाजल मलजलकेंद्रों में मिल जाता है जिससे शुद्ध जल भी (तुरंत अत्यधिक) प्रदूषित हो जाता है।
- अधिकतम वृक्षारोपण (विशेषतया जलस्रोतों के तटों पर) से प्रदूषण का निवारण किया जा सकता है क्योंकि पादप–प्रजातियां अपनी जड़ों में प्रदूषकों को खींचकर उनका विघटन कर देती हैं तथा प्रदूषित वायु से भी प्रदूषकों को पत्तियों द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है, इस प्रकार अम्लवर्षा से भी रक्षा हो जाती है; प्राचीन भारत में नैसर्गिक सौंदर्य बढ़ाने के लिए पगडंडियों व नदियों के किनारे सघन वृक्षारोपण की परंपरा हुआ करती थी।
- औद्योगिक बहिःस्रावों का पर्याप्त उपचार किया जाए व तत्पश्चात् कृत्रिम तालाबों में उसे एकत्र किया जाए जहां नौकायन व अन्य औद्योगिक कार्यकलापों का संचालन भी किया जा सकता है।

3. ध्वनि–प्रदूषण

हमें प्रतिदिन विभिन्न प्रकार की ध्वनियां सुनायी देती हैं। ध्वनि तो यांत्रिक ऊर्जा का एक रूप है जो कंपनरत् स्रोत द्वारा उत्पन्न की गयी होती है। खिन्नताजनक (अनप्लीज़ेण्ट) एवं अवांछित ध्वनि आने को ध्वनि–प्रदूषण (शोर) कहा जाता है। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण मंडल ने भिन्न–भिन्न स्थानों के लिए अनुमेय (पर्मिसिबल) ध्वनि–स्तरों की मात्रा निर्धारित की है।

टिप्पणी

ध्वनि–प्रदूषण के प्रभाव

- मानव–संवाद में हस्तक्षेपः ध्वनि–प्रदूषित क्षेत्र में मानवों का पारस्परिक संवाद प्रभावित होता है।
- पशु–व्यवहार में परिवर्तनः मैथुन, संतान–पालन इत्यादि स्वभावगत कार्यों के लिए विभिन्न पशु–पक्षी मीलों दूर से विशेष ध्वनियां (जो हमें सुनायी नहीं देतीं अथवा अतिमंद प्रतीत होती हैं) उत्पन्न करके अपनी प्रजाति के अन्य सदस्यों से संपर्क स्थापित करते हैं परंतु ध्वनि–प्रदूषित स्थिति लायी जाने से ये उस क्षेत्र का त्याग कर देते हैं अथवा/एवं इनका पारस्परिक संपर्क न हो पाने से प्रजाति में जीवों की संख्या घटती जाती है।
- श्रवणक्षतिः तीव्र ध्वनि अकस्मात् सुनायी दे जाने अथवा साधारण ध्वनि बारम्बार कर्ण में पड़ने से अस्थायी अथवा स्थायी रूप से सुनने की शक्ति अर्थात् श्रवण–क्षमता घट जाती अथवा समाप्त हो जाती है। यह ध्वनि की अवधि व उसकी तीव्रता पर निर्भर है।
- कुछ मिनट्स से अधिक अवधि तक मध्य–उच्च आवृत्ति में 90 dB (डी.बी.) ध्वनि–स्तर होने से श्रव्य–संवेदनशीलता घट जाती है।
- दैहिक व मानसिक परिवर्तनः ध्वनि–प्रदूषण के संपर्क में रहने से शरीर के विभिन्न तंत्रों की कार्य–प्रणाली क्षीण होने लगती है। परिणामस्वरूप उच्चरक्तचाप, अनिद्रा, जठरांत्रीय रोग, मस्तिष्कीय विकृतियां एवं पाचनसंबंधी इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं।

ध्वनि–प्रदूषण पर नियंत्रण

- ध्वनि–प्रदूषण के स्रोतों की संख्या व इनकी प्रबलता में कमी।
- ध्वनि–उत्पादक यंत्रों को ऐसे पात्रों के भीतर रखा जाना चाहिए जिनमें ध्वनि–अवशोषक माध्यम लगाया गया हो।
- ध्वनि–रोधकों को ऐसे परिसरों की दीवारों लगा देना चाहिए जहां से ध्वनि–प्रदूषण को बाहर जाने से रोका जा सके।
- साउंड–एब्ज़ॉर्बिंग सायलेन्सर्स का प्रयोग। ये सायलेन्सर्स ध्वनि को अवशोषित करके उसे धीमा कर देते हैं। इस प्रयोजन के लिए विभिन्न प्रकार की तंतुमयी (रेशेमयी) सामग्रियों का प्रयोग किया जा सकता है।
- कार्य–स्थलों में ध्वनि–मार्ग पर ऐसे अवरोध लगा देने चाहिए कि जिनसे ध्वनि श्रमिकों तक न पहुंच सके।
- सुचारु रूप से तेल (ग्रीस व अन्य स्नेहन) प्रयोग करने से यंत्रों से निकलने वाली ध्वनियों को धीमा रखा जा सकता है।
- अधिक से अधिक वृक्षारोपण किया जाए, विशेषतया चौड़े अथवा/एवं मोटे पत्ते वाले, यथा कटहल, पारस पीपल, सागौन, पलाश; वृक्षों की पंक्तियां प्राकृतिक ध्वनि–अवरोधक का कार्य करती हैं।
- कठोर अधिनियमों के निर्माण व कार्यान्वयन के माध्यम से सुनिश्चित किया जाए कि विभिन्न समारोहों में प्रयुक्त ध्वनि की सीमा क्या हो, कहां–कहां ध्वनि–विस्तारकों का प्रयोग नहीं करना है (उदाहरणार्थ वनक्षेत्रों में)।

टिप्पणी

4. तापीय–प्रदूषण

तापीय प्रदूषण का अभिप्राय वायु, जल अथवा स्थल पर अत्यधिक अथवा अनपेक्षित ऊष्मा की उपस्थिति से है जिसके कारण पर्यावरण में अवांछनीय परिवर्तन आ सकते हैं। ताप–विद्युत संयंत्रों, नाभिक ऊर्जा–संयंत्रों, परिष्करण–शालाओं एवं इस्पात–चक्कियों इत्यादि ऊष्मा–उत्पादक उद्योगों की गणना तापीय प्रदूषण के प्रमुख स्रोतों में की जाती है।

तापीय प्रदूषण के प्रभाव

- जल का विलीन ऑक्सीजन अंश घट जाता है क्योंकि उच्च तापक्रम में जल में ऑक्सीजन की विलयशीलता कम हो जाती है।
- तापक्रम उच्च होने से गहन शीतल जल में ऑक्सीजन का प्रवेश निषेध–सा हो जाता है क्योंकि सामान्य से अधिक तापक्रम एक अवरोध बन जाता है।
- तापक्रम बढ़ने से वायु व जल के प्रदूषकों की प्रबलता बढ़ जाती है जिस कारण पीड़कनाशी, अपमार्जक एवं अन्य रसायन अधिक प्रभावी अथवा सक्रिय हो जाते हैं।
- वनस्पतिजात व जंतुजात का संघटन बदलने लगता है क्योंकि सामान्य अथवा अल्प तापक्रम में रहने वाली प्रजातियां साधारणतया उच्च तापक्रम को सहन नहीं कर पातीं, इस प्रकार कार्यिकी (फ़िज़ियोलॉजी) प्रभावित हो जाने से वृद्धि–दर व प्रजननशक्ति क्षीण होती है।
- जैव–वैविध्य कुप्रभावित हो जाता है क्योंकि ऊष्मा–प्रघात न सह पाने वाली प्रजातियों का लोप होने लगता है व ताप के प्रति सहनशील प्रजातियां असाधारण रूप में एकाधिकार जमा लेती हैं।
- तापक्रम स्थायी रूप से बढ़ने पर जलीय जीवों की उपचयापचयी (मेटाबॉलिक) क्रियाएं सामान्य से तुलना में तीव्र हो जाने से ऑक्सीजन की आवश्यकता बढ़ जाती है तथा श्वसन व पाचन इत्यादि दैहिक तंत्रों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं।
- विशेषतया बाह्य निषेचन (शरीर के बाहर युग्मनज का निर्माण) वाली प्रजातियों के जलांडक से नवजात जीवित निकलने की संभावना सिमट जाती है एवं नवजात के प्रौढ़ बनने के अवसर भी घट जाते हैं; समुद्रतटों, मरुस्थलों व हिम क्षेत्रों में यह प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है।
- विशाल जलभंडारों में भिन्न–भिन्न तापीय क्षेत्र बन जाने अर्थात् जल के ऊष्मीय विभाजन से प्रवासी मत्स्य व पक्षी प्रजातियों को तत्काल गंभीर क्षति पहुंचती है; इनकी प्रतिरक्षण–क्षमता (इम्युनिटी), प्रजनन–दर एवं जीवन–प्रत्याशा (लाइफ़–एक्स्पेक्टेन्सी) क्षीण अथवा समाप्त हो जाती है।

तापीय–प्रदूषण पर नियंत्रण

अनेक विधियों को अपनाकर तापीय प्रदूषण पर अंकुश लगाया जा सकता है, जैसे–

- शीतलन सरोवर (कूलिंग पॉड्स): एक कृत्रिम सरोवर बनाकर विद्युत अथवा ऐसे अन्य संयंत्रों तक इस जल का आपूर्ति करना ताकि ताप बढ़ने से रोका जा सके।
- छिड़काव कुंड (स्प्रे पॉड्स): संयंत्रों से निकले उष्ण जल को यहां–वहां छिड़ककर एवं वाष्पीकरण द्वारा शीतल करना।

- कूलिंग टॉवरः यह एक ऊष्मा–निर्गम उपकरण है जिसके द्वारा अपशिष्ट ऊष्मा को निष्कर्षित करके अधिक ऊष्ण जल का उष्णत्व कम करते हुए उसे वायुमंडल में छोड़ा जाता है।

टिप्पणी

5. समुद्री–प्रदूषण

समुद्री–प्रदूषण के प्रमुख स्रोत निम्नांकित हैं–

- समुद्र में समाने वाली नदियों में उड़ेला जाने वाला नगरीय अपशिष्ट, उदाहरणार्थ उत्तराखंड में गंगोत्री से निकली गंगा विभिन्न अंचलों की यात्रा में स्थानीय निवासियों (उद्योगों सहित) द्वारा इतनी अधिक प्रदूषित कर दी जाती है कि पश्चिम बंगाल में अपने अंतिम रूप गंगासागर के रूप में यह बंगाली की खाड़ी में चरम प्रदूषित अवस्था में मिलती है।
- प्रवाहित होने वाली व सदानीरा जलधाराओं एवं सागर–तटों के आसपास मानव–बसाहट (विशेषतया होटल्स व अन्य वाणिज्यिक संकुल)।
- तेल–खुदाई एवं जहाज–परिवहन।

अधिकांश नदियां अंततोगत्वा सागरों में जा समाती हैं। इन्हें अपने उद्‌गम से लेकर मार्ग में मानवों द्वारा उड़ेले गए प्रदूषकों को साथ लेकर बहना पड़ता है; इस प्रकार ये प्रदूषक लवणमुक्त जल के स्रोतों (नदी–सरोवर इत्यादि) के जीवन को तो कुप्रभावित करते ही हैं (जैसे कि घड़ियाल, गांगेय डॉल्फ़िन को), बाद में समुद्री जलजीवन को भी दुष्प्रभावित करते हैं, उदाहरणार्थ कच्छप (कछुआ) व मगरमच्छों को।

समुद्री प्रदूषण के प्रभाव

जलीय प्रदूषकों से मात्र जलीय जीवन ही नहीं अपितु स्थलीय प्रजातीय जीवन भी संकट में पड़ जाता है, उदाहरण के लिए पॉलिथीन/प्लास्टिक्स व कांच के कारण विभिन्न प्रवासी पक्षी मृत पाए गए हैं तथा शिशु अपना आहार समझ इन कृत्रिम व रासायनिक पदार्थों को निगल लेते हैं।

मलजल व रासायनिक कृषि–रसायनों के कारण प्रदूषित जल में जलकुंभी व शैवालों की असामान्य वृद्धि देखी गयी है (इसे शैवाल इत्यादि की अतिवृद्धि अर्थात् ईयूट्रोफ़िकेशन कहा जाता है) जिससे वायुमंडल से जल का प्रत्यक्ष संपर्क भंग हो जाता है अथवा जल–सतह पर इन शैवालों अथवा जलकुभियों का आवरण बन जाने से जल में विलीन ऑक्सीजन की मात्रा कम पड़ जाती है व वायुमंडलीय ऑक्सीजन जल में नहीं आ पाती जिससे जलीय जीव–संख्या घटती चली जाती है। विशेषतया दुर्दम्य (रिकेल्सिट्रेण्ट) पदार्थ या तो अपरिवर्तित रहते हैं अथवा इनका आंशिक विघटन ही हो पाता है जिससे समुद्री प्रदूषण होता है।

समुद्रों को प्रदूषित करने के मुख्य कारकों में इनकी भी गणना की जाती हैः टैंकर्स एवं अन्य जहाजीय साधन, पेट्रोलियम व परिष्करण शालाएं, स्नेहन–तेल प्रयोग करने वाले उद्योग, धातु व पैंट उद्योग, ऑटोमोटिव अपशिष्ट–प्रक्रमण केंद्र, जहाजीय दुर्घटनाएं एवं सागर–तटों के निकट किये जाने वाले औद्योगिक उत्पादन।

समुद्रजल में बह चुका तेल बड़े क्षेत्रफल तक प्रसारित हो जाता है एवं या तो सतह पर अटक जाता है अथवा नीचे अवसाद में जम जाता है। दोनों ही स्थितियों में समुद्री जीवन अत्यंत दुष्प्रभावित होता है।

टिप्पणी

समुद्री–प्रदूषण पर नियंत्रण

- उद्योगों व मलजल उपचार संयंत्रों के विषाक्त प्रदूषकों को समुद्री जल में नहीं बहाया जाना चाहिए।
- नॉन पॉइण्ट स्रोतों से बहकर आने वाली धाराओं को समुद्रतटीय क्षेत्रों तक पहुंचने से रोका जाना चाहिए।
- मल–जल को खुले में बहने से रोकें तथा वर्षाजल को इससे मिलने से रोकने के लिए यदि पृथक् से पाइपलाइन बिछाने की आवश्यकता तो बिछायें।
- विषाक्त, संकटप्रद अपशिष्ट व मलजल आपंक को गर्त–भरण (डपिंग) किया जाना निषिद्ध किया जाए।
- समुद्रतटीय क्षेत्रों में वैकासिक गतिविधियां न्यूनतम रखी जाएं।
- सर्विस स्टेशन्स से निकाले जाने वाले तैल व ग्रीस को पुनरुपयोग के लिए प्रक्रमित (प्रोसेस्ड) किया जाए।

6. मृदा–प्रदूषण

मृदा पृथ्वी की पर्पटी की सबसे ऊपरी परत है जो कि शैलों (चट्टानों) की अपक्षय (वेदरिंग) से निर्मित होती है। मृदा में उपस्थित कार्बनिक पदार्थों के कारण इसमें जीवन का पनपना संभव हो पाता है। विभिन्न औद्योगिक व घरेलू सामग्रियों, अपशिष्ट पदार्थों को यहां–वहां फेंकने अथवा गड़ाने से मृदा प्रदूषित हो जाती है। घरेलू सामग्रियों के अंतर्गत दैनिक कूड़ा–कर्कट, कांच, प्लास्टिक, धातु, कागज़, रेशे, पात्र एवं रासायनिक रंग–रोगन सम्मिलित हैं। अपशिष्ट–भरण स्थलों व मलजल–टंकियों से हुए रिसाव हानिप्रद एवं विषाक्त होते हैं जो कि मृदा को दूषित कर देते हैं।

ताप–विद्युत्–गृहों से निकाली गयी राख के कारण मृदा बड़े पैमाने पर प्रदूषित हो जाती है। ढेर सारे भांति–भांति के अपशिष्ट प्रतिदिन धरती माता के गर्भ में बलपूर्वक धंसा/ठूंस दिये जाते हैं। औद्योगिक अपशिष्टों में भी कई कार्बनिक व अकार्बनिक पदार्थ हठी अथवा अदम्य (रिफ़्रेक्टरी) एवं जैव–अनपघट्य होते हैं।

रासायनिक परिमार्जक युक्त मानवमल में अनेक रोगकारक सूक्ष्मजीव होते हैं जिनसे मृदा दूषित होती है।

मृदा–प्रदूषण के प्रभाव

मृदा को दूषित करने वाले मलजल व औद्योगिक बहिःस्राव अंततया मानव स्वास्थ्य को भी प्रभावित करते हैं। अम्ल, क्षार, पीड़कनाशी इत्यादि रसायन औद्योगिक निकासियों से आकर मृदा में मिल जाते हैं। ये मृदा के जैविक संघटन को हानि पहुंचाकर उर्वरता को घटाते हैं क्योंकि इनकी उपस्थिति से मृदा के भौतिक, रासायनिक व जैविक गुणधर्मों में परिवर्तन आ जाता है।

कई विषाक्त रसायन मृदा से होकर फसलों में पहुंचते हैं। इस प्रकार खाद्य–शृंखला एवं खाद्य–जाल में इन रसायनों का जैव–संचयन (बायोएक्युमुलेशन) व जैव–आवर्द्धन

(बायो–मैग्निफ़िकेशन) होता रहता है। मलजल के आपंक में अनेक प्रकार के रोगजनक कीटाणु व सूक्ष्मजीव होते हैं, इन विषाणुओं, जीवाणुओं व कवकों के कारण आंत्र–कृमि व अन्य प्रकार के रोग पनपने का भय रहता है, विशेषतया पाचन–तंत्र संबंधी।

टिप्पणी

मृदा–प्रदूषण पर नियंत्रण

- बहिःस्रावों को मृदा में छोड़ने से पहले उन्हें कृत्रिम गर्त अथवा विशेष संग्रहण–स्थान में एकत्र करके उपचारित करना चाहिए।
- ठोस अपशिष्टों को विधिवत् एकत्र करके उपयुक्त विधियों द्वारा निपटान किया जाए।
- अपशिष्टों से उपयोगी घटकों को निकाल लेना चाहिए तथा शेष का या तो पुनरुपयोग करें अथवा उन्हें अल्प प्रदूषणकारी रूपों में विघटित कर दें।
- जैव–अपघट्य कार्बनिक अपशिष्टों, गोबर व नाइट सॉइल का उपयोग बायोगैस एवं मीथेन उत्पादन के लिए किया जाए।
- जैव–अपघट्य पदार्थों का सूक्ष्मजैविक विघटन भी एक ऐसा वैज्ञानिक प्रयास है जिससे मृदा–प्रदूषण का निवारण किया जा सकता है, इसे मृदा–सूक्ष्मजैविक उपचार (सॉइल माइक्रोबियल रेमिडियेशन) कहा जाता है।

7. नाभिक संकट

रेडियोएक्टिव पदार्थ निसर्ग में व्याप्त हैं, इनका नैसर्गिक रेडियोएक्टिव क्षरण होता रहता है जिसमें अस्थिर समस्थानिकों का सतत् उत्पादन होते रहने से तीव्र वेग के कण उत्पन्न होते हैं एवं/अथवा उच्च ऊर्जा के विकिरण उत्पन्न होते हैं, यह प्रक्रिया नियत दर पर तब तक होती रहती है जब तक कि नवीन स्थिर समस्थानिक न बन जाए। ये कण व विकिरण कागज़ व काष्ठ से तो होकर गुज़र सकते हैं परंतु कॉन्क्रीट की दीवार से रुककर ये ढेलों अथवा जल का निर्माण करते हैं। विभिन्न प्रकार के विकिरणों से होने वाली क्षति इन विकिरणों की वेधन–क्षमता पर एवं शरीर के भीतर व बाहर कवचों की उपस्थिति एवं इनके प्रकार पर निर्भर है।

नाभिक प्रदूषण–नियंत्रण

- नाभिक विद्युतसंयंत्रों की स्थापना मरुस्थलीय क्षेत्रों में एवं जीवन से बहुत दूर की जानी चाहिए, वह भी दीर्घकालिक व लघुकालिक प्रभावों का अध्ययन सजगता से करने के पश्चात्।
- रेडियो–समस्थानिकों के प्रयोग वाली प्रयोगशालाओं के अपशिष्टों का सुचारु निपटान किया जाए।

8. ठोस अपशिष्ट प्रबंधन

निरंतर बढ़ायी जा रही जनसंख्या के मापदंड तथाकथित रूप से उच्चतर होते चले जाने से उत्पन्न किये जाने वाले अपशिष्टों की मात्रा व भिन्नता भी बढ़ी है। अब इस तथ्य को स्वीकार किया जाने लगा है कि यदि अपशिष्ट–उत्पादन को वर्तमान अविवेकी रूप में जारी रखा गया तो स्थिति शीघ्र ही नियंत्रण से परे हो जाएगी। इसीलिए ठोस अपशिष्ट प्रबंधन अति महत्तापूर्ण होता जा रहा है ताकि इन अपशिष्टों के हानिप्रद प्रभावों

को न्यूनतम किया जा सके। ठोस अपशिष्ट अनेक प्रकार का होता हैः नगरपालिकागत, औद्योगिक, कृषिगत, चिकित्सात्मक, खनन–अपशिष्ट एवं मलजल आपंक।

टिप्पणी

नगरीय व औद्योगिक अपशिष्टों के स्रोत

ये अपशिष्ट अधिकांशतः चिकित्सालयों के चिकित्सात्मक अपशिष्टों, मानव–बसाहट से निकाले गए अपशिष्टों (नगरपालिकागत अपशिष्ट), कार्यालयों व बाज़ारों के अपशिष्ट (वाणिज्यिक अपशिष्ट) के रूप में होते हैं तथा दुकानों व अन्य प्रसंस्करण केंद्रों से निकाले जाने वाले अपशिष्ट भी उपरोक्त श्रेणी में आते हैं। जिन अपशिष्टों का अपघटन सूक्ष्मजीवों द्वारा संभव हो उन्हें जैव–अपघट्य अपशिष्ट कहते हैं एवं जिन अपशिष्टों का अपघटन सूक्ष्मजीवों द्वारा न किया जा सके उन्हें जैव–अनपघट्य अपशिष्ट कहा जाता है।

जैव–अपघट्य अपशिष्टः सब्जियों की कतरनें, फलों की छीलन, चाय की पत्तियां।

जैव–अनपघट्य अपशिष्टः कांच, प्लास्टिक, विभिन्न छोटे–बड़े उपकरणों में प्रयुक्त धात्त्विक औजार इत्यादि।

औद्योगिक अपशिष्टों के अंतर्गत बहुत सारी सामग्रियां सम्मिलित होती हैं, यथा कारखानों का कूड़ा–कर्कट, पैकेजिंग आवरण, कार्बनिक अपशिष्ट एवं अम्ल। औद्योगिक प्रक्रमण के दौरान भी अनेक विषाक्त सामग्रियों व संकटप्रद पदार्थों एवं क्रियाओं की उत्पत्ति होती है।

ठोस अपशिष्टों के प्रभाव

सुचारु निपटान प्रणाली न होने से नगरपालिकागत ठोस अपशिष्ट सड़कों पर जमा हो जाता है। लोग अपने घरों का अपशिष्ट बाहर निकालकर गली–मोहल्ले में फेंक देते हैं जिससे वे स्वयं व आसपास के अन्य जन प्रभावित होते हैं। इस प्रकार यहां–वहां बिखेरा गया जैव–अपघट्य ठोस अपशिष्ट अनियत्रित स्थितियों में अपघटित होता है जिससे अस्वास्थ्यकर वातावरण बन जाता है। इससे दुर्गन्ध भी पनपती है एवं विभिन्न प्रकार के कीट व संक्रामक जीव जन्म लेने लगते हैं। उस स्थान का सौंदर्य भी क्षत–विक्षत होता ही है।

औद्योगिक ठोसापशिष्ट में विषाक्त धातुएं व अन्य संकटप्रद तत्व होते हैं जो भूमि पर फैलकर एवं जल में घुलकर भौतिक–रासायनिक व जैविक अभिलक्षणों में परिवर्तन ला सकते हैं, इस प्रकार मृदा की उत्पादकता क्षीण होती जाती है। विषाक्त पदार्थ विक्षालन (लीचिंग) द्वारा अथवा निथरकर भूजल में सीधे जाकर उसे संदूषित कर सकते हैं।

ठोस अपशिष्ट का प्रबंधन

मानव ज्यों–ज्यों सामुदायिक बसाहट में रहने लगा, त्यों–त्यों ठोस अपशिष्ट चिंता का विषय बनता गया क्योंकि आधुनिक समाजों में पुरातन मानव की अपेक्षा अत्यधिक अपशिष्ट उत्पादित किया जाता है। औद्योगिकीकृत राष्ट्रों में छोटे–छोटे शहरों से भी कई टन्स अपशिष्ट प्रति सप्ताह उत्पन्न किया जाता है। यह अपशिष्ट मात्र घरों से नहीं अपितु कारखानों से भी निकाला जाता है। ठोस अपशिष्ट प्रबंधन ऐसी प्रणाली है जिसमें

इन ठोसों को संभाला जाता है। पुनर्चक्रण कार्यक्रम, भू–भरण (लैंड–फ़िलिंग) एवं भस्मीकारक (इन्सीनरेटर्स) इसकी कुछ प्रचलित विधियां हैं।

टिप्पणी

अपशिष्ट–प्रबंधन हेतु हमें अपशिष्टों के नाश व सुरक्षित भंडारण सहित निम्नांकित बिंदुओं को ध्यान में रखना होगा–

- कच्चे मालों के उपयोग में कमी लाएं।
- अपशिष्ट सामग्रियों का पुनरुपयोग।
- सामग्रियों का पुनर्चक्रण।

अपशिष्ट–निपटान के लिए निम्नांकित विधियां प्रयोग की जा सकती हैं–

- स्वच्छतापूर्ण भू–भरण।
- खाद–निर्माण।
- भस्मीकरण।

2.2.2 तापीय एवं आणविक प्रदूषण

ग्रीनहाउस प्रभाव ऐसी प्रक्रिया है जिसमें ऊष्मीय विकिरण को वायुमंडलीय ग्रीनहाउस गैसों द्वारा ग्रह–सतह से अवशोषित कर लिया जाता है व समस्त दिशाओं में पुनर्विकिरित (री–रेडियेट) कर दिया जाता है। चूंकि पुनर्विकिरण का एक भाग धरती की ओर निम्नतर वायुमंडल में आता है इसलिए ग्रीनहाउस गैसों के बढ़े सांद्रण वाले वायुमंडल का तापक्रम सामान्य से अधिक हो जाता है।

सौर विकिरण के स्वरूप

सौर विकिरण में मुख्यतः तीन प्रकार के विकिरण होते हैं–

(अ) **दृश्य प्रकाशः** इसके कारण हम देख पाते हैं, इससे तापक्रम नहीं बढ़ता।

(आ) **अवरक्त प्रकाशः** इसके कारण तापक्रम बढ़ता है, धूप की दैहिक अनुभूति इसी के कारण होती है।

(इ) **पराबैंगनी विकिरणः** यदि वायुमंडल में ओज़ोन परत अक्षुण्ण (साबुत) हो तो इस विकिरण का अधिकांश भाग धरती तक नहीं आ पाता परंतु वायुमंडल में प्रदूषकों की उपस्थिति के कारण यह सुरक्षात्मक परत पतली हो जाने व कहीं–कहीं छिद्र बन जाने के कारण यह पराबैंगनी प्रकाश अधिक मात्रा में धरती तक आ जाता है जिससे विभिन्न त्वचा व रुधिर–विकार होने लगते हैं तथा आनुवंशिक विकृतियां जन्म ले लेती हैं।

दृश्य प्रकाश की आवृत्तियों पर सौर विकिरण वायुमंडल से होकर गुज़रता है एवं ग्रह की सतह को उष्णत्व प्रदान करता है, तदुपरांत यह ऊर्जा अवरक्त ऊष्मीय विकिरण की निम्नतर आवृत्तियों पर उत्सर्जित हो जाती है।

अवरक्त प्रकाश को ग्रीनहाउस गैसों द्वारा अवशोषित किया जाता है जिस कारण पृथ्वी पर्याप्तता के स्तर पर उष्ण (गर्म) बनी रहती है व जीवन को प्रश्रय प्रदान करती है परंतु ग्रीनहाउस गैसों की मात्रा व संख्या में मानव के कारण हुई वृद्धि से अवरक्त प्रकाश पर्याप्तता के स्तर से अधिक उष्ण हो जाता है जो कि जीवजगत के लिए

टिप्पणी

हानिकारक है। अवरक्त विकिरण को ग्रीनहाउस गैसों द्वारा अवशोषित कर लेने से यह विकिरण बहुत सारी ऊर्जा को सतह एवं निम्नतर वायुमंडल पर पुनर्विकिरित करता है। इस क्रियाविधि का नामकरण तब किया गया जब कांच से होकर गुज़रने वाले सूर्य–प्रकाश के प्रभाव में ग्रीनहाउस को ऊष्मित पाया गया परंतु इसमें ऊष्मा का ठहराव मूलतः भिन्न प्रकार से होता है क्योंकि ग्रीनहाउस में वायुप्रवाह घट जाता है, उष्ण वायु को संरचना के भीतर विलग कर लिया जाता है जिससे संवहन द्वारा ऊष्मा का गमन नहीं हो पाता। यदि किसी आदर्शतः ऊष्मीय चालक श्यामकाय को सूर्य से पृथ्वी जितनी दूरी पर रखा जाए तो उसका तापक्रम 5.3 °C होगा। वैसे पृथ्वी द्वारा सूर्य से आगत प्रकाश के 30 प्रतिशत् भाग को परावर्तित कर दिया जाता है जिससे इस ग्रह पर तापमान आदर्श अर्थात् प्रभावी स्थिति में बन रहता है। इस ग्रह का सतही तापमान 33°C कम है जबकि पृथ्वी का वास्तविक सतही तापमान लगभग 14 °C है। जिस क्रियाविधि के माध्यम से वास्तविक सतही तापक्रम एवं प्रभावी तापक्रम के मध्य यह अंतर उत्पन्न होता है वायुमंडल की उस क्रियाविधि को ग्रीनहाउस प्रभाव के नाम से जाना जाता है।

पृथ्वी का नैसर्गिक ग्रीनहाउस प्रभाव इसे जीवन–क्षम बनाता है। वैसे मानवों की अमानवीय प्रवृत्तियों, यथा जीवाश्म ईंधन–दहन एवं वन–नाश (निर्वनीकरण) के कारण उत्पन्न व बढ़ा दी गयी ग्रीनहाउस गैसों से वायुमंडल का ग्रीनहाउस प्रभाव असंतुलित हो गया है जिससे वैश्विक भूतापोन्नयन का संकट आया है।

ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन के प्रभाव

वायुमंडल में ग्रीनहाउस गैसों को छोड़े जाने से ऊष्मन (वॉर्मिंग) होते रहने से पर्यावरण, मानवस्वास्थ्य व अर्थव्यवस्था पर कई कुप्रभाव पड़ते हैं।

पर्यावरणीय प्रभाव

- समग्रता में औसत वार्षिक ताप–वृद्धि।
- समुद्रस्तर बढ़ना एवं वैश्विक तापोन्नयन के कारण तटीय क्षेत्रों में बाढ़–प्रकोप।
- तूफानों एवं ऊष्मीय तरंगों की आवृत्ति एवं तीव्रता में अभिवृद्धि।
- वनजीवन द्वारा उष्ण जलवायु को अपनाने में कठिनता।

मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव

- बारम्बार तापक्रम बढ़ने, विशेषतया अकस्मात् बढ़ने से निर्जलीकरण व लू लगने इत्यादि से होने वाली मृत्यु की आशंका बढ़ जाती है तथा स्थानीय ताप–परिवर्तनों में अनियमितता आ जाने रुधिर–परिसंचरण तंत्र व तंत्रिका तंत्र भी प्रभावित होने लगता है।
- तापक्रम बढ़ने एवं दूषित वायु इन दो कारकों का संगम हो जाने से श्वसन व हृद्वाहिकीय (कार्डियोवेस्क्युलर) समस्याएं उपजती हैं एवं कुछ विशेष प्रकार के कैंसर हो जाने की आशंका हो जाती है।
- जल–, खाद्य–, वाहक–(वेक्टर–) एवं कृंतक–जन्य (रोडेण्ट–बोर्न) रोग शीघ्र होने लगते हैं व तत्संबंधी अतिसार इत्यादि रोगों का प्रसार भी तीव्र हो जाता है।

टिप्पणी

आर्थिक प्रभाव

- परिवर्तनशील मौसमी प्रारूपों के कारण कृषि, वानिकी, पर्यटन इत्यादि में भी परिवर्तन आ सकता है।
- घर–घर में एकानेक परिजनों के बिगड़ते स्वास्थ्य के कारण चिकित्सात्मक व्यय बढ़ जाता है।
- चरम मौसम–स्थितियों के कारण उत्पन्न आपदाओं (बाढ़ अथवा चक्रवात्) से अधोसंरचना (भवन एवं सेतु) को क्षति पहुंचने से राजस्व–घाटा उठाना पड़ता है एवं पारिवारिक व सामाजिक स्तरों पर भी वित्तीय क्षतियां होती हैं।

ओज़ोन परत का क्षरण

विभिन्न प्रकार के वायु–प्रदूषक पर्यावरण को गंभीर हानियां पहुंचा रहे हैं। वैश्विक तापोन्नयन के अतिरिक्त और भी ऐसी बड़ी क्षतियां हैं जिनसे पारितंत्र दुष्प्रभावित हो रहा है जिसके एक भाग हम भी होने से अन्य प्रजातियों सहित हम पर भी प्रभाव पड़ते हैं। ओज़ोन परत–क्षरण एक विश्वस्तरीय क्षति है। तीन ऑक्सीजन परमाणुओं वाला एक ओज़ोन अणु कार्बन मोनो–ऑक्साइड से क्रिया कर लेता है जिससे कार्बन डाइ–ऑक्साइड व ऑक्सीजन की उत्पत्ति होती है। कार्बन मोनो–ऑक्साइड अत्यधिक क्रियाशील गैस है जो वाहनों के धूम्र से अस्थिर अणु के रूप में व्युत्पन्न होती है। ऊपरी वायुमंडल में उपस्थिति ओज़ोन की सघन परत सूर्य से आने वाले घातक पराबैंगनी विकिरण को हर लेती है। इस प्रकार ओज़ोन की स्थूल (मोटी) परत पराबैंगनी विकिरण के मार्ग में प्राकृतिक निस्यंदक (नैचुरल फ़िल्टर) बनी रहती है। इस परत के कृश (पतले) पड़ने अथवा इसमें छिद्र हो जाने से हम सुरक्षात्मक आवरण की रक्षा से वंचित हो जाएंगे। ओज़ोन गैस को कृत्रिम रूप से उपजाने की कोई विधि नहीं होती क्योंकि यह गैस अत्यधिक अस्थिर है एवं कार्बन मोनो–ऑक्साइड गैस से तत्काल क्रिया कर लेती है।

ओज़ोन अणु जब पराबैंगनी विकिरण को अवशोषित करता है जो यह अणु द्वि–परमाण्विक ऑक्सीजन व मुक्त मूलक में परिणत हो जाता है। प्रशीतकों (रेफ़्रिजरेटर्स) से उत्सर्जित होने वाला क्लोरोफ्लोरोकार्बन(CFC) एक और ऐसा अणु है जो पर्यावरण के लिए अत्यंत संकटकारी होता है। उपरोक्त अणु पर वैद्युत–चुम्बकीय विकिरण का प्रभाव पड़ने से क्लोरीन की उत्पत्ति होती है जो ओज़ोन के प्रति अत्यधिक क्रियाशील होती है।

इस प्रकार व्युत्पन्न क्लोरीन अणु ओज़ोन से क्रिया कर लेता है व ओज़ोन को मिटा देता है। निर्मित क्लोरीन ऑक्साइड अस्थिर प्रवृत्ति का होता है एवं ओज़ोन के एक और अणु से क्रिया कर लेता है जिससे दो द्विपरमाण्विक ऑक्सीजन व एक क्लोरीन अणु की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह क्लोरीन अणु आगे भी अन्य ओज़ोन अणुओं के क्रिया करता चला जाता है व कुल ओज़ोन अणुओं की संख्या घटती जाती है। औसतन प्रत्येक क्लोरीन अणु को हायड्रोजन जैसे तत्व मिलने में दो वर्ष लग जाते हैं, ऐसे तत्वों के मिलने पर ही यह स्थिर यौगिक (जैसे कि इस उदाहरण में हायड्रोजन क्लोराइड) बना पाता है। इस अवधि में यह न जाने कितने ओज़ोन अणुओं को द्विपरमाणुविक ऑक्सीजन अणुओं में परिणत कर चुका होता है। इसका प्रयोग मुख्यतः वातानुकूलितों में एवं अभियांत्रिकीय उपकरणों को स्वच्छ करने के नाम पर किया जाता

टिप्पणी

था। इसका प्रयोग अब प्रशीतकों में प्रतिबन्धित है तथा जागृति बढ़ने से भी इसके प्रयोग में कमी आयी है।

CFC जैसे जो पदार्थ ओज़ोन परत के नाश के कारण बनते हैं उन्हें ओज़ोन–नाशक पदार्थ कहा जाता है। इस श्रेणी के पदार्थों में गंधक अम्ल, फ़ेरॉन्स इत्यादि सम्मिलित हैं। एरोसॉल्स में भी ओज़ोन–नाशक पदार्थ होते हैं, अतः इनके प्रयोग से दूर ही रहें तो बेहतर।

अम्लीय–वर्षा

वायु–प्रदूषण के परिणामस्वरूप अम्लीय–वर्षा होने से उस वर्षा–जल में गंधक अम्ल व नाइट्रिक अम्ल होता है जिससे साधारण जीवन सहित समुद्री जीवन विशेष रूप में कुप्रभावित हो जाता है। औद्योगिक व वाहन–उत्सर्जनों से निकली सल्फ़र डाइ–ऑक्साइड व नाइट्रस ऑक्साइड वर्षा के जल–बिंदुकों से मिल जाती हैं जिस कारण हुई वर्षा अम्लीय रूप में आती है। चूंकि जैवमंडल में समस्त अवयव परस्पर जुड़े हुए हैं, अतः वायु–प्रदूषण के कारण जल भी प्रदूषित होता है। कार्बन डाइ–ऑक्साइड वायुमंडल में बढ़ने से जल का भी तापक्रम बढ़ जाता है जो कि वैश्विक भूतापोन्नयन का एक मुख्य कारक है क्योंकि कार्बन डाइ–ऑक्साइड एक ग्रीनहाउस गैस है जिसकी मात्रा वायुमंडल में निर्धारित स्तर से अधिक हो जाने पर सौर विकिरण अधिक अवशोषित होने लगते हैं तथा वायुमंडल के प्रत्यक्ष संपर्क में रहने वाला जलमंडल भी सामान्य से अधिक ऊष्मित होने लगता है। तापक्रम में वृद्धि के सापेक्ष हिमाच्छादित शिखर एवं हिमभंडार सामान्य से अधिक परिमाण व तीव्रता से पिघलने लगते हैं जिससे जलस्रोतों में स्तर–वृद्धि हो जाती है (नदियों व झीलों में पहले तो बाढ़ आती है फिर पानी की कमी पड़ जाती है तथा समुद्रों का जलस्तर लगभग स्थायी रूप से बढ़ जाता है)।

जल–प्रदूषण के दुष्प्रभाव सभी पर पड़ते हैं किंतु विकासशील देश अधिक प्रभावित होते हैं क्योंकि यहां संदूषित जल के कारण जल–जन्य रोग पहले से ही अधिक आवृत्ति व तीव्रता में फ़ैले जा रहे हैं। ज्वालमुखी विस्फोट इत्यादि नैसर्गिक कारणों से भी जलस्रोतों में गंधक की मात्रा बढ़ सकती है परंतु ऐसी घटनाएं मानव–जनित कारकों के समक्ष नगण्य संख्या व मात्रा में हैं।

ध्रुव–गलन

आर्कटिक (उत्तरी ध्रुव) में तापोन्नयन का तीव्र प्रभाव दिख रहा है। इस क्रम में जल के हिमभंडार पिघलते जा रहे हैं जिससे समस्त महाद्वीप संकटासन्न स्थिति की ओर बढ़ रहे हैं। हिममृदा (पर्माफ़्रॉस्ट सॉइल) गलने से मृदा में संचित कार्बन निकल जाता है व जब हिमवन (टैगा/बोरियल जंगल) व अन्य वनों में आग लगती है तो वृक्षों का कार्बन जलकर वायुमंडल में मुक्त हो जाता है एवं मृदा की उर्वरता घट जाती है। विडम्बना यह है कि ये समस्त प्रभाव अन्य अंचलों के उत्सर्जनों के कारण हो रहे वैश्विक तापोन्नयन से जुड़ जाते हैं। दक्षिणी ध्रुव (अण्टार्कटिक) में अण्टार्कटिक प्रायद्वीप–अर्जेण्टाइना व चिली के दक्षिण–पूर्व में परिवर्तन द्रुत गति से होता दिखायी दे रहा है।

ध्रुवों में होने वाले परिवर्तनों से स्थानीय व वैश्विक समस्याएं पनपेंगी। हिमभंडारों के पीछे खिसक जाने (जैसे कि गंगोत्री हिमभंडार प्रतिवर्ष अपेक्षाकृत तीव्रता से पीछे

टिप्पणी

जाता जा रहा है) व आर्कटिक में ग्रीनलैंड हिमावरण के संकुचन से लवणमुक्त जलस्रोतों समाप्त होने लगेंगे व महासागरीय जलस्तर बढ़ेगा। ध्रुवीय अंचलों का तापक्रम असाधारण रूप से घट जाने से ध्रुवीय वनस्पति व जंतुओं की विलुप्ति निकट लग रही है। ध्रुवीय क्षेत्रों से सम्बन्धित विज्ञान को उन्नत करने की दिशा में इण्टर्गवर्न्मेंटल पेनल ऑन क्लाइमेट चेन्ज (IPCC) व इंटर्नेशनल आर्कटिक साइन्स कमिटी जैसे संगठनों द्वारा महत्तापूर्ण भूमिकाएं निभायी जा रही हैं।

समुद्रस्तर में वृद्धि

जलवायु–परिवर्तन के सबसे गंभीर प्रभावों में समुद्रस्तर–वृद्धि की गणना की जाती है। समुद्रस्तर में कुछ सेंटीमीटर्स की वार्षिक वृद्धि भी विश्व का ध्यान आकर्षित करने के लिए पर्याप्त है। मैदानी क्षेत्रों में बसे देशों को इससे सर्वाधिक हानि है। छोटे–छोटे द्वीपों का देश मालदीव तो अपने निवासियों को निकटवर्ती परदेशों में बसाने की योजना बनाने जा रहा है ताकि जलमग्न होने से पूर्व नागरिकों को सुरक्षित स्थान पर सदा के लिए पहुंचाया जा सके। इस वृद्धि से तटवर्ती अंचलों में मृदा–अपरदन व भूस्खलन की आशंका भी बलवती रहती है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय रूप से यह विषय चर्चा का केंद्रबिंदु बनता जा रहा है।

वैश्विक माध्य महासागरीय जलस्तर बढ़ रहा है एवं सुदूर भविष्य में जल–प्रलय जैसी स्थिति आने की आशंका सताये जा रही है। यह स्तर–वृद्धि विगत शताब्दियों से अधिक तीव्र हो गयी है। ध्रुवीय हिमभंडारों का पिघलना इसी गति से जारी रहा तो आगामी 4–6 दशकों में हो सकने वाली 1–2 मीटर्स वृद्धि विशाल देशों के लिए भी दैनिक चिंता का विषय बन जाने वाली है। समुद्रस्तर में इस वृद्धि के तात्कालिक प्रभावों के रूप में तटवर्ती आवास उजड़ने, समुद्री तूफ़ानों की आवृत्ति बढ़ने व मैंग्रोव सहित प्रवाल–भित्ति प्रभावित होने के उदाहरण अभी से स्पष्ट होने लगे हैं। भू–भौतिक स्थितियों के अनुरूप भू–तापोन्नयन एवं समुद्रस्तर–वृद्धि के प्रभावों में भिन्नता हो सकती है। समुद्रस्तर–वृद्धि के संभावित पर्यावरणीय प्रभावों में से कुछ निम्नानुसार हैं–

- चक्रवात् इत्यादि से तटीय अधोसंरचना को होने वाली क्षति बढ़ना।
- तटवर्ती मृदा–क्षरण।
- सागर–तटीय स्थितियों में परिवर्तन आ जाने से सुरक्षात्मक नैसर्गिक अवरोधों का नाश हो जाएगा।
- लवणीय जल लवणमुक्त जलस्रोतों में मिल जाने के कारण पेयजल की आपूर्ति और अधिक दयनीय हो सकती है।
- स्थलमंडल का भूजलस्तर बढ़ जाने से ऐसे क्षेत्र भी बाढ़ की चपेट में आने लगेंगे जहां आज तक बाढ़ की संभावना भी नहीं थी।

  उपरोक्त प्रभावों के संग द्वीपों के निमग्न होते जाने से मानव व अन्य प्रजातियों के लिए आवास की कमी और विकराल रूप धारण कर लेगी तथा विभिन्न अनुपातों के समस्याओं के ऐसे विचित्र संयोजन उभरेंगे जिनके विषय में कभी कल्पना तक नहीं की गयी।

टिप्पणी

2.2.3 प्रदूषण नियंत्रण में स्थानीय एवं वैश्विक भूमिका

स्थानीय तौर पर प्रदूषण रोकने में प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका अति महत्वपूर्ण होती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक कार्यकलापों का प्रभाव राज्य व राष्ट्रस्तर पर तो पड़ता ही है अपितु महाद्वीपीय सीमाओं के उस पार भी होता है। यह मनुष्य का उत्तरदायित्व है कि इस धरती का शासक बनने का स्वप्न त्यागकर स्वयं व परिवेश की अन्य प्रजातियों को संभाले। प्रत्येक व्यक्ति के साधारण–से प्रयास अथवा छोटी–सी पहल से भी विश्व पर प्रभाव पड़ता है, फिर चाहे वह प्रत्यक्ष रूप में दिखे अथवा न दिखे। स्थानीय प्रयास प्रभावोत्पादकता के संदर्भ में वैश्विक साबित होता है। इस संदर्भ में कहा जा सकता है– "वैश्विकरूपेण विचारो, स्थानीयरूपेण कारो"।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवनशैली को इस प्रकार रूपांतरित कर सकता है कि जिसमें पर्यावरणीय प्रदूषण न्यूनतम हो। निम्नांकित उपायों द्वारा ऐसा किया जाना संभव है–

- प्रदूषण–नियंत्रण से भी अधिक ज़ोर प्रदूषण न होने देने को दें।
- पर्यावरण–अनुकूल उत्पादों व क्रियाओं का अपनायें।
- CFCs के प्रयोग से दूरी बनायें क्योंकि ये ओज़ोन–परत के नाशक हैं, अतः पॉलिस्टायरीन कप्स का प्रयोग न करें; कम्प्यूटर चिप्स, सर्किट बोड्र्स इत्यादि स्वच्छ करने के लिए CFCs के बजाय आड़ू व आलूबुखारा से निष्कर्षित जैविक तत्वों को उपयोग में लाएं; CFCs–मुक्त प्रशीतकों (रेफ्रिजरेटर्स) का प्रयोग करें।

  ऐसे उपकरणों व यंत्रों के निर्माण एवं प्रचालन को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए जो प्रदूषण नहीं करते। स्वच्छ ईंधनों (जैसे हायड्रोजन) का प्रयोग करते हुए वायु–प्रदूषण से बचा जा सकता है।

प्रदूषण रोकने हेतु वैश्विक स्तर पर मानव मात्र में निम्नांकित परिवर्तन आवश्यक हैं–

- जीवाश्म ईंधनों (कोयला अथवा तेल) अपनी निर्भरता घटायें।
- बिजली व जल की जितनी मात्रा वास्तव में आवश्यक हो उतनी ही प्रयोग करें।
- नवीकरणीय ऊर्जा–स्रोतों को अपनायें व जन–जन में इनका प्रसार करें।
- ऊर्जा–दक्षता बढ़ायें ताकि अपशिष्ट ऊर्जा का परिमाण घटाया जा सके।
- पुनरुपयोग व पुनर्चक्रण को यथासंभव बढ़ावा दें ताकि अपशिष्ट कम से कम बनें।
- सार्वजनिक परिवहन प्रणाली आज़मायें तथा कम दूरी की यात्रा हेतु पदयात्रा अथवा सायकल–प्रयोग करें।
- ऑटोमोबाइल्स का प्रयोग घटायें।
- रिचार्जियेबल बैटरीज़ प्रयोग में लाएं ताकि धातु–प्रदूषण कम हो।
- कृषि–रसायनों का प्रयोग छोड़कर जैविक पीड़कनाशियों व उर्वरकों का प्रयोग करें तथा दुकानों व बाज़ार में भी रसायनमुक्त (ऑर्गेनिक/हर्बल/पारि–अनुकूल) उत्पादों की मांग करें ताकि आपके कारण सब इस दिशा में प्रोत्साहित हों।
- रसायनों का प्रयोग न करें, जहां तक संभव हो कम हानिप्रद रसायन ही प्रयोग करें।

टिप्पणी

- निर्माण–प्रक्रिया के दौरान उपजे ठोस अपशिष्टों का उपयोग ऐसी अन्य गतिविधियों में कच्चे माल के रूप में किया जा सकता है जहां इनका उपयोग सर्वथा हानिरहित हो।
- घरेलू इत्यादि रसायनों, पैण्ट, विलायक, तैल इत्यादि अन्य हानिप्रद रसायनों को नालियों अथवा भूजल में न बहायें।
- अधिकाधिक वृक्षारोपण करें, वृक्ष अनेक प्रकार की विषाक्त गैसों को अवशोषित करके वायु को और अधिक शुद्ध कर देते हैं।
- जनसंख्या–वृद्धि पर अंकुश लगायें ताकि संसाधनों पर दबाव न बढ़े।

अपनी प्रगति जांचिए

1. विश्व में अब तक की सबसे बड़ी औद्योगिक त्रासदी किसे माना जाता है?
   (क) भोपाल गैस कांड को (ख) ब्रह्मपुत्र नदी की व्यापक बाढ़ को
   (ग) चीन के अकाल को (घ) चेर्नोबिल दुर्घटना को
2. सौर विकिरण के स्वरूप में इनमें से क्या शामिल नहीं है?
   (क) दृश्य प्रकाश (ख) अवरक्त प्रकाश
   (ग) पराबैंगनी विकिरण (घ) अत्यधिक वर्षा

2.3 जनसंख्या वृद्धि : राष्ट्रों के बीच अंतर

भारत की जनसंख्या का वितरण असमान है। कुछ क्षेत्रों का जनसंख्या–घनत्व अधिक तो कहीं का कम है। अंकगणितीय घनत्व का तात्पर्य किसी स्थान की प्रति इकाई में रहने वाले व्यक्तियों की औसत संख्या है फिर चाहे लोगों अथवा स्थान की गुणवत्ता जैसी भी हो। अंकगणितीय घनत्व में विभिन्न देशों की जनसांख्यिकीय स्थितियों का एक बाहरी व सर्वसाधारण विवरण ही मिल पाता है, अतः इसे उस स्थान/जनसंख्या के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक जीवन के अभिलक्षण के रूप में उपयोग नहीं किया जा सकता। जनसांख्यिकीय रूपांतरण की विभिन्न प्रावस्थाओं से तुलना किये जाने पर भारत की जनसंख्या–वृद्धि अन्य देशों जैसी नहीं रही है। भारत की जनसंख्या में निरपेक्ष वृद्धि (अर्थात् इसकी विशालता, घनत्व एवं निर्धनता) से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक काल में अभूतपूर्व जनसंख्या–विस्फोट किया गया है।

जनसंख्या–वृद्धि के कारण मानव व समूचे पर्यावरण का अहित निम्नांकित प्रकारों से होता है–

1. जनसंख्या बढ़ने से देश के भू–संसाधनों पर तीव्र दबाव पड़ने लगता है।
2. नैसर्गिक उपादानों का क्षय उस दर पर होने लगता है कि ये उपादान अपनी पुनरुपादन–क्षमता खो देते हैं व धीरे–धीरे करके लुप्त हो जाते हैं (अनेक जिलों में भूजल स्तर के अतिदोहन से भूमिगत जल का स्तर सैकड़ों मीटर नीचे जा चुका है)
3. जनसंख्या में अतीव वृद्धि से ऐसी जनसंख्या (विशेषतः बच्चों से लेकर युवा) का अनुपात अत्यधिक गति से बढ़ता है जो स्वजनों पर आश्रित है।

4. उत्पादों व सेवाओं की कमी के कारण विभिन्न सामाजिक द्वेषभाव पनपते हैं, उदाहरणार्थ चिकित्सालयों में भीड़, दूसरों का अधिकार हड़पने की प्रवृत्ति, आरक्षण आदि।

टिप्पणी

2.3.1 जनसंख्या वृद्धि : उत्तरदायी कारक

जनसंख्या वृद्धि के वितरण एवं घनत्व हेतु उत्तरदायी कारक निम्नलिखित हैं–

(अ) जनसांख्यिकीय कारण

1. **जन्म–दर एवं मृत्यु–दर संबंध** : विकसित देशों में मरण–दर में कमी आयी है एवं जन्म–दर में भी कमी लायी गयी है परंतु विकासशील देशों में मरण–दर तो अकस्मात् घटी है किंतु जन्म–दर ज्यों की त्यों बनाकर रखी गयी। इस कारण भारत जैसे देशों में जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ती चली गयी।
2. **शीघ्र विवाह** : भारत में विवाह हेतु वैधानिक आयु स्त्रियों के लिए 18 वर्ष व पुरुषों के लिए 21 वर्ष निर्धारित की गयी है। लगभग 17.2 प्रतिशत कन्याओं को इस निर्धारित आयु से पहले ही ब्याह दिया जाता है। इससे कई बार प्रजनन भी आरंभ कर दिया जाता है एवं दो प्रसव के मध्य पर्याप्त अंतराल भी नहीं रखा जाता एवं रजोनिवृत्ति तक बहुत सारी संतानों को जन्म दिया जा चुका होता है। वैधानिक आयु से पूर्व ब्याह दी जाने वाली कन्याओं का प्रतिशत बिहार में 23 व राजस्थान में 32 है।
3. **प्रजनन एवं आयुसमूह** : जनसंख्या बढ़ने से वह आयुसमूह बढ़ते जाता है जो गर्भधारण में समर्थ है (अर्थात् किशोरावस्था से रजोनिवृत्ति की अवस्था तक की स्त्रियां)। इस प्रकार 'कुल उर्वरता दर'(TFR) बढ़ते रहने से जनसंख्या भी बढ़ती ही जाती है।
4. **परिवार–नियोजन के ज्ञान का अभाव** : गर्भ–निरोधन की विधियों की जानकारियां न होने से जनसंख्या वृद्धि अधिक होती जाती है।
5. **कामी प्रवृत्तियां** : किशोरों में यौन–संबंध बनाने की बढ़ती प्रवृत्ति, विवाहपूर्व यौन–गतिविधियों में लिप्त होने को मिलती सामाजिक स्वीकार्यता, लैंगिक विषयों की सटीक जानकारियां न होने, प्रजनन व स्वास्थ्य संबंधी मुद्दों के प्रति जागृति में कमी, स्वास्थ्य–केंद्रों के उन्नत न होने एवं परामर्श–सेवाएं सुलभ न होने से अवांछित गर्भधारण के प्रकरण बढ़ जाते हैं। वैसे भी निरोध के विज्ञापनों को देखकर युवा दिशाहीन हो जाते हैं क्योंकि इन्हें इस वास्तविकता से अनभिज्ञ रखा जाता है कि निरोध यदि न भी फटे तो भी ऐसे अनेक कारक (जैसे कुछ ही क्षणों में निरोध का तापक्रम बढ़ जाने से उसकी पारगम्यता बढ़ जाती है इत्यादि) हैं जिनसे गर्भ ठहर सकता है एवं संक्रमण भी फैल सकते हैं।
6. **गर्भपात पर रोक** : सामाजिक संस्थाओं व साम्प्रदायिक धारणाओं के कारण भारतीय संविधान में गर्भपात प्रायः नहीं कराने दिया जाता है। इस प्रकार व्यभिचार से हुआ गर्भधारण प्रसव तक रहता है।
7. **बड़े (न कि संयुक्त) परिवार की अवधारणा** : कुछ सम्प्रदायों में संतान को भगवान द्वारा प्रदत्त उपहार मानकर गर्भनिरोधन का विरोध किया जाता है; पोते व पुत्र को स्वर्ग चढ़ने की सीढ़ी माना जाता है, इस कारण जब तक एक–दो पुत्र पैदा न हो जाएं संतानोत्पति जारी रखी जाती है। अधिक संतान होने को

टिप्पणी

भविष्य की सुरक्षा व संपन्नता के रूप में देखा जाता है, इस प्रकार आधुनिक नगरों तक में आधे से एक दर्जन संतानें देखी जा सकती हैं।

8. **परिवार–नियोजन के प्रति पुरुष का दृष्टिकोण** : भारत में कुछ पुरुषों द्वारा अब भी गर्भधारण रोकने का प्रयास करने को अपने सम्मान के विरुद्ध मान लिया जाता है एवं पुरुष नसबंदी के प्रति आशंका (कि इससे कहीं शिश्नोत्तेजना में कोई कमी न आ जाए जबकि वास्तव में यह एक भ्रांति है, क्योंकि उत्तेजना दिलाने वाली नसें भिन्न होती हैं) से भी जनसंख्या बढ़ती जाती है। कई पुरुष घर–परिवार संभालने सहित परिवार–नियोजन को भी स्त्री का ही दायित्व समझते हैं।

9. **गर्भनिरोधन–सुविधाओं की कमी** : भारत में लगभग 68.84 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामों में निवास करती है जहां चिकित्सा केंद्र, संबंधित अधोसंरचना व स्वास्थ्य–सेवाएं साधारणतया नगरों जितनी विकसित नहीं मिलतीं। निर्बाध व निःसंकोच संवाद एवं आवामगन भी सुविधापूर्ण नहीं रहता। इस कारण यह अनिवार्य है कि तत्काल गर्भनिरोधकों की उपलब्धता गांव–गांव में कराई जाए व कोई भी निश्चिंतता से उनका प्रयोग कर सके।

(ब) आर्थिक कारक

1. **कृषि** : हमारे देश की अधिकांश ग्रामीण जनसंख्या की पारिवारिक अर्थव्यवस्था कृषि–आश्रित है। इन कुटुम्बों में खेती–किसानी के लगभग सभी कार्य अपने स्तर पर ही किये जाते हैं। अतः खेत की देखरेख, शहर जाकर उपज बेचने इत्यादि के लिए अधिक सदस्य होने को ठीक माना जाता है। इस मान्यता के कारण एवं चिकित्सा व प्रजनन विज्ञान का मूलभूत ज्ञान भी न होने से कुटुम्ब में परिवार–नियोजन के महत्व को नहीं समझा जाता।

2. **जीवन का मापदंड** : आधुनिकता से दूर रहने के कारण ग्राम्य जनसंख्या अपनी ऐसी पारंपरिक प्रवृत्तियों को अब भी अपनाये हुए हैं जो वर्तमान परिवेश में प्रासंगिक नहीं हैं। संयुक्त परिवार एकल परिवारों से श्रेष्ठ अवश्य होते हैं परंतु संयुक्त परिवार में पलने वाले बच्चों को स्वावलम्बन के महत्व का बोध साधारणतया देर से हो पाता है व परिजन भी इस विषय का ध्यान नहीं रखते क्योंकि संयुक्त परिवार में बच्चे बड़े होकर भी सरलता से आपस में मिल–बांटकर धन–व्यय कर देते हैं। इस प्रकार जनसंख्या का असंतुलन बढ़ता जाता है व आश्रित जनों की संख्या भी साथ में बढ़ती है।

3. **निर्धनता** : अत्यधिक निर्धनता व सरलता से अथवा निःशुल्क उपलब्ध गर्भनिरोधक साधनों की जानकारी के अभाव का मिश्रण हो जाने से भी जनसंख्या बढ़ती चली जाती है। उदाहरणार्थ निरोध को सरल गर्भनिरोधक मान लिया जाता है अथवा 5–10 वर्ष गर्भनिरोधन करने वाली कॉपर–टी का पता नहीं होता अथवा स्वास्थ्य–केंद्र दूर होने व वहां तक जाने में एक–दो दिन का समय व इस प्रकार यात्रा–व्यय हो जाने सहित उस दिन की मजदूरी का भी घाटा होता देखकर निरोध को ही अपना लिया जाता है। परंतु प्रतिरात्रि ऐसा करना निरोध की विफलता व क्रमशः गर्भधारण की संभावना को और बढ़ा देता है। गर्भधारण के अत्याधुनिक साधनों (जैसे कि तीन महीने का गर्भनिरोधक इन्जेक्शन) की नवीनतम जानकारी न मिल पाने से भी स्थिति बिगड़ती चली जाती है।

टिप्पणी

(स) शैक्षणिक कारक

1. **निरक्षरता** : यह भारत में अभिशाप के रूप में अब तक पसरी हुई है। निरक्षर व्यक्तियों को गर्भनिरोधक से संबंधित लिखित जानकारियां उपलब्ध करा दिए जाने पर भी वे स्वयं उनका लाभ नहीं ले पाते तथा वे ऐसी सुविधाओं के प्रयोग से वंचित रहते हैं जिन्हें वे प्राप्त करना चाहते हैं व जिनकी उन्हें आवश्यकता भी अत्यधिक है।
2. **नारी–शिक्षा** : शहरों में झुग्गी–बस्तियों एवं आदिवासी व पहाड़ी गांवों में भी नारी–शिक्षा व प्रौढ़ शिक्षा का स्तर बढ़ा है परंतु स्त्रियों व किशोरियों को ऐसी जानकारियों के स्रोत से दूर रखने के प्रयास किये जाते हैं जहां प्रजनन व यौन–स्वास्थ्य के संबंध में कोई लेख हो। इस कारण भी स्त्रियां कुटुम्ब के मुखिया के कहने पर संतानों को जन्म देती रहती हैं।
3. **शैक्षणिक केंद्रों की कमी** : व्यक्तिगत स्तर पर तो कमियां हैं ही परंतु शासकीय व अशासकीय संगठन भी गांवों में प्रचार–प्रसार पर उतना बल नहीं देते। अब भी ऐसी शालाओं व अन्य ऐसे शिक्षाकेंद्रों का अभाव है जहां उत्तम अध्यापिकाएं हों अथवा कम से कम कुछ उपयोगी पुस्तकें भी उपलब्ध हों।

(द) मानसिक कारक

1. **सामाजिक वर्जनाएं, समाज के साथ चलने की आकांक्षा एवं संगति के प्रभाव** : संयुक्त परिवारों की परंपरा का सदुपयोग करते हुए इन्हें ज्ञान–प्रचार के संवाहक का कार्य सौंपा जा सकता है परंतु इन परिवारों के सदस्यों की मानसिकता परिवार के मुखिया के स्तर की होती है। इस प्रकार विचार, धारणाएं व अनुभूतियां भी बड़े–बुज़ुर्गों जैसी रहती हैं। इस प्रकार ये स्वयं को पूर्ण समझ बैठते हैं व बाहर से कुछ अच्छा सीखने के प्रति आजीवन उदासीन बने रहते हैं तथा बहुमत की संगति में पड़कर यथास्थितिवादी (जो हो रहा है होने दो वाली मानसिकता) बन जाते हैं।
2. **निर्भरता** : संयुक्त परिवारों में पीढ़ीगत रूप से ऐसा मानकर चला जाता है कि सबसे वृद्ध व्यक्ति ने जो निर्णय एक बार कर लिया, सबको सदैव वही मानना होगा तथा परिवार यदि एकल भी हो जाएं तो पीढ़ियों की परंपराएं नहीं टूटनी चाहिए। कोई भी सदस्य घर–कुटुम्ब के मुखिया के निर्णय के विरुद्ध कुछ नहीं करता। आज के शिक्षित युवा भी परिवार–नियोजन की जानकारी होने के बावजूद उपयुक्त निर्णय नहीं कर पाते क्योंकि बड़े–बूढ़ों द्वारा डाला गया मानसिक दबाव बना रहता है।
3. **नवीन प्रौद्योगिकी की स्वीकार्यता** : हमारे देश में उच्चशिक्षित नागरिकों की मानसिकता अब तक पुरानी व जीर्ण–शीर्ण धारणाओं के जाल में उलझी पड़ी है। मन–मस्तिष्क को अपडेट न किये जाने के कारण नयी प्रौद्योगिकी व नये–नये गर्भनिरोधक उपायों की जानकारी तो रहती है परंतु उपयोग का साहस नहीं किया जाता।

टिप्पणी

(य) जीवनानंद में कमी

1. **मनोरंजन–साधन कम पड़ना :** सर्वेक्षणों में गांवों में रहने वाले कई दंपतियों का मानना यह रहा है कि रात में विद्युत–कटौती एवं/अथवा दूरदर्शन व आधुनिक बाज़ारों इत्यादि की कमी के कारण वे लैंगिक संबंध बनाकर ही मन बहला लेते हैं। इस प्रकार भी जनसंख्या बढ़ा दी जाती है।
2. **फ़ुरसत अधिक :** बेरोज़गारी की समस्या, खेती–किसानी में परिश्रम का कार्य अधिकांशतः दिन में किये जाने व रात में करने को कुछ न होना भी ऐसे बहाने हैं जिनके माध्यम से यौनक्रिया को ही तथाकथित समय बिताने इत्यादि का एकमात्र माध्यम बना दिया जाता है।
3. **उर्वरता–दरें :** बहुत सारे प्रकरणों में किशोरावस्था से ही प्रसव आरंभ हो जाता है। बांग्लादेश, भारत व पाकिस्तान की 25–30 प्रतिशत किशोरियां 17 वर्षायु पूर्ण करने से पहले ही प्रसूता हो जाती हैं। अपने खाली समय में वे भी दैहिक सुख पर ध्यान केन्द्रित करने लगती हैं, इस प्रकार उपरोक्त अन्य कारकों (जैसे परिवार–नियोजन के प्रति अज्ञानता) के संयोजन से जनसंख्या बढ़ती ही जाती है।

(र) साम्प्रदायिक कारक

1. **पुत्रप्राप्ति की कामना :** भारत में हिंदुओं में प्रायः एक धारणा सदियों से प्रचलित है कि पुत्र ही वंश को आगे बढ़ा सकता है (इस कारण पुत्र को रत्न माना जाता रहा है) एवं स्त्रियों को धन खपाने (दहेज में) वाली व छोड़कर चली जाने वाली सदस्या माना जाता है। इस प्रकार पुत्र की आस में या तो कन्याभ्रूण हत्या का प्रयास किया जाता है अथवा पुत्र होने तक संतानों का एक समूह उत्पन्न कर दिया जाता है।
2. **दैवी उपहार समझना :** मानवजाति के अधिकांश समुदायों में गर्भधारण होते ही अजन्मे शिशु को दिव्य प्रसाद मान लेने की पुरानी परंपरा है जिस कारण उसे आने से रोकने (गर्भनिरोधन) अथवा हटाने (गर्भपात) के विषय में कोई विचार तक नहीं करना चाहता।

(ल) सामाजिक कारक

1. **विवाह–प्रणाली :** हमारे देश में कन्या के गृहकार्यदक्ष एवं किशोर के आर्थिकरूपेण सक्षम होते से ही उनके ब्याह की बात चलायी जाने लगती है।
2. **संयुक्त परिवार :** संयुक्त परिवार होने से साधारणतया स्वयं अथवा/एवं परिजनों के प्रति उत्तरदायित्व का बोध बहुत देर से आता है जिससे समाज व देश के प्रति दायित्व–बोध होने की संभावना और सिमटी हुई होती है। इससे निर्णयन–क्षमता घटती है व निर्भरता बढ़ती है। ऐसी स्थितियों में वे जनसंख्या–वृद्धि को एक समस्या के रूप में नहीं समझते।
3. **विवाह एवं निकाह :** अधिकांश समुदायों में विवाह मान्य है किंतु कुछ समुदायों में निकाह को मान्य किया जाता है अर्थात् एक साथ अनेक स्त्रियों के साथ संबंध बनाने को सामुदायिक मान्यता प्रदान कर दी जाती है, इस प्रकार प्रत्येक पुरुष की कुल संतानें अत्यधिक होती हैं।

टिप्पणी

4. **सामाजिक कलंक की मान्यता** : ऐसी सामाजिक धारणा बनाकर रखी गयी है कि स्त्री गर्भधारण न करे अथवा नरशिशु को जन्म न दे तो वह परिवार के लिए अभिशाप है। इसी कारण परिवार–नियोजन करने वाले दंपतियों (विशेषतः पत्नी) को वन्ध्य (बांझ) समझ लिया जाता है। इस कारण शीघ्र गर्भधारण करने का प्रयास किया जाता है।

जनसंख्या–गतिकी के कारण जनसंख्या के वितरण व घनत्व के अध्ययन एवं आकलन में निम्नांकित प्रकार से सहायता हो जाती है–

- खाद्य, आवास, स्वास्थ्य, वस्त्र, जल, परिवहन, ईंधन, शिक्षा इत्यादि की भावी आवश्यकताओं सहित स्थानीयता, राष्ट्र, अंचल व विश्व की संभावनाओं का अनुमान लगाने में;
- एक–दो दशकोपरांत लोगों की संख्या कितनी होगी यह आकलन करने में ताकि वृद्धावस्था पेन्शन, सामाजिक सुरक्षा योजनाओं एवं कल्याण सेवाओं की आवश्यकता का आकलन किया जा सके;
- जनसांख्यिकीय लक्षणों में विश्लेषणात्मक प्रयोजन के लिए;
- भावी मानव व सामग्रीगत संसाधनों की संभावनाओं के आकलन में;
- जनसंख्या नीतियों के निर्धारण में।

2.3.2 जनसंख्या–आकलन की विधियां

- गणितीय विधि
- अवयव (कॉपोनेंट) विधि
- आर्थिक विधि।

1. गणितीय विधि

जनगणना के दौरान व बाद के आकलनों में इसका प्रयोग किया जाता रहा है। इसमें मान लिया जाता है कि वृद्धि सतत् रूप से हो रही है व भावी जनसंख्या पिछली जनसंख्या के विस्तार के अगले क्रम के रूप में ही होगी, इस प्रकार जनसंख्या–गतिकी में निम्नांकित स्थितियां दर्शायी जाती हैं–

(i) जनसंख्या अनुक्रम $= P_0, P_1, P_2, P_3$ ------, P_N

P_0 = आरंभिक जनसंख्या, $P_N = N^{th}$ पीढ़ी में जनसंख्या

(ii) समय–शृंखला आरेख–

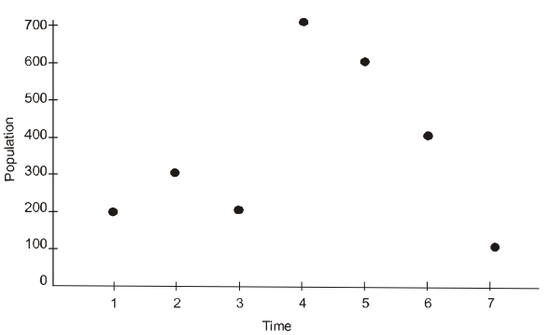

(a)

रेखा आरेख : यह समयांतरालों के मध्य अनुमानित जनसंख्या–आकार हो सकता है–

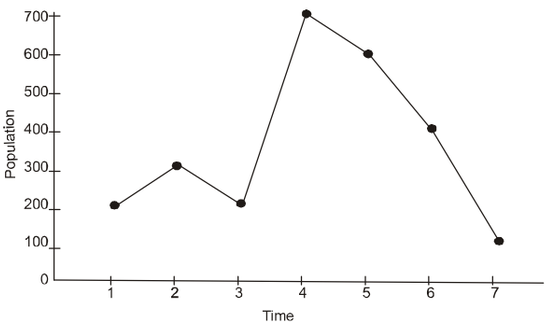

(b)

टिप्पणी

(iii) **संक्रामी नियम** : इसमें प्रदर्शित होता है कि जनसंख्या कैसे बदल रही। ऋजु (रैखिक) वृद्धि में जनसंख्या–मानों के मध्य उभयनिष्ठ अंतर रहता है–

P_0 आरंभिक है, P_N अंतिम है, d = उभयनिष्ठ अंतर है–

आवर्ती (Recursive) $P_N = P_{N-1} = P_{N-1} + d$

सुस्पष्ट (Explicit) $P_N = P_0 + N.d$

उदाहरण : एक विद्यालय को सन् 2005 में 800 शिक्षार्थियों के साथ खोला गया था। विद्यालय में 200 शिक्षार्थियों को प्रतिवर्ष प्रवेश प्रदान करने की योजना बनायी गयी। सन् 2020 में विद्यालय की कुल शिक्षार्थी–संख्या कितनी होगी?

(i) जनसंख्या अनुक्रम

$P_0 = 800, \quad P_1 = 800 + 200 = 1000$

$P_2 = 1000 + 200 = 1200$

$P_3 = 1200 + 200 = 1400$

हम P15 तक 200 जोड़ते चलेंगे एवं वही कुल संख्या होगी।

(ii) आंकड़े को रेखा–आरेख द्वारा दर्शाया जा सकता है।

(iii) संक्रामी नियम

आवर्ती (Recursive) = $P_{15} = P_{14} + 200$

सुस्पष्ट सूत्र का प्रयोग करते हुए

$P_N = P_0 + N \times d$

$(N = 2020 - 2005)$

$P_N = 800 + 15 \times 200$

$P_N = 800 + 3000$

$P_N = 3800$

सन् 2020 में शिक्षार्थियों की कुल संख्या 3800 होगी।

उदाहरण : यदि विद्यालय के नौवें वर्ष में शिक्षार्थी–संख्या 1500 हो एवं 24वें वर्ष में 2550 हो जाती है तो वृद्धि की आरंभिक जनसंख्या–दर ज्ञात करें–

$1500 = P_0 + 09d$ -----(1) $\qquad 2550 = P_0 + 24.d$

टिप्पणी

$2550 = P_0 + 24d$ -----(2) $1500 = P_0 + 9.d$

$= 1050 = P_0 + 15d$

$= 15d = 1050$

$$d = \frac{1050}{15} = 70$$

अब P_0 ज्ञात करें

$2550 = P_0 + 24 \times 70$

$2550 = P_0 + 1680$

$P_0 = 2550 - 1680$

$P_0 = 870$

वैकल्पिक विधि

$$d = \frac{2550 - 1500}{24 - 9} = 70$$

अंकगणितीय अनुक्रम : सत्रों (टर्म्स) के मध्य उभयनिष्ठ अंतर वाला अनुक्रम

अंकगणितीय योगफल सूत्र $= A_0 + A_1 + A_2$ ----------$+A_{N-1} = \frac{(A_0 + A_{N-1})}{2} N$

लॉजिस्टिक पद्धतिः इस विधि का प्रख्यापन P.F. वेर्हुल्स्ट द्वारा किया गया। इस विधि में जनसंख्या–वृद्धि को चक्रों में हुई माना जाता है। हर चक्र में आरभिक आधे चक्र में वृद्धि धीमी–धीमी प्रारंभ होती है परंतु निरपेक्ष वृद्धि प्रति इकाई समय तब तक लगातार बढ़ती रहती है जक तक कि चक्र का मध्यबिंदु नहीं आ जाता।

2. **अवयव–विधि**

यह विधि अधिक तार्किक है एवं इसमें त्रुटि का जोख़िम कम रहता है। लघुकालिक प्राक्कलों को ज्ञात करने के लिए यह विधि अधिक उपयुक्त है जबकि लॉजिस्टिक विधि दीर्घकालिक प्राक्कल ज्ञात करने में अधिक उपयोगी है। इस विधि द्वारा जनसंख्या के ढांचे में समय के सापेक्ष परिवर्तनों का अध्ययन किया जा सकता है।

3. **आर्थिक विधि**

भावी जनसंख्या के आकलन में स्वतंत्र चरों के रूप में कुछ यथेष्ट आर्थिक कारकों को लेने के लिए यह एक तार्किक कार्यविधि है।

2.3.3 जनसंख्या वृद्धि अथवा परिवर्तन के प्रतिरूप

1. पारिस्थितिक अथवा जैविक प्रतिरूप

जिस प्रकार एक प्रजाति का जीवाणु 20 मिनट्स के अंतरालों में विभाजित होते–होते डेढ़ दिन में संपूर्ण पृथ्वी पर एक फ़ीट गहरे निवह (कॉलोनी) का निर्माण कर देगा उसी

टिप्पणी

प्रकार यदि मानव 900 वर्ष तक वर्द्धनशील वृद्धि की वर्तमान दर पर बढ़ता रहा तो सिक्स्टी मिलियन्स बिलियन्स लोग हो जाएंगे। जनसंख्या के बढ़ने की इस क्षमता को जैविक संभावना कहते हैं किंतु इस संभावना पर सांस्कृतिक व भौतिक परिवेश का अवरोध रहता है जिसे 'पर्यावरणीय प्रतिरोध' कहा जाता है। जनसंख्या की जैविक संभावना की सीमा 'स्थितियों के समूह' के अंतर्गत पर्यावरणीय प्रतिरोध से निर्धारित होती है। यह सीमा पर्यावरण की 'वहन–क्षमता' कहलाती है। जंतुओं व पादपों के प्रकरण में जैविक संभावना, जनसंख्या–वृद्धि व पर्यावरणीय प्रतिरोध के संबंध से एक विशिष्ट सिग्मॉयड अथवा 'S' आकृति वाला अथवा लॉजिस्टिक वक्र बनता है–

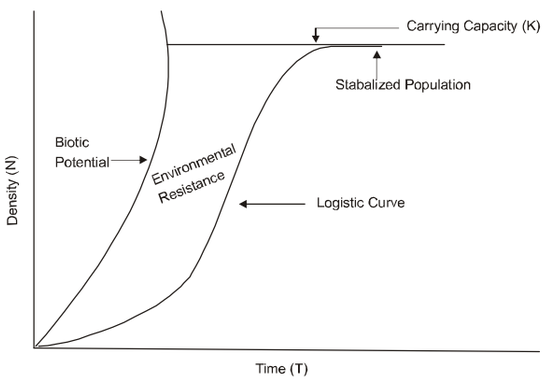

(i) जैविक संभावना =

यहां D = मरण–दर

N = जनसंख्या

T = समयावधि

K = वहन–क्षमता

(ii) पर्यावरणीय प्रतिरोध = $1-\frac{K-N}{K}$

(iii) लॉजिस्टिक वक्र = $\frac{DN}{DT} = TN - \frac{K-N}{K}$

ऐसे कम से कम तीन प्रतिरूप हैं जो जैविक संभावना एवं पर्यावरण की वहन–क्षमता के मध्य के संबंध के आधार पर बनाये जा सकते हैं–

I. पर्यावरणीय सीमाएं आने से पूर्व जनसंख्या–वृद्धि की दर घटने लगती है। इस प्रकरण में जनसंख्या–वृद्धिवक्र S.आकृति में होता है।

प्रतिरूप. I

टिप्पणी

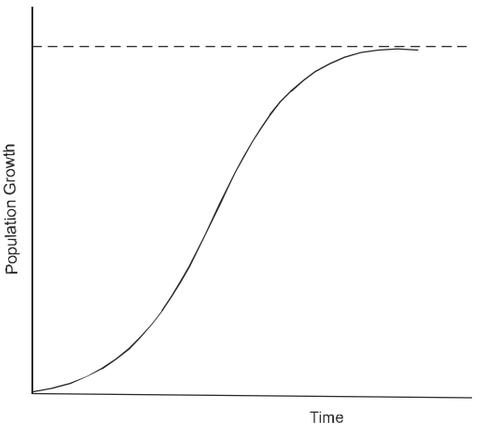

II. अब जनसंख्या पर्यावरण की वहन–क्षमता की सीमाओं पर होती है व सरल अथवा दोलन रूप में कम होती जाती है जिससे 'J'- आकृति का वक्र बनता है–

प्रतिरूप-II

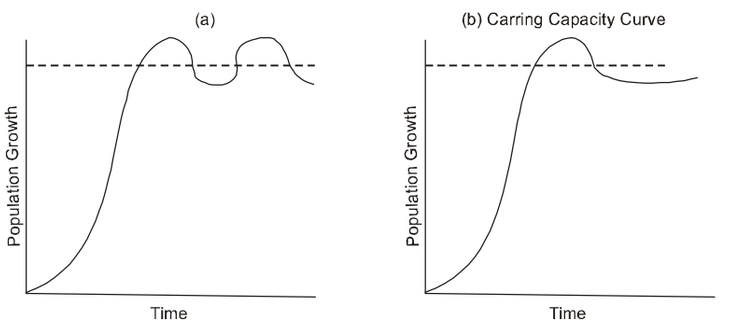

III. तृतीय प्रतिरूप में जनसंख्या पर्यावरण की वहन–क्षमता की सीमा पार कर जाती है जिससे अनवीकरणीय संसाधन घटने लगते हैं व जनसंख्या में तीक्ष्ण कमी आने लगती है। इस प्रकार पतन–वक्र बनता है।

प्रतिरूप-III

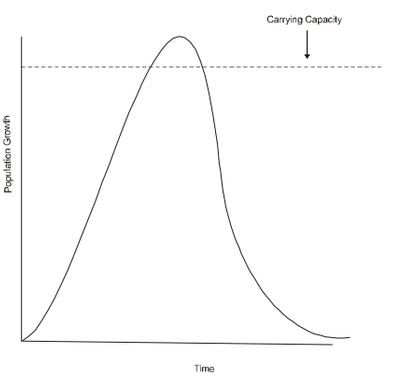

2. जनसांख्यिकीय संक्रामी प्रतिरूप

मानव जैविक रूप से तो अन्य जंतुओं के समान है परंतु सांस्कृतिक रूप से भिन्न है। मानव की यह द्वैत् प्रवृत्ति (सांस्कृतिक वैविध्य एवं जैविक एकता) से आधुनिक काल में जनसंख्या–वृद्धि अभूतपूर्व स्तर पर है। उच्च उर्वरता व मरण से अल्प उर्वरता व मरण

टिप्पणी

की ओर आया परिवर्तन चर–लम्बाइयों (वैरियेबल लेन्थ्स) की मध्यवर्ती अवस्था है जिसमें मरण उर्वरता से बहुत कम होता है। इसके परिणामस्वरूप जनसंख्या–वृद्धि में उल्लेखनीय तीव्रता आती है जिसमें शिशु, मध्यायु व वयोवृद्ध व्यक्तियों की आयु में विशाल अंतर होता है।

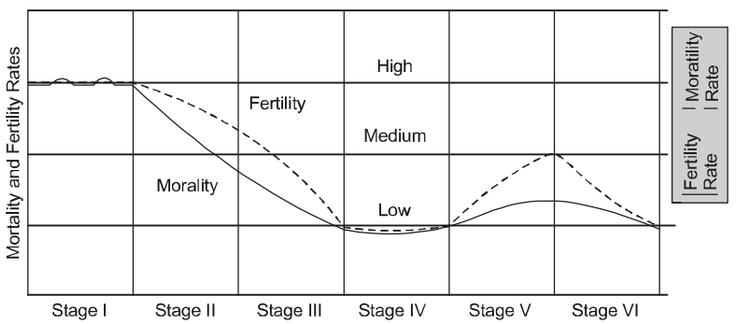

जनसांख्यिकी– संक्रामी प्रतिरूप

अवस्था I - उच्च मरण–दर

अवस्था II - मरण–दर तीक्ष्णता से घटती है व उर्वरता–दर या तो यथावत् रहती है अथवा धीमी गति से घटती है।

अवस्था III - शून्य जनसंख्या–वृद्धि अर्थात् जन्म व मरण दरें समान होने वाली

अवस्था IV - जन्म व मरण दर साम्यावस्था

अवस्था V - इस अवस्था में मरण–दर निम्न स्तर पर होती है

अवस्था VI - मरण–दर में अस्थायी वृद्धि एवं जन्म–दर में कमी

जन्म व मरण दरों के साम्य की अवस्था विभिन्न देशों में भिन्न–भिन्न अवधियों में बनी रह सकती है। व्यवहार, मूल्यों, आर्थिक ढांचे एवं विज्ञान व प्रौद्योगिकी के विकास इत्यादि परिर्वतनों से मिले प्रोत्साहन के कारण उर्वरता–दर बढ़ सकती है। परिणामस्वरूप जनसंख्या पुनः बढ़ सकती है।

3. विश्व प्रतिरूप

भौतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक संबंधों में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आएगा तथा खाद्य उत्पादन, औद्योगिक प्राप्ति एवं जनसंख्या बढ़ती ही चली जाएगी। सामाजिक समायोजन की प्रक्रिया एवं आयुगत ढांचे में डीले इन्हेरेण्ट के परिणामस्वरूप जनसंख्या कभी–कभी बढ़ना जारी रह सकती है परंतु जनसंख्या अंततः तीक्ष्णता से घटेगी क्योंकि खाद्य व स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव पड़ने लगेगा एवं मृत्युदर बढ़ जाएगी। इस प्रतिरूप के अनुसार इक्कीसवीं शताब्दी के मध्य के बाद 'जनसंख्या–पतन' का समय आएगा।

दूसरे प्रतिरूप में मान लिया जाता है कि प्रौद्योगिक–उन्नतियों के फलस्वरूप संसाधन दोगुने हो जाएंगे।

तीसरे प्रतिरूप में कहा जाता है कि नाभिक ऊर्जा की उपलब्धता के कारण संसाधन बढ़ने से जनसंख्या घटेगी।

चौथे प्रतिरूप में माना जाता है कि प्रदूषण–स्तर घटने एवं औद्योगिक उत्पादन व संसाधन बढ़ने से जनसंख्या घटेगी।

टिप्पणी

पांचवें प्रतिरूप में माना जाता है कि बढ़ी कृषि–उत्पादकता के साथ जनसंख्या की वृद्धि–दरें उच्चतर रहेंगी।

छठवें प्रतिरूप में गर्भ–निरोध के बावजूद जनसंख्या बढ़ती चली जाएगी फिर चाहे वह मंद दर पर क्यों न बढ़े।

सातवें प्रतिरूप में संसाधनों को असीम, प्रदूषण–नियंत्रण, बढ़ी कृषि–उत्पादकता एवं सटीक गर्भ–निरोधन मान लिया जाता है। जनसंख्या ऐसी होने से इसकी वृद्धि नियत दर पर होगी।

4. माल्थस धारणा संबंधी प्रतिरूप

इसमें दो मान्यताएं हैं–

1. जनसंख्या–वृद्धि की शक्ति मानवों की निर्भरता हेतु उपजाने की धरा–क्षमता से कहीं अधिक है।
2. जनसंख्या को यदि बढ़ने से रोका न जाए तो यह ज्यामितीय रूप से बढ़ती चली जाती है, अर्थात् 1, 2, 4, 8, 16 --------, ----जबकि जीवन निर्वाह के साधनों में अंकगणितीय अनुपात में ही वृद्धि होती है, अर्थात् 1, 2, 3, 4, 5 ------.

   संक्षेप में माल्थस ने स्वयं विवरण को इस प्रकार सारगर्भित किया है–

   - जीवन निर्वाह के साधनों द्वारा जनसंख्या निश्चय ही सीमित होती है।
   - जीवन निर्वाह के साधनों के बढ़ जाने से जनसंख्या भी स्थिर रूप से बढ़ती जाती है, यदि किसी शक्तिशाली व स्पष्ट अंकुश द्वारा उसे रोका न जाए तो।
   - ये अंकुश एवं वे अंकुश जो जनसंख्या की इस सर्वोपरि शक्ति का दमन करते हैं व जीवन निर्वाह के साधनों के माध्यम से इसके प्रभाव को एक स्तर पर रखते हैं। ये सभी अंकुश नैतिक समाधान–योग्य, जटिल व उलझे हुए होते हैं।

2.3.4 भारत में जनसंख्या वितरण एवं घनत्व

भारत जनसंख्या एवं क्षेत्रफल के संदर्भों में विश्व के विशालतम देशों में से एक है। विश्व के 2.4 (1/6) प्रतिशत भाग पर भारत है एवं विश्व की कुल जनसंख्या का 17.5 प्रतिशत भारत में है। सन् 2011 की जनगणनानुसार भारत की जनसंख्या 121 करोड़ थी एवं चीनी जनसंख्या 134 करोड़ बतायी गयी। सन् 2050 तक भारत जनसंख्या के संदर्भ में चीन से भी आगे बढ़ सकता है। भारत विश्व के चार सर्वाधिक सघन जनसंख्या युक्त देशों में से एक है। वर्तमान में देश की जनसंख्या का घनत्व 382 व्यक्ति प्रति वर्गकिलोमीटर है (सन् 2011 की जनगणनानुसार) जबकि सन् 2001 की जनगणनानुसार यह संख्या 364 थी।

विकसित देशों से तुलना की जाने पर भारतीय जनसंख्या की वृद्धि–दर अत्यधिक है किंतु विकासशील देशों अथवा अन्य एशियाई देशों की तुलना में उतनी अधिक नहीं है। नेपाल, पाकिस्तान, बर्मा एवं बांग्लादेश की वृद्धि–दर क्रमशः 1.24, 1.45, 1.0 व 1.05 जबकि भारत की जनसंख्या–वृद्धिदर 1.19 प्रतिशत है। यद्यपि भारत की मरण–दर बहुत घटी है जबकि जन्म–दर अब तक नहीं घटायी गयी। परिवार का

कुल आकार तो घटा है परंतु समग्र जन्म–दर अब भी चिंतनीय है। इसी कारण जनसंख्या को नियंत्रित करना कठिन है। मरण–दर 9 प्रति सहस्त्र जनसंख्या थी और जन्म–दर 25 प्रति 1000 जनसंख्या थी। भारत का लिंगानुपात स्त्रियों के पक्ष में नहीं है। प्रति सहस्त्र पुरुषों के अनुपात में स्त्रियां मात्र 940 हैं।

टिप्पणी

***सारणी** : भारत की जनसंख्या की एक झलक– 18 संसूचक*

क्रमांक	संसूचक	स्थिति
1.	विश्व में जनसंख्या–स्थिति (2011)	विश्व का प्रत्येक छठवां व्यक्ति भारतीय है। 17.5% जनसंख्या 2.4% क्षेत्रफल में
2.	जनसंख्या में श्रेणी (2011)	विश्व में द्वितीय। भारतः 21 करोड़; चीन : 134 करोड़
3.	भावी स्थिति	सन् 2050 तक प्रथम स्थान पर आने की आशंका
4.	वार्षिक वृद्धि–दर	1.77% जबकि विश्व की 1.4%
5.	वार्षिक वृद्धि	1.82 करोड़ जो कि ऑस्ट्रेलियन जनसंख्या से अधिक है
6.	जन्म–दर एवं मरण–दर	जन्म–दरः 25; मरण–दर– 9
7.	जनसंख्या–घनत्व	382
8.	लिंगानुपात	940 स्त्रियों के अनुपात में 1000 पुरुष
9.	जीवन–प्रत्याशा	70 वर्ष
10.	शिशु मृत्यु–दर	44 प्रति 1000
11.	पांच वर्षायु तक मृत्यु–दर	55 प्रति 1000 जन्म
12.	उर्वरता–दर	21.8%
13.	पर्याप्त स्वच्छता–सुविधाएं प्रयोग कर रही जनसंख्या का प्रतिशत	33%
14.	आश्रयविहीन जनसंख्या का प्रतिशत	14%
15.	गर्भनिरोधक प्रयोग कर रही जनसंख्या का प्रतिशत	54%
16.	नगरीय–ग्राम्य जनसंख्या	68.84%: ग्राम्यय 31.16%: नगरीय
17.	नारी–साक्षरता	65.46%
18.	ग़रीबी–रेखा ने नीचे जीवनयापन करने वाली जनसंख्या का प्रतिशत	44%

टिप्पणी

***सारणी** : भारत की अनुमानित जनसंख्या (1996-2016)*

(000 में)

वर्ष	पुरुष	स्त्री
1996	484859	449360
1997	492571	457307
1998	500359	465249
1999	508174	473150
2000	515984	480961
2001	523780	488606
2002	531395	496212
2003	539344	504190
2004	547556	512468
2005	555964	520771
2006	564498	529628
2007	573068	538378
2008	581573	546999
2009	590018	555495
2010	598407	563876
2011	606744	572145
2012	614749	580286
2013	622967	588608
2014	631395	597111
2015	640034	605793
2016	648886	614657

स्रोत : योजना आयोग 1996, भारत के महापंजीयक द्वारा गठित 'जनसंख्या के अनुमानों पर तकनीकी समिति' की रिपोर्ट

भारत के राज्यों एवं संघशासित क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व भिन्न–भिन्न है। दिल्ली का जनसंख्या–घनत्व अधिक है: 11297 व्यक्ति प्रति km^2। दिल्ली व चण्डीगढ़ में जनसंख्या का घनत्व केरल के जनसंख्या–घनत्व से भी अधिक है। इन राज्यों व संघशासित क्षेत्रों के बाद पश्चिम बंगाल, बिहार, तमिलनाडु, उत्तरप्रदेश एवं पंजाब का स्थान आता है। इस भिन्नतापूर्ण घनत्व के मुख्य कारण हैं: जलवायु, वर्षा एवं भू–ढांचे के कारण लोगों का प्रवास। जनसंख्या के घनत्व के निर्धारण में स्थान के आर्थिक विकास की भी निर्णायक भूमिका होती है। वर्तमान में सुरक्षा भी एक अन्य कारण है जिससे विशिष्ट स्थान का चयन निवास के लिए किया जाने लगा है।

नगरीय वृद्धि के संदर्भ में भारतीय नगर अन्य देशों के मार्ग पर हैं। देश में प्रमुखतः निम्नांकित तीन मार्गों को अपनाया जा रहा है–

टिप्पणी

(अ) नगरीय जनसंख्या की स्वाभाविक वृद्धि

(आ) नगरों व कस्बों में ग्रामीण जनसंख्या का प्रवास, वास्तव में पलायन

(इ) ऐसे लोगों की निरंतर वृद्धि जिन्हें ग्रामीण माना जाता था

सन् 1901 व सन् 1961 के मध्य नगरीय जनसंख्या की वृद्धि 11–18 प्रतिशत रही जबकि सन् 1961 से सन् 1976 की वृद्धि असामान्य थी। इस अवधि में नगरीय जनसंख्या की वृद्धि 75 प्रतिशत थी एवं ग्रामीण जनसंख्या की वृद्धि 25 प्रतिशत रही। भारतीय जनसंख्या की एक महत्तापूर्ण विशेषता भारतीय जनसंख्या के उस ढांचे में निहित है जो कि विगत पचास वर्षों तक नियत (स्थिर) रहा। नगरीय जनसंख्या 20 प्रतिशत एवं ग्रामीण जनसंख्या 80 प्रतिशत थी (यह जनसंख्या का प्रतिशत है, वृद्धि का नहीं)। सन् 2011 को भारत की जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार नगरीय क्षेत्र के अंतर्गत निम्नांकित सम्मिलित हैं–

(क) नगरपालिका, नगर–निगम, छावनी मंडल अथवा अधिसूचित कस्बाई क्षेत्र समिति इत्यादि;

(ख) निम्नांकित मापदंडों की पूर्ति करने वाले अन्य समस्त स्थान–

- न्यूनतम 5000 जनसंख्या
- कामगार पुरुष जनसंख्या का न्यूनतम 75 प्रतिशत अ–कृषिगत वृत्तियों में कार्यरत हो
- जनसंख्या का घनत्व न्यूनतम 400 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर हो

***सारणी** : भारत में ग्राम्य व नगरीय जनसंख्या की वृद्धि : 1901–2011*

वर्ष	ग्राम्य		नगरीय	
	जनसंख्या (millions)	कुल जनसंख्या का %	जनसंख्या (millions)	कुल जनसंख्या का %
1901	212.85	89.16	25.85	10.84
1911	226.06	89.71	25.96	10.29
1921	223.15	88.83	28.08	11.17
1931	245.41	88.01	33.45	11.99
1941	274.39	86.14	44.15	13.86
1951	298.51	82.71	62.44	17.29
1961	360.14	82.03	78.93	17.97
1971	438.86	80.09	100.09	19.91
1981	525.45	76.70	159.72	23.31
1991	627.14	74.28	217.17	25.72
2001	741.60	72.20	285.30	27.80
2011	833.1	68.84	377.1	37.7

टिप्पणी

सन् 2011 की जनगणनानुसार ग्राम्य क्षेत्र में रह रही जनसंख्या 68.84 प्रतिशत थी व उस समय नगरीय जनसंख्या 37.7 प्रतिशत थी। सन् 2011–12 की जनगणनानुसार कामगार जनसंख्या 47.41 करोड़ थी। विभिन्न संगठनों के अनुमानों के अनुसार भारत में बेरोज़गारी धीमी गति से घट रही है। देश का आर्थिक विकास देश द्वारा अपनी जनता को प्रदान किये जाने वाले रोज़गार–अवसरों पर अत्यधिक निर्भर है। भारत में 55 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या कृषि–संबंधी विभिन्न सेवाओं में कार्यरत है। 64.9 प्रतिशत लोग कृषि–संबंधी कार्यों में रोज़गार प्राप्त हैं। मात्र 29.1 प्रतिशत व्यक्ति कृषि–श्रमिक हैं।

वर्तमान भारत में उत्तर प्रदेश सर्वाधिक जनसंख्या वाला राज्य है जहां 20 करोड़ भारतीय वास करते हैं (सन् 2011 की जनगणनानुसार) तथा सिक्किम सर्वाल्प जनसंख्या वाला राज्य है जहां मात्र 0.06 करोड़ व्यक्ति रहते हैं। बिहार व महाराष्ट्र ऐसे दो अन्य राज्य है जहां अत्यधिक जनसंख्या है।

***सारणी** : भारत की जनसंख्या का नगरीय एवं ग्रामीण वितरण (करोड़ में)*

	2001	2011	अंतर
भारत	102.9	121.0	18.1
ग्राम्य	74.3	83.3	9.0
नगरीय	28.6	37.7	9.1

स्रोत : सन् 2011 की जनगणना

- स्वाधीनता के उपरांत पहली बार जनसंख्या में निरपेक्ष वृद्धि ग्राम्य क्षेत्रों से अधिक नगरीय क्षेत्रों में रही;
- ग्राम्य–नगरीय वितरणः 68.84 प्रतिशत व 37.7 प्रतिशत
- सन् 2001 में 27.81 प्रतिशत दर्ज किया गया नगरीकरण–स्तर बढ़कर 2011 की जनगणनानुसार 31.16 प्रतिशत हो गया;
- ग्राम्य जनसंख्या का अनुपात 72.19 प्रतिशत घटकर 68.84 प्रतिशत रह गया।

स्रोत : भारत की जनगणना 2011

भारत में जनसंख्या की दशकीय वृद्धि

विगत एक दशक में जनसंख्या–वृद्धि की प्रवृत्ति अत्यधिक आशानुरूप रही है जिसमें धीमी बढ़त के लक्षण दिख रहे हैं। भारत एक ऐसा देश है जहां की जनसंख्या में भिन्नताएं बहुत हैं एवं इसीलिए जनसंख्या के लिए कोई एकरूप नीति को लाया जाना दुष्कर है। भारतीय जनसंख्या में जनसंख्या–वृद्धि की निम्नांकित चार प्रावस्थाओं की पहचान की जा सकती है–

टिप्पणी

***सारणी** : जनसंख्या–वृद्धि की प्रावस्थाएं*

क्रमांक	दशक	प्रवृत्ति
1.	1901–1921	स्थिर जनसंख्या
2.	1921–1951	निरंतर वृद्धि
3.	1951–1981	तीव्र व उच्च वृद्धि
4.	1981–2011	धीमी वृद्धि के सुनिश्चित लक्षणों सहित उच्च वृद्धि

सारणी में भारत में जनसंख्या–वृद्धि की प्रवृत्तियां प्रदर्शित हैं। 1951–1981 की अवधि में वृद्धि–दर अति उच्च थी। गिब्स के अनुसार जनसंख्या–परिवर्तनों का सांद्रण पांच अवस्थाओं में विभक्त रहा है। प्रथम अवस्था में नगरीय बसाहट उभरी परंतु ग्राम्य जनसंख्या के समकक्ष वृद्धि नहीं हुई, न ही इतने उच्च प्रतिशत में। द्वितीय अवस्था में नगरीय जनसंख्या की दर ग्राम्य–नगरीय प्रवास के कारण बढ़ी। तृतीय अवस्था में ग्रामों की जनसंख्या घटेगी व नगरीय जनसंख्या तीव्रगति से बढ़ेगी। चतुर्थ अवस्था में नगरीय केंद्र छोटे–छोटे कस्बों व शहरों से विशेषज्ञों को अपनी ओर आकर्षित करेंगे। इस प्रकार छोटे कस्बों की वृद्धि थम जाएगी एवं नगरीय जनसंख्या में अभिवृद्धि होगी। अंतिम अवस्था में नगरीय केंद्र सुविधाजनक रीति में जनसंख्या को वितरित कर लेंगे।

***सारणी** : जनसंख्या–वृद्धि (1996-2016)*

जनसंख्या सन् 1996 के 934 मिलियन्स से बढ़कर सन् 2016 में 1264 मिलियन्स हो जाने की आशंका है। 1996–2016 व 2011–2016 अवधियों में निम्नांकित में कमी आएगी–

CBR	24.10	से	21.41
CDR	8.99	से	7.48
NGR	1.51%	से	1.39%
IMR			
पुरुष	63	से	38
स्त्री	64	से	39

***सारणी** : भारत में जनसंख्या की दशकीय वृद्धि 2011*

1.	जनसंख्या	1,21,01,93,422
2.	दशकीय वृद्धि	
	निरपेक्ष	18,14,55,986
	प्रतिशत	17.64
3.	दशकीय वृद्धि में परिवर्तन	
	निरपेक्ष	8,60,411
	प्रतिशत	-0.47
4.	औसत वार्षिक वर्द्धनशील वृद्धि–दर (प्रतिशत)	1.64
5.	प्रगतिशील विकास दर (प्रतिशत)	407.64

टिप्पणी

भारत में जनगणना एवं मुख्य आंकड़े

भारत में जनसंख्या–संबंधी आंकड़े तीन स्रोतों से जुटाये जाते हैं–

- जनसंख्या की गणना
- महत्वपूर्ण घटनाओं का पंजीकरण
- राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण।

1. जनसंख्या की गणना

जनसंख्या के अध्ययन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण व आधारभूत स्रोत जनगणना है। जनगणना में जनसंख्या के विभिन्न परिप्रेक्ष्यों (पहलुओं) के आंकड़े मिल जाते हैं। इसमें विभिन्न दृष्टिकोणों से देश की जनसंख्या का विवरण प्राप्त किया जाता है। जनसंख्या की वर्तमान परिस्थिति को समझने के लिए जनगणना का प्रयोग प्रशासकों, शिक्षाविदों एवं नियोजक इत्यादि द्वारा किया जाता है। जनसंख्या–सांख्यिकी देश में आर्थिक एवं राजनैतिक विकास में महत्तापूर्ण भूमिका निभाता है। जनसंख्या से जुड़े आंकड़ों को एकत्र करने हेतु जनसंख्या की दशवार्षिक गणना की जाती है जिसे जनगणना कहा जाता है। जनगणना अर्थात् जनसंख्या की दशवार्षिक गणना एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें अवधिविशेष में जनसांख्यिकीय, आर्थिक व सामाजिक आंकड़ों का एकत्रण, संकलन, मूल्यांकन, विश्लेषण एवं प्रकाशन किया जाता है ताकि देश के सभी व्यक्ति एवं विशेषज्ञ इनका उपयोग कर सकें।

प्रजा से संबंधित विभिन्न आंकड़ों को अनेक देशों में प्राचीन काल से एकत्र किया जाता रहा है, यथा मिस्र, बेबिलोनिया, भारत, चीन, रोम इत्यादि में। भारत में सम्राट अशोक ने अनेक बार जनगणना करायी। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी प्रदर्शित है कि कर–एकत्र करने के प्रयोजन से जनसंख्या के वैविध्यपूर्ण आंकड़ों को संभालकर रखा जाता था। अन्य प्रयोजनों से भी विभिन्न देशों में विशेषतया जनसंख्या के आकार के संबंध में आंकड़े एकत्र किये जाते हैं। अनेक देशों में अपनी–अपनी जनसंख्या से संबंधित आंकड़ों को अपने आंतरिक प्रयोजनों के लिए अनुरक्षित कर लिया जाता है। आधुनिक जनगणना अधिक वैज्ञानिक है व पुरातन जनगणनाओं से पूर्णतः भिन्न है। जनगणना की आधुनिक अवधारणा का उद्‌भव सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध व अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। यहां जनगणना का आशय जनसंख्या के पूर्ण विवरण व इससे संबंधित समस्त जानकारियों से है। जनगणना की विशेषताएं निम्नांकित हैं–

- इसे केंद्र शासन द्वारा प्रायोजित किया जाता है;
- इसे राजनैतिक व भौगोलिक दोनों परिदृश्यों में पूर्वनिर्धारित क्षेत्र में संचालित किया जाता है;
- जानकारियां प्रत्येक व्यक्ति से जुटायी जाती हैं एवं इस प्रकार प्राप्त सूचनाएं सार्वभौमिक स्वरूप लिए होती हैं;
- जनता की गणना का यह कार्य दस वर्ष के अंतराल में किया जाता है;
- विश्वसनीयता एवं प्रामाणिक तुलना हेतु आंकड़ों को एकसाथ एकत्र किया जाता है;

टिप्पणी

- प्रत्येक व्यक्ति से जानकारियां जुटायी जाती हैं फिर चाहे समाज में उसकी स्थिति जैसी भी हो;
- गणना के उपरांत इसे तुरंत प्रकाशित किया जाता है।

भारत की जनगणना में व्यक्ति के समस्त महत्वपूर्ण लक्षणों का समावेश किया जाता है, यथाः पारिवारिक आंकड़े, व्यक्तिगत व घरेलू अभिलक्षण एवं सामाजिक–आर्थिक अभिलक्षण। जनगणना के आंकड़ों का स्वरूप व्यापक होता है एवं संवेदनशील आंकड़ों का समावेश नहीं किया जाता। जनगणना में प्रयुक्त प्रत्येक अवधारणा को स्पष्टतया परिभाषित किया जाता है व विभिन्न विधियों द्वारा परखने के पश्चात् उपयोग में लायी जाती है। जनगणना के आंकड़े स्थान व समय की अवधारणाओं पर निर्भर हैं। इसीलिए विभिन्न अवधारणाओं को उस रीति में जानना अति महत्तापूर्ण है कि जिसमें उनका प्रयोग किया जाना हो। अवधारणा को समझने के लिए जनगणना में निम्नलिखित तीन सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता है–

(क) **सार्वत्रिकता** : यहां जनगणना में विशेष सावधानी बरती जाती है कि कोई गणना दोबारा न कर ली जाए। जनगणना में चूंकि प्रत्येक व्यक्ति को सम्मिलित करना होता है जिससे जनसंख्या के कुछ प्रतिशत को दोहराव हो जाने की आशंका बनी रहती है। इस स्थिति से बचने के लिए पार–परीक्षण किया जाता है। जनगणना में देश के प्रत्येक व्यक्ति से जुड़े आंकड़े जुटाये जाते हैं। जनगणना को कभी–कभी 'उपलब्ध/उपस्थित गणना' (हेड काउंटिंग) कह दिया जाता है। कोई व्यक्ति छूटना नहीं चाहिए। इस प्रयोजन हेतु एक पृथक् क्रियाविधि अपनायी जाती है।

(ख) **समकालिकता** : जनगणना में प्रत्येक कारक का संबंध समय तत्व से होता है। एकत्र प्रत्येक आंकड़ा समय के संदर्भ में देखा जाता है।

(ग) **व्यष्टिगत इकाई** : जनगणना देश की जनसंख्या का समग्र विवरण है।

यहां प्रतिदर्श (सैंपल) जैसा कुछ नहीं होता, इसीलिए सभी इकाइयों को जनगणना में विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है। साधारणीकरण संपूर्णता से किया जाता है, न कि प्रतिदर्श–आकार से।

भारत में जनगणना समय के सापेक्ष उन्नत होती आयी है। प्रत्येक जनगणना पूर्ववर्ती जनगणना से उन्नत रूप लिए होती है। सन् 1951 की जनगणना स्वाधीन भारत की प्रथम आधुनिक जनगणना थी। आरंभ से ही भारत में जनगणना कराने का दायित्व केंद्र शासन का रहा है। भारत में जनगणना प्रभारी गृह प्रसंग मंत्रालय का संघ–विषय है। भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के वरिष्ठ अधिकारियों को जनगणना–संबंधी कार्य–प्रभार सौंप दिया जाता है, साथ में सहस्त्रों गणक (इन्यूमरेटर्स) व अनेक अधिकारी पदानुक्रम के विभिन्न स्तरों पर होते हैं। गणक सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है जो जनता एवं जनगणना के मध्य सेतु–सा कार्य करता है। इसे अपने लिए पूर्वनिर्धारित सभी घरों में जाना होता है। 1948 के भारतीय जनगणना अधिनियम के अनुसार केंद्र शासन इस हेतु प्राधिकृत है कि समूचे देश अथवा इसके किसी भाग को अधिसूचित करे व जनगणना करे। यह जनगणना को अभिप्रामाणिक रूप में लाने के लिए गणकों से कहता है कि ये निर्धारित जनगणनात्मक प्रश्न सत्यनिष्ठा से पूछें। इस अधिनियम में यह आश्वासन भी दिया गया है कि व्यक्तियों से किसी भी जनगणना में जुटायी गयी जानकारियों को

टिप्पणी

गोपनीय रखा जाएगा एवं सांख्यिकीय प्रयोजनों में ही उनका प्रयोग किया जाएगा व कोर्ट ऑफ़ लॉ के साक्ष्य के रूप में नहीं लाया जा सकेगा।

जनगणना का कार्य आरंभ करने से पूर्व प्रथम चरण में जनगणना के विस्तारक्षेत्र की परिचर्चा विभिन्न स्तरों पर की जाती है एवं सुझाव लेकर सुधार किये जाते हैं, पूर्वानुभवों को ध्यान में रखा जाता है।

2. महत्वपूर्ण घटनाओं का पंजीकरण

जीवन की महत्तापूर्ण घटनाओं का पंजीकरण जनसंख्या के आंकड़ों का एक और महत्वपूर्ण स्रोत है। तीन अवधारणाएं महत्तापूर्ण हैंः महत्तापूर्ण घटनाए, महत्वपूर्ण अभिलेख (रिकॉर्ड्स) एवं महत्वपूर्ण आंकड़े।

- महत्तापूर्ण घटनाओं के अंतर्गत आत्मा के द्वारा देह धारण करना व त्यागना एवं विवाह सम्मिलित हैं।
- महत्वपूर्ण अभिलेखों के अंतर्गत उपरोक्त घटनाओं के लिखित अभिलेख सम्मिलित हैं।
- उपरोक्त दोनों बिंदुओं को संयुक्त रूप में महत्वपूर्ण आंकड़े कहते हैं।

महत्वपूर्ण आंकड़े एक सतत् प्रसंग है क्योंकि किसी भी समाज में यह कभी समाप्त न होने वाली प्रक्रिया है। महत्वपूर्ण पंजीकरण प्रणाली को नागरिक–पंजीकरण भी कहा जाता है। जन्म व मृत्यु का पंजीकरण पंद्रहवीं शताब्दी में आरंभ कर दिया गया था।

वर्तमान में महत्वपूर्ण आंकड़ों को वैधानिक प्रलेख के रूप में महत्वपूर्ण अभिलेख माना जाता है। प्रशासकों व नियोजकों इत्यादि द्वारा इन आंकड़ों का प्रयोग स्वास्थ्य, शैक्षणिक केंद्रों, खाद्य–आपूर्ति इत्यादि क्षेत्रों में किया जाता है।

3. राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण

आंकड़ों को एकत्र करने का यह तीसरा मुख्य स्रोत है। प्रतिदर्श सर्वेक्षणों में जनसंख्या के प्रतिदर्श से जनसांख्यिकीय आंकड़े एकत्र किये जाते हैं जबकि जनगणना एवं महत्वपूर्ण पंजीकरण में तो समग्र जनसंख्या का समावेश रहता है। प्रतिदर्श सर्वेक्षण आंकड़ों का प्रयोग नृविज्ञानी, समाजविज्ञानी व अन्य वैज्ञानिकों द्वारा किया जाता है जो अपने अनुसंधानों के लिए जनसंख्यात्मक आंकड़ों का उपयोग करते हैं (उदाहरणार्थ आनुवंशिक रोगियों का संभावित प्रतिशत पता लगाने में)। प्रतिदर्श सर्वेक्षण का अतीत अधिक पुराना नहीं है। बहुत सारे समूहों द्वारा जनसंख्या की गणना की जाती है परंतु इनमें से प्रमुख माने जाने वाले तीन निम्नांकित हैं–

- राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन द्वारा कराये जाने वाले सर्वेक्षण
- नियोजन आयोग की 'अनुसंधान कार्यक्रम समिति' द्वारा प्रायोजित नगर–सर्वेक्षण
- उर्वरता (संतानोत्पत्ति–क्षमता) एवं परिवार–नियोजन सर्वेक्षण

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण एक स्थायी संगठन है जिसे सन् 1950 में स्थापित किया गया था। इसका प्रमुख उद्देश्य समूचे देश के सामाजिक, आर्थिक, जनसांख्यिकीय व कृषिगत अभिलक्षणों से संबंधित विस्तृत सूचनाएं अनवरत् रूप से प्राप्त करना है। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण ने सर्वेक्षण के 32 राउंड्स पूरे कर लिए हैं। राष्ट्रीय प्रतिदर्श

सर्वेक्षण ने परिवार–नियोजन प्रवृत्ति–परिवर्तन, जनसांख्यिकीय ढांचा इत्यादि के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों को सम्मिलित किया है।

टिप्पणी

जनसंख्या संघटन : आयु, लिंग, ग्रामीण, शहरी, साक्षरता

जनसंख्या के संरचनात्मक घटकों को हम निम्न बिंदुओं के तहत समझ सकते हैं–

जनसंख्या का आयु व लिंग संघटन

जनसंख्या के ढांचे में दो सबसे महत्वपूर्ण अवयव आयु व लिंग हैं। जनसंख्या के सामाजिक व आर्थिक अभिलक्षण इसके अवयवों (आयु, लिंग, नस्ल, राष्ट्रीयता, धर्म, भाषा, वैवाहिक स्थिति, शिक्षा, रोज़गार/वृत्ति इत्यादि) पर निर्भर होते हैं। इन चरों में से आयु व लिंग स्वतंत्र चर होते हैं क्योंकि अन्य समस्त कारक इन दो कारकों पर निर्भर होते हैं। लिंग व आयु वरीय अभिलक्षण हैं जनसंख्या में जिनका महत्व सर्वाधिक होता है। वरीय अभिलक्षण ऐसे प्राथमिक अभिलक्षण होते हैं जो व्यक्तियों की सांस्कृतिक एवं/अथवा जैविक पहचान के आधार हैं। अर्जित स्थिति को व्यक्तियों द्वारा अर्जित किया जाता है (यथाः आर्थिक स्थिति)। जनसंख्यात्मक ढांचे में आयु व लिंग के अध्ययन के निम्नलिखित कारण होते हैं–

1. जनसंख्या–संबंधी समस्त आंकड़ों को आयु व लिंग के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। अन्य सभी आंकड़े आयु व लिंग के आधार पर सारणीबद्ध किये जाते हैं।
2. लिंग व आयु दो दृश्य मानव–अभिलक्षण हैं जो प्रायः विवाद रहित होते हैं।
3. समाज के प्रत्येक व्यक्ति की आयु व लिंग के आधार पर बनी हुई स्थिति प्रायः नियत रहती है।
4. विशेषज्ञों का दृष्टिकोण यह है कि लिंगानुपात एक विकास–संसूचक है।
5. जनसांख्यिकीविदों के अनुसार जनसंख्या के कारक लिंग (पुरुष व स्त्री) से प्रभावित रहते हैं। उदाहरणार्थ विवाह, प्रवास, उर्वरता इत्यादि की निर्भरता लिंग पर होती है (प्रवास का सम्बध प्रायः पुरुषों से होता है व प्रभाव समूचे परिवार पर पड़ता है; वंध्यत्व से ग्रसित दोनों लिंग हो सकते हैं परंतु दोनों की जांच से पूर्व ही स्त्री को वंध्य मान लिया जाता है)।
6. समुदाय की सामाजिक आवश्यकताओं, रोज़गार व उपभोग–प्रारूपों को समझने के लिए लिंगानुपात का ज्ञान होना आवश्यक है।
7. समाज–विज्ञानियों के लिए समुदाय को समझने हेतु आयु–ढांचा महत्वपूर्ण होता है।
8. आयु–ढांचे व लिंगानुपात को जाने बिना देश का नियोजन संभव नहीं।

आयु–ढांचा

यूनाइटेट नेशन्स ने आयु को 'पूर्ण सौर वर्षों में प्रदर्शित जनगणना के दिनांक व जन्म–दिनांक के मध्य के प्राक्कलित अथवा गणित समयांतराल के रूप में परिभाषित किया है। जनगणना के विनियमों के अनुरूप आयु को व्यक्ति के जन्म–समय (दिनांक, माह व वर्ष) के रूप में समझना होता है। भारत में आयु की जानकारी प्राप्त करनी अत्यधिक कठिन है क्योंकि (अ) जनसंख्या का एक बड़ा भाग निरक्षर है; (आ)

टिप्पणी

जन्म–पंजीकरण को कई परिवार आवश्यक नहीं समझते। यद्यपि जन्म की पंजीकरण वैधानिक रूप से अनिवार्य कर दिया है तथापि निरक्षर व अर्द्धनिरक्षर जनसंख्या इस पर ज़ोर नहीं देती। आयुगत ढांचे का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है। एक प्रकार निम्नांकित है–

- बच्चे (15 से अल्प वर्षायु)
- वयस्क (15 से 59 वर्षायु)
- वृद्ध (60 से अधिक वर्षायु)

किसी भी जनसंख्या के आयुवर्ग में बच्चों का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है। विकासशील देशों में इस आयुवर्ग के व्यक्तियों का प्रतिशत प्रायः अधिक होता है यदि देश जनसांख्यिकीय रूप में संक्रामी अवस्था में हो तो। समूचे विश्व की 35.6 प्रतिशत जनसंख्या 15 वर्ष के अल्प आयुवर्ग की है। विकसित देशों में यह प्रतिशत विकासशील देशों से कम हो सकता है। सांख्यिकी में स्पष्ट है कि विकसित देशों में 15 से अल्प आयुवर्ग के बच्चे कुल जनसंख्या का 20 प्रतिशत हैं तबकि विकासशील देशों में यह प्रतिशत 20 है। वयस्क ऐसे व्यक्तियों को कहा जाता है जो 15 से 59 वर्षायु के हों। समाज–विज्ञानियों के अनुसार यह आयुवर्ग सर्वाधिक उत्पादक है। वयस्कों को जैविकरूपेण प्रजननकारी, आर्थिकरूपेण उत्पादक एवं जनसांख्यिकीय रूप से सचल माना जाता है। यही वह आयुवर्ग है जो बच्चों व वृद्धों का दायित्व ग्रहण करता है। अधिकांश समाजों में वयस्क समूचे देश के संचालन का दायित्व ग्रहण किये हुए हैं। विकसित देशों में इस आयुवर्ग के व्यक्तियों का प्रतिशत अधिक (65.6 प्रतिशत) है एवं विकासशील देशों में कम (56.2 प्रतिशत) है।

जनसंख्या में वृद्ध आयुवर्ग के अंतर्गत 60 वर्ष से अधिक आयु के लोगों की गणना की जाती है। वृद्ध लोगों को वरिष्ठ नागरिक अथवा बड़े–बुज़ुर्ग भी कहा जाता है। अधिकांश देशों ने वृद्धों की संख्या को जानने की आवश्यकता को समझा है क्योंकि जीवन–काल बढ़ने के कारण इनकी संख्या बढ़ती जा रही है। जनसंख्या में आयुगत ढांचे को तीन कारक निर्धारित करते हैंः उर्वरता, मरण एवं प्रवास। ऐसा समझा जाता है कि 1950 के दशक से जनसांख्यिकी में अनुसंधान करते हुए देशों को कुल जनसंख्या पर उर्वरता के प्रभाव के विषय में चेतावनी दी जाने लगी थी। देश की जनसंख्या का जनसांख्यिकीय ढांचा देश की उर्वरता पर अत्यधिक निर्भर होता है। इसी प्रकार देश की मरण–दर भी जनसंख्या के ढांचे को प्रभावित करती है। वैसे ऐसा पाया गया है कि आयु–वितरण पर मरण की अपेक्षा उर्वरता का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। जनसंख्यात्मक ढांचे को प्रभावित करने वाला तीसरा कारक प्रवास है। अंतर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय दोनों प्रकार के प्रवास से जनसंख्या प्रभावित होती है। कई गांवों से किशोरों व युवाओं का पलायन इतने बड़े स्तर पर देखा गया है कि जनसंख्या के संदर्भ में उस गांव को वृद्धग्राम कहा जा सकता है।

टिप्पणी

***सारणी** : कुल जनसंख्या का आयु–संघटन (प्रतिशत में)*

Year	Below Five Years	Between 0-15	Between 15-59	+60 Years
1991	12.80	37.76	55.58	6.57
2001	10.70	34.33	58.70	6.97
2011	10.10	28.48	63.68	8.14
2016	9.70	27.73	63.33	8.94

लिंगानुपात एवं जनसंख्या

जनसंख्या के लिंगानुपात की गणना या तो जनसंख्या में पुरुषों प्रतिशत का मापन करके की जाती है अथवा लिंगानुपात द्वारा। जनसंख्या के लिंगानुपात का तात्पर्य 1000 पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या है। किसी समय कुल जनसंख्या के लिंगानुपात को संपूर्ण लिंगानुपात कहा जाता है। विकसित देशों में प्रायः स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक होती है। विकासशील देशों में स्त्रियों की संख्या कम होती है क्योंकि स्त्रियों को सामाजिक रूप में उतना मान प्रदान नहीं किया जाता। इस कारण कन्याशिशु होने की स्थिति में नवजात मृत्युदर अधिक रहती है एवं बालिकाओं में पोषणात्मक अल्पताओं के कारण मृत्यु हो जाने के प्रकरण भी अधिक देखे जाते हैं।

भारत में पहले से ही स्त्रियों की संख्या कुल जनसंख्या में अत्यल्प रही है। सन् 1901 में लिंगानुपात 1000–972 था जो क्रमशः और घटता चला गया एवं सन् 1991 में स्थिति 1000: 927 हो गई। सन् 2001 में 1000 पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या बढ़कर 933 हो गई तथा 2011 में यह 940 हो गई। लिंगानुपात घटने के कारण हैं: पुत्रप्राप्ति की लालसा; बालिका के विरुद्ध भेदभाव; सीमित नारी–शिक्षा एवं कन्या–भ्रूणहत्या। डॉक्टर आर. सी. चंद्र का कहना है कि लिंगानुपात के तीन स्तर होते हैं–

- **प्राथमिक लिंगानुपात**– इसमें गर्भधारण के समय पुरुष व स्त्री के मध्य लिंगानुपात प्रदर्शित होता है।
- **द्वितीयक लिंगानुपात**– यह जन्म के समय दोनों लिंगों के मध्य का अनुपात है।
- **तृतीयक लिंगानुपात**– यह गणना के समय दोनों लिंगों का अनुपात है।

किसी जनसंख्या का लिंगानुपात निम्नांकित तीन कारकों पर निर्भर होता है–

(क) नवजात शिशुओं का लिंगानुपात अथवा जन्म के समय लिंगानुपात

(ख) मृत व्यक्तियों का लिंगानुपात

(ग) शुद्ध प्रवासियों का लिंगानुपात

ग्राम्य एवं नगरीय जनसंख्या

तृतीय विश्व के अन्य देशों की भांति भारत की नगरीय जनसंख्या अतिमंद गति से बढ़ रही है। ग्राम्य से नगरीय क्षेत्रों की ओर बढ़ते प्रवास के बावजूद नगरीय क्षेत्रों में रहने

वाली जनसंख्या 25 से 30 प्रतिशत ही है। सन् 1901 से सन् 1991 तक नगरीय जनसंख्या में 15 प्रतिशत ही वृद्धि हुई; नगरीय जनसंख्या 10.8 प्रतिशत से 25.8 प्रतिशत हो गयी।

टिप्पणी

ग्राम्य–नगरीय जनसंख्या (2011)

क्षेत्र	जनसंख्या का प्रतिशत
ग्राम्य	68.84%
नगरीय	37.7%

विकसित देशों में दो–तिहाई जनसंख्या नगरों में रहती है। विगत दशक में भारत में द्रुत नगरीकरण किया गया है। सन् 2011 में इसकी नगरीय जनसंख्या 377.1 मिलियन्स तक पहुंच गयी।

ग्राम्य क्षेत्रों से नगरीय क्षेत्रों की ओर प्रवास प्रतिवर्ष तीव्रता से बढ़ रहा है। आरंभ में सर्वाधिक प्रवास त्रिपुरा की ओर किया गया, अगले स्थान पर दिल्ली रहा। राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार एवं उत्तरप्रदेश में सबसे कम प्रवास देखा गया। असम से पलायन करने वालों की संख्या अत्यधिक रही क्योंकि यहां औद्योगिकीकरण का अभाव था। अब प्रवास का रूप बदला है। चैन्नई में प्रवासी जनसंख्या का प्रतिशत सर्वाधिक है।

सारणी *: लिंगानुसार जीवन–प्रत्याशा*

वर्ष	पुरुष	स्त्री
1901–11	22.59	23.31
1911–21	19.42	28.91
1921–31	26.91	26.56
1931–41	32.09	31.37
1941–51	32.45	31.66
1951–61	41.89	40.55
1961–71	49.20	47.40
1971–81(Est.)	56.70	55.10
1971–76*	50.12	48.79
1976–81*	52.62	57.55
1981–86*	55.12	54.31
1986–91	57.62	57.07
1991–1996*	60.6	61.7
1996–2001*	62.8	64.2
2001–2006*	64.8	65.8
2006–2011	67.0	63.3

Source: Different Census Reports.

+ Census of India: Various issues

टिप्पणी

***सारणी** : आयु व लिंग अनुरूप जनसंख्या–वृद्धि का प्रतिशत–वितरण 1996–2016, भारत*

आयु	1996			2001			2011			2016		
	M	F	P	M	F	P	M	F	P	M	F	P
0-4	12.6	13.0	10.6	10.6	10.8	10.7	10.1	10.2	10.1	9.7	9.7	9.7
5-9	13.2	13.3	11.3	11.3	11.6	11.5	9.4	9.4	9.4	9.3	9.3	9.3
10-14	11.9	11.5	12.1	12.1	12.1	12.1	8.9	9.0	8.9	8.7	8.7	8.7
15-19	9.9	9.5	11.0	11.0	10.5	10.8	9.7	9.9	9.8	8.3	8.3	8.3
20-24	8.6	9.0	9.1	9.1	8.7	8.9	10.4	10.3	10.3	9.0	9.1	9.1
25-29	7.8	8.5	7.9	7.9	8.2	8.0	9.4	8.9	9.2	9.7	9.5	9.6
30-34	7.0	7.2	7.2	7.2	7.7	7.4	7.8	7.3	7.6	8.7	8.2	8.5
35-39	6.2	6.0	6.4	6.4	6.6	6.5	6.7	6.9	6.8	7.2	6.8	7.0
40-44	5.3	5.0	5.6	5.6	5.5	5.5	6.0	6.5	6.2	6.2	6.4	6.3
45-49	4.4	4.2	4.7	4.7	4.5	4.6	5.3	5.4	5.4	5.5	5.9	5.7
50-54	3.6	3.4	3.9	3.9	3.7	3.8	4.6	4.6	4.5	4.8	5.0	4.9
55-59	2.9	2.8	3.1	3.1	3.0	3.1	3.7	3.6	3.6	4.0	4.0	4.0
60-64	2.4	2.4	2.4	2.4	2.4	2.4	2.9	2.8	2.9	3.2	3.1	3.1
65-69	1.7	1.8	1.9	1.9	1.9	1.9	2.1	2.1	2.1	2.3	2.4	2.4
70-74	1.3	1.2	1.3	1.3	1.3	1.3	1.4	1.5	1.4	1.6	1.6	1.6
75-79	0.5	0.5	0.8	0.8	0.8	0.8	0.9	1.0	1.0	0.9	1.0	1.0
80+	0.8	0.8	0.6	0.6	0.6	0.6	0.8	0.8	0.8	0.8	0.9	0.9
All	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**

स्रोतः भारत के महापंजीयक, 1996– नियोजन आयोग द्वारा गठित 'जनसंख्या–वृद्धि गूढ़ समिति' की रिपोर्ट

भारतीय जनगणना में जनसंख्या के अनुरूप नगरों को छः प्रकारों में विभाजित किया जाता है। श्रेणी में उच्चतर नगरों की संख्या बढ़ रही है जबकि श्रेणी में निम्नतर नगरों की संख्या धीमी गति से घट रही है। 12 बड़े नगरों की जनसंख्या 10 लाख से अधिक है। सन् 1991 की जनगणनानुसार मात्र 25.72 प्रतिशत जनसंख्या नगरों में निवास करती है जबकि सन् 2001 की जनगणनानुसार 27.8 प्रतिशत जनसंख्या नगरों में है जो 2011 में 37.7 प्रतिशत हो गई है।

मातृ–मृत्युदर

जनसंख्या–परिवर्तन के तीन अवयवों में से एक हैः मरण। मरण वह कारक है जिस पर नियंत्रण सीमित रहता है। आरंभ में मरण पर मानव का नियंत्रण तनिक भी नहीं हुआ करता था। आज विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की उन्नतियों के कारण मृत्यु का टालते हुए जीवन–प्रत्याशा बढ़ायी जा रही है। विकासशील देशों में मातृ–मृत्यु एवं शिशु–मृत्यु अब भी चिंता के दो विषय हैं। अधिकांश देशों में ऐसा देखा गया है कि मरण–स्थितियां पुरुषों व स्त्रियों के लिए भिन्न–भिन्न होती हैं। अधिकांश अनुभवों में ऐसा पाया गया है कि मरण के संदर्भ में स्त्रियां पुरुषों की तुलना में अधिक सुरक्षित रहती हैं परंतु भारत व बांग्लादेश अपवाद हैं। लगभग सभी देशों में स्त्रियों का औसत जीवन अधिक रहा है।

मातृमृत्यु–दरः 470 प्रति 1,00,000 जन्म

मातृमृत्यु के प्रमुख कारण गर्भावस्था में जन्मपूर्व व प्रसव के समय पर्याप्त देखरेख न मिलना है। गांवों एवं कई शहरों में गर्भवतियों की देखभाल की अनदेखी की जाती है। भले ही शासन व अन्य अभिकरणों ने इस दिशा में पग बढ़ाये हों परंतु अब भी लापरवाही व अज्ञानता से मातृमृत्यु के कई प्रकरण दिख रहे हैं। मातृमृत्यु–दर को घटाने अथवा रोकने के लिए अधिक ध्यान केन्द्रित किये जाने की आवश्यकता है।

टिप्पणी

जनसंख्या एवं जनसांख्यिकीय आकलन

देश के प्रभावी नियोजन के लिए जनसंख्या का आकलन अति आवश्यक है। जनसंख्या–वृद्धि, संघटन इत्यादि में हो रहे परिवर्तनों में देश का भविष्य नज़र आता है। देश के वृद्धि–प्रारूप को समझने में गुणात्मक व मात्रात्मक दोनों प्रकार के विश्लेषण आवश्यक हैं। साधारणतया ऐसा पाया गया है कि जनसांख्यिकीविदों द्वारा प्रस्तुत आकलन अन्यों द्वारा प्रस्तुत आकलनों से अधिक सटीक रहते हैं। जनसंख्या–प्राक्कलक (आकलन–कर्त्ता) विगत व वर्तमान जनसांख्यिकीय दरों (मृत्यु, जन्म व प्रवास) के आधार पर भावी जनसंख्या के आकार एवं वृद्धिदर का आकलन करने का प्रयास करता है। जनसंख्या–आकलन समय के सापेक्ष किया जाता है।

भारत में जनसंख्या–आकलन

जनसंख्या का आकलन इनके द्वारा किया जाता हैः शिक्षाविद्, जनसांख्यिकीविद् एवं संस्थान, यथा– यूनाइटेड नेशन्स, केंद्रीय सांख्यिकीय संगठन, नियोजन आयोग इत्यादि। सन् 1949 में किंग्स्ले डेविस ने भारत के तीन आकलन तैयार किये। भले ही उनके आकलन वास्तविकता से दूर हों परंतु उनके आकलनों के कारण जनसांख्यिकीविदों व शिक्षाविदों को एक मूलभूत जानकारी मिली। सन् 1951 में जनगणना आयुक्त एवं भारत महापंजीयक श्री आर.ए. गोपालस्वामी ने भारतीय जनसंख्या का अनुमान लगाया। किंग्स्ले डेविस व गोपालस्वामी दोनों ने भारत की जनसंख्या का अनुमान लगाने के लिए ज्यामितीय वृद्धिदर का प्रयोग किया था। सन् 1954 में गुप्ता व मजूमदार ने 'प्रतिलोम उत्तरजीविता विधि' (रिवर्स सर्वाइवल मेथड) के प्रयोग से जनसंख्या का आकलन किया। सन् 1959 में भारत शासन ने सन् 1981 तक की जनसंख्या के पूर्वानुमान का प्रयास किया। इनके अतिरिक्त अनेक अन्य अभिकरणों व विशेषज्ञों ने भी देश की जनसंख्या के आकलन में भूमिका निभायी।

सन् 1996 में (नौवीं योजना बनाने से पूर्व) नियोजन आयोग ने सन् 1996 से सन् 2016 तक के लिए देश की जनसंख्या के आकलन के लिए एक गूढ़ समिति का गठन किया।

जनसांख्यिकीय परिदृश्य : भविष्य की चुनौतियां

अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के संदर्भ में जनसंख्या–वृद्धि के जनसांख्यिकीय परिदृश्य को समझने के लिए निम्नांकित कारकों को ध्यान में रखना होगा–

- आकार एवं वृद्धि
- ग्राम्य एवं नगरीय जनसंख्या
- लिंग एवं आयु संघटन
- जन्म के समय जीवन–प्रत्याशा
- घनत्व
- वृद्धि–दर
- साक्षरता

भारत की जनसंख्या का अध्ययन दो कालखंडों में किया जा सकता है–

- पूर्वाधुनिक कालखंड (सन् 1881 से पूर्व)
- आधुनिक कालखंड (सन् 1881 से अब तक)

सन् 1881 को भारत में जनगणना का आरंभिक वर्ष कहा जाता है।

टिप्पणी

अखिल भारतीय साक्षरता

साक्षरता एवं शिक्षा–स्तर किसी समाज के विकास–स्तर के मूलभूत संसूचक कहे जाते हैं। साक्षरता का प्रसार साधारणतया आधुनिक सभ्यता के महत्वपूर्ण लक्षणों से जुड़ा होता है, ये लक्षण हैंः आधुनिकीकरण, नगरीकरण, औद्योगिकीकरण, संचार एवं वाणिज्य। साक्षरता व्यक्तियों के समग्र विकास में एक महत्तापूर्ण आदान है जिससे वे अपने सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक परिवेश को ठीक से समझ पाते हैं एवं तदनुसार प्रतिक्रिया कर पाते हैं। शिक्षा एवं साक्षरता के उच्चतर स्तरों से व्यापक जागृति आती है एवं आर्थिक व सामाजिक स्थितियों में भी सुधार होता है। साक्षरता सामाजिक उत्थान में प्रेरक का कार्य करती है जिससे वैकासिक प्रयासों के लगभग प्रत्येक पहलू पर प्रभाव पड़ता है जैसे जनसंख्या–नियंत्रण, स्वास्थ्य व स्वच्छता, पर्यावरणीय विघटन–नियंत्रण एवं समाज के निर्बल वर्गों के रोजगार पर।

सन् 2011 की जनगणनानुसार देश में 272,950,015 व्यक्ति निरक्षर हैं। इनमें से 9,65,68,351 पुरुष व 17,63,81,664 स्त्रियां हैं। स्पष्ट है कि समग्र साक्षरता–दर 74% है, पुरुष–साक्षरतादर 82.14% एवं स्त्री–साक्षरतादर 65.46% है। इस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर लिंगों के मध्य 16.68 प्रतिशत बिंदु का अंतराल प्रदर्शित हो रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में यह अंतराल अधिक है। नगरीय क्षेत्रों में पुरुषों व स्त्रियों दोनों में साक्षरता–दर उच्च है एवं इसमें लिंगों के मध्य अंतराल कम (10 प्रतिशत बिंदु) है। साक्षरता के स्तर में केरल, मिज़ोरम, लक्षद्वीप, गोआ व चण्डीगढ़ शीर्षस्थ पांच स्थानों पर हैं जबकि दादरा एवं नगर हवेली, उत्तर प्रदेश, जम्मू–कश्मीर, अरुणाचल प्रदेश, झारखण्ड एवं बिहार सबसे नीचे हैं।

ग्राम्य जनसंख्या में साक्षरता–दरें केरल में सर्वाधिक, फिर लक्षद्वीप, मिज़ोरम, गोआ एवं दिल्ली में हैं। चौदह राज्यों/संघशासित क्षेत्रों में 60 प्रतिशत से कम ग्राम्य साक्षरता दर दर्ज की गयी।

***सारणी** : साक्षरता दर एवं लिंग के परिदृश्य में ग्रामों/कस्बों की संख्या*

साक्षरता की परास (प्रतिशत)	व्यक्ति		पुरुष		स्त्रियाँ	
	ग्रामों की संख्या	UAs/कस्बों की संख्या	ग्रामों की संख्या	UAs/कस्बों की संख्या	ग्रामों की संख्या	UAs/कस्बों की संख्या
शून्य	3,077	0	3,546	0	9,899	0
10 से कम	8,664	0	4,516	0	28,412	0
10-25	31,494	0	14,410	0	90,198	17
25-50	162,727	122	72,057	33	244,760	475
50-75	294,596	1,740	237,381	624	186,245	2,638
75 अथवा अधिक	93,055	2,516	261,630	3,721	33,029	1,248
कुल*	593,613	4,378	593,540	4,378	592,543	4,378
स्रोतः प्राथमिक जनगणना सार, भारतीय जनगणना 2001; ***नोटः* *ऐसे ग्राम/ UA /कस्बे सम्मिलित नहीं जहाँ मानवबसाहट नहीं है**						

टिप्पणी

2.3.5 जनसंख्या–वृद्धि को प्रभावित करने वाले कारक

जनसंख्या–वृद्धि को प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन निम्नांकित बिंदुओं के तहत किया जा सकता है–

प्रजनन क्षमता : संतानोत्पत्ति की धारणा

संतानोत्पत्ति, उर्वरता एवं प्रजनन–क्षम आयु अवस्था का अध्ययन जनसांख्यिकी में अति महत्वपूर्ण है। ये ऐसे महत्वपूर्ण कारकों में से कुछ हैं जो जनसंख्या की दर को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। ये कारक सामाजिक, आर्थिक एवं स्वास्थ्यगत मुद्दों (यथा जनसंख्यात्मक दबाव, लोक–स्वास्थ्य, कम प्रतिव्यक्ति आय, निम्न जीवन–मापदंड एवं जनसंख्या की कम वृद्धि) के सूचक भी होते हैं। संतानोत्पत्ति, उर्वरता एवं प्रजनन–क्षम आयु अवस्था में संबंध को समझने से पहले इनमें से प्रत्येक के तात्पर्य व परिभाषा को जान लेना आवश्यक है।

- **उर्वरता**

'उर्वरता' शब्द का प्रयोग जीवों की प्रजनन–क्षमता दर्शाने के लिए किया जाता है। जनसांख्यिकीय शब्दावली में उर्वरता का तात्पर्य संततियों का वास्तविक उत्पादन है। इसका अभिप्राय जीवित जन्म देने से है।

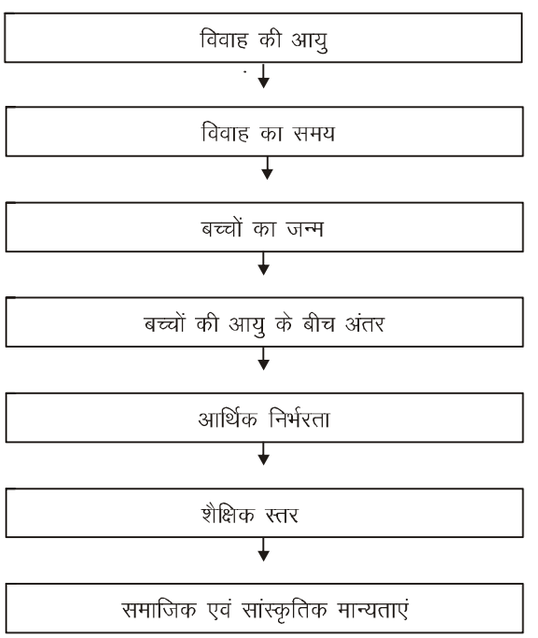

***चित्र** : उर्वरता के निर्धारक कारक*

- **प्रजनन–क्षमता आयु–अवस्था**

बच्चा धारण कर पाने की दैहिक क्षमता को फ़ेकण्डिटी कहा जाता है।

मासिक स्राव आरंभ होने से लेकर रजोनिवृत्ति होने तक की अवधि को Reproductive Span कहते हैं।

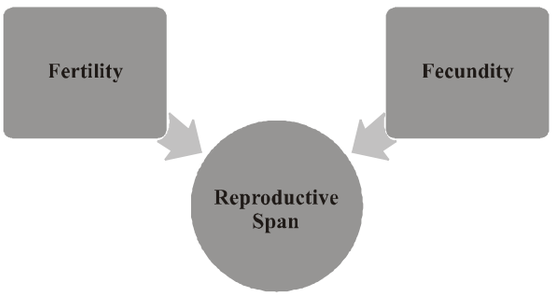

चित्र : फ़र्टिलिटी, फ़ेकंडिटी एवं रिप्रोडक्टिव स्पैन में संबंध

रिप्रोडक्टिव स्पैन से दंपति, विशेषतः स्त्रियों की फ़र्टिलिटी निर्धारित होती है। पत्नी के रिप्रोडक्टिव स्पैन से फ़र्टिलिटी बहुत सीमा तक निर्धारित होती है। विभिन्न जैविक एवं पर्यावरणीय कारक फ़र्टिलिटी, फ़ेकंडिटी एवं रिप्रोडक्टिव स्पैन के संबंध पर प्रकाश डालते हैं जिनका उल्लेख निम्नानुसार है–

1. विवाह की आयु

विवाह की आयु ऐसा निर्णायक कारक है जिससे फ़र्टिलिटी निर्धारित की जाती है। अपने रिप्रोडक्टिव स्पैन की आरंभिक अवधि में स्त्रियां अत्यधिक फ़र्टाइल होती हैं। इनकी फ़ेकंडिटी मासिक स्राव आरंभ होने के साथ प्रारंभ हो जाती है एवं रजोनिवृत्ति पर समाप्त हो जाती है। यह पूरे रिप्रोडक्टिव स्पैन में जारी रहती है। यदि किशोरी के रजस्वलारंभ व विवाह का समय एक ही हो तो 30–35 वर्षों के पूरे रिप्रोडक्टिव स्पैन के लिए बच्चे धारण करने की संभावना अधिक रहती है।

यदि स्त्री अपने पूरे रिप्रोडक्टिव स्पैन में विवाहित रहती है एवं जनन–क्रिया में भाग लेते हुए गर्भ–निरोध नहीं करती तो कहा जा सकता है कि उसमें औसत फ़ेकंडिटी संभावना है। विवाह में देरी से फ़र्टिलिटी घटती है क्योंकि रिप्रोडक्टिव स्पैन घट जाता है।

विवाह की अवधि : विवाह की लेन्थ व अवधि से भी फ़र्टिलिटी, फ़ेकंडिटी व रिप्रोडक्टिव स्पैन में संबंध स्थापित होता है। स्त्री की फ़ेकंडिटी रजःस्वला प्रारंभ होने के साथ आरंभ होकर रजोनिवृत्ति पर समाप्त होती है। यदि विवाह विलम्ब से किया जाए अथवा विवाह की अवधि सीमित हो तो स्त्री की फ़ेकंडिटी अवधि व फ़र्टिलिटी दोनों में कमी आती है।

2. गर्भनिरोधन

फ़र्टिलिटी, फ़ेकंडिटी व रिप्रोडक्टिव स्पैन के मध्य संबंध स्थापित करने के लिए दंपतियों द्वारा विभिन्न गर्भनिरोधकों का प्रयोग किया जाता है। बच्चा कब चाहिए व कब नहीं, इसे निर्धारित करने के लिए विभिन्न गर्भनिरोधन–विधियों का प्रयोग किया जाता रहा है। इनसे फ़र्टिलिटी व रिप्रोडक्टिव स्पैन घटता है, साथ ही में स्त्रियों की फ़ेकंडिटी भी प्रभावित होती है।

3. स्वास्थ्य

पति–पत्नी के स्वास्थ्य से भी फ़र्टिलिटी, फ़ेकंडिटी व रिप्रोडक्टिव स्पैन के मध्य संबंध स्थापित होता है। विशेषतया स्त्रियां अपने संपूर्ण जीवनकाल में बहुत सारे शारीरिक,

टिप्पणी

भावनात्मक एवं हॉर्मोन परिवर्तनों से होकर गुज़रती हैं। आहार में पोषक–तत्वों की कमी व अस्वास्थ्यकर जीवनशैली के कारण ऐसी उलझनें उपजती हैं जो फ़र्टिलिटी व फ़ेकंडिटी को प्रभावित कर देती हैं, उदाहरणार्थ अनुर्वरता, अंडाशयी विकार, यौन–संक्रामक रोग इत्यादि।

मधुमेह, अस्थमा, हीमोफ़ीलिया जैसी आनुवंशिक विकृतियों के कारण भी स्त्रियों का रिप्रोडक्टिव स्पैन प्रभावित होता है। मधुमेह के कारण युवाओं का जनन–सामर्थ्य प्रभावित हो जाता है क्योंकि लैंगिक व वृद्धि हॉर्मोन्स पर प्रभाव पड़ते हैं। इससे किशोरों के लैंगिक परिपक्वन में विलम्ब हो सकता है। स्त्रियों में मधुमेह से भांति–भांति की यौन–स्वास्थ्यगत समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं, यथाः मासिक स्राव में अनियमितता, उर्वरतासंबंधी विकार, मूत्रपथ व योनि–संक्रमण, मूत्रण–असंयम एवं यौन–विकृति। इन समस्त यौन व प्रजनन समस्याओं से दंपति की फ़र्टिलिटी, फ़ेकंडिटी व रिप्रोडक्टिव स्पैन पर प्रभाव पड़ते हैं।

4. परिवेश

व्यक्ति की फ़र्टिलिटी, फ़ेकंडिटी व रिप्रोडक्टिव स्पैन के निर्धारण में परिवेश अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्रायः शीत कटिबंधों की अपेक्षा उष्ण कटिबंधों में कैशोर्य का आरंभ शीघ्र होता है। उष्ण क्षेत्रों में स्त्रियों का रिप्रोडक्टिव स्पैन अधिक अवधि का होता है। इसीलिए उष्ण जलवायु के निवासियों की फ़र्टिलिटी व फ़ेकंडिटी संभावनाएं अधिक रहती हैं।

• फ़र्टिलिटी का मापन

विशेषतया विगत पचास वर्षों में सामाजिक विज्ञानों में मानव–उर्वरता के अध्ययन पर अधिक ज़ोर दिया गया है। उर्वरता के मापन में समाज–विज्ञानियों द्वारा दो भिन्न प्रयास किये जाते हैंः प्राथमिक एवं द्वितीयक। प्राथमिक प्रयास में उर्वरता का मापन बच्चा–धारणआयु के दौरान प्रति दंपति जीवित जन्मों के संदर्भ में किया जाता है। इसे पारिवारिक प्रयास भी कह दिया जाता है क्योंकि यह परिवार में जन्मे बच्चों की संख्या पर आधारित है। द्वितीयक प्रयास में उर्वरता का मापन महत्वपूर्ण सांख्यिकी के आधार पर किया जाता है।

महत्वपूर्ण यह है कि दोनों प्रयासों को पृथक् रखा जाता है क्योंकि ये एक–से परिणाम नहीं प्रदान करते। प्राथमिक प्रयास में स्त्री की बच्चा–धारणआयु में उसके पूरे प्रजनन–निष्पादन पर बल दिया जाता है। द्वितीयक प्रयास में किन्हीं वर्षों में भिन्न–भिन्न आयु की स्त्रियों के प्रजनन–निष्पादन पर ज़ोर दिया जाता है। इस प्रकार प्रथम प्रयास सूक्ष्म–जनसांख्यिकी का एक भाग हुआ जबकि दूसरा प्रयास बृहत्–जनसांख्यिकी का एक भाग।

जनसंख्या की फ़र्टिलिटी के मापन के लिए निम्नांकित वर्गों की सांख्यिकीय दरों व अनुपातों का प्रयोग किया जाता है–

- मौलिक दर
- व्युत्पन्न दर
- संबंधित दर

टिप्पणी

1. मौलिक दर

जिस परिष्कृत व साधारण दर में जनसंख्या(स्त्रियों के समूचे रिप्रोडक्टिव स्पैन के दौरान) में हुए जन्म की आवृत्ति का आकलन किया जाता है उसे मौलिक दर कहते हैं। इन मापन–विधि को तीन दरों में वर्गीकृत करते हैं–

- साधारण जन्मदर
- साधारण उर्वरता दर
- आयु–विशिष्ट दर

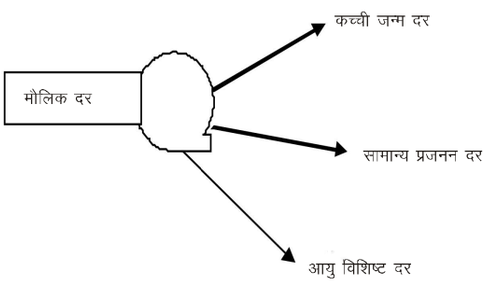

***चित्र** : फ़र्टिलिटी की मौलिक दरों का मापन*

(क) **साधारण जन्मदर** : किसी वर्ष में किसी समुदाय की 1000 मध्यवर्ष–जनसंख्या में जीवित जन्मों की संख्या साधारण जन्मदर है। वास्तव में साधारण जन्मदर = $B/P \times K$

यहां 'B' व 'P' द्वारा 'जन्मे शिशुओं की संख्या' एवं उस वर्ष 'मध्यवर्ष की जनसंख्या' प्रदर्शित है जबकि 'K' का आशय नियत 1000 से है।

इस साधारण जन्मदर में जन्म व जनसंख्या के आंकड़ों का स्वरूप अत्यंत साधारण होता है। साधारण जन्मदर साधारणतः देश में समय के सापेक्ष सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक एवं जैविक कारकों के अनुरूप भिन्नता लिए होती है। उदाहरण हेतु यदि विगत वर्ष देश की जनसंख्या 10 लाख थी व 18000 बच्चे जन्मे तो हमें साधारण जन्मदर 18 प्रति 1000 मिलेगी।

इस गणना में अन्य फ़र्टिलिटी मापक–युक्तियों से तुलना में कम आंकड़ों की आवश्यकता होती है। साधारण जन्मदर का प्रयोग साधारणतः साधारण मृत्युदर व साधारण जन्मदर में तुलना करने में किया जाता है। इसका प्रयोग जनसंख्या–वृद्धि की दर की गणना करने में भी किया जा सकता है। साधारण जन्मदर पर आयु, लिंग–वितरण एवं आप्रवास का प्रभाव रहता है।

(ख) **साधारण फ़र्टिलिटी दर** : फ़र्टिलिटी के मापन में साधारण फ़र्टिलिटी दर का प्रयोग साधारण जन्मदर की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है। साधारण फ़र्टिलिटी दर का तात्पर्य देश के बच्चा–धारणआयु समूह में स्त्रियों की 1000 मध्यवर्ष जनसंख्या में उस वर्ष देश में जन्मे जीवित जन्मों की संख्या है। साधारण फ़र्टिलिटी दर का अभिप्राय उस वर्ष 15–49 वर्षायु समूह में 1000 स्त्रियों में जन्म–संख्या से है।

टिप्पणी

गणितीयरूपेण साधारण फ़र्टिलिटी दर की गणना इस प्रकार की जाती है–

प्रतिवर्ष जन्म की संख्या / स्त्रियों (15–49 वर्षायु की) की संख्या × 1000 = साधारण फ़र्टिलिटी दर

साधारण फ़र्टिलिटी दर में वैवाहिक स्थिति को विचारणीय नहीं रखा जाता। इस दर में बच्चा–धारण करने के व्यवहार की जानकारी नहीं हो पाती।

(ग) **आयु–विशिष्ट फ़र्टिलिटी दर** : आयु–विशिष्ट फ़र्टिलिटी दर का आशय किसी वर्ष किसी देश में किसी आयुवर्ग की स्त्रियों द्वारा मध्यवर्ष जनसंख्या में जीवित जन्मों की संख्या से है। आयु–विशिष्ट फ़र्टिलिटी दर की गणना प्रत्येक आयुवर्ष के लिए अथवा विशिष्ट आयुवर्ग के लिए पृथक् से की जा सकती है। इसकी गणना आयु–विशिष्ट वैवाहिक फ़र्टिलिटी दर के रूप में विवाहिताओं के लिए भी विशेष रूप से की जा सकती है।

गणितीयरूपेण आयु–विशिष्ट फ़र्टिलिटी दर की गणना निम्नानुसार की जा सकती है–

जीवित जन्मों की संख्या (आयुवर्ग) / प्रत्येक आयुवर्ग में कुल स्त्री–संख्या (हज़ारों में) = आयुविशिष्ट फ़र्टिलिटी दर

स्त्रियों की आयु द्वारा फ़र्टिलिटी के प्रारूप का विश्लेषण एवं बच्चा–धारण करने के समय में परिवर्तनों का विश्लेषण आयु–विशिष्ट फ़र्टिलिटी दर मापन के माध्यम से ही संभव है। यह फ़र्टिलिटी मापकों की गणना में उपयोगी है, यथा कुल, सकल एवं नेट रिप्रोडक्शन दरों की गणना। यह कोहोर्ट–कॉपोनेंट पॉप्यूलेशन प्रोजेक्शन्स में आदान के रूप में भी अति उपयोगी है।

आयु–विशिष्ट फ़र्टिलिटी दरों में एक मुख्य कमी यह है कि इसमें माताओं के आयुवर्ग अथवा आयु अनुरूप जन्मों की संख्या के विस्तृत आंकड़े एवं आयु अथवा आयुवर्ग अनुरूप बच्चा–धारण आयु की स्त्रियों की संख्या के विस्तृत आंकड़े आवश्यक होते हैं। विश्व के किसी विकासशील देश में ऐसे आंकड़े दुर्लभता से ही उपलब्ध होते हैं।

2. व्युत्पन्न दर

दरों को मौलिक फ़र्टिलिटी दर से निगमित किया जाता है ताकि जीवित जन्मों की औसत संख्या का अधिक विशिष्टता से आकलन किया जा सके। इस प्रकार निगमित दर को व्युत्पन्न दर कहा जाता है। व्युत्पन्न दर को निम्नांकित तीन में वर्गीकृत किया जाता है–

- कुल फ़र्टिलिटी दर
- सकल प्रजनन दर
- नेट रिप्रोडक्शन दर

टिप्पणी

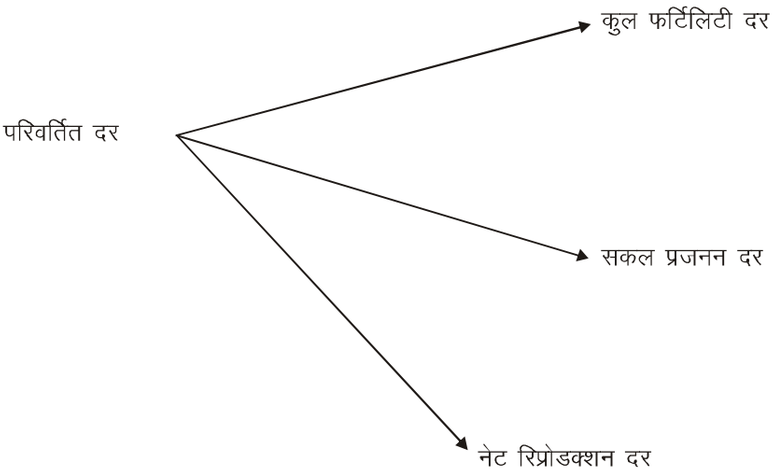

चित्र 2.4 : व्युत्पन्न दर का चित्रण

(क) **कुल फ़र्टिलिटी दर** : यह फ़र्टिलिटी का सांश्लेषक मापन है जो कि नारी–जनसंख्या के आयुगत ढांचे से स्वतंत्र होता है। कुल फ़र्टिलिटी दर में जीवित जन्मों की औसत संख्या का आकलन किया जाता है जो इन स्त्रियों के टोटल रिप्रोडक्टिव स्पैन के दौरान होंगे।

देश में जनसंख्याओं में फ़र्टिलिटी की तुलना करने के लिए यह एक बढ़िया मापक है। टोटल फ़र्टिलिटी दर की गणना के लिए देश की नारी–जनसंख्या के समूचे 30वर्षीय रिप्रोडक्टिव एज स्पैन की एकलवर्ष आयुविशिष्ट फ़र्टिलिटी दरों को जोड़कर की जा सकती है। विवाहिताओं के लिए टोटल फ़र्टिलिटी दर की गणना पृथक् से की जाती है एवं इसे टोटल मैराइटल फ़र्टिलिटी दर कहा जाता है।

टोटल फ़र्टिलिटी दर में एक मुख्य कमी यह होती है कि इसमें यह पता नहीं चलता कि चयनित आयु की औसत स्त्रियों को उस वर्ष में शेष प्रजननकाल में वास्तव में कितने अतिरिक्त बच्चे होंगे। इस प्रकार टोटल फ़र्टिलिटी दर किसी समय कम रहेगी व अधिक आयु में बच्चे पैदा करते समय पुनः बढ़ जाएगी। इसी कारण स्त्रियों की कम्प्लीट फ़र्टिलिटी के मापन में टोटल फ़र्टिलिटी दर की गणना में सटीकता नहीं होती।

(ख) **सकल प्रजनन दर** : स्त्रियों के जीवन के समूचे रिप्रोडक्टिव स्पैन के दौरान इन्हें कितनी बच्चियां होने की प्रत्याशा है उनकी औसत संख्या को सकल प्रजननदर कहते हैं। सकल प्रजननदर में देश में स्त्रियों द्वारा स्त्रियां जनने की संभावना निहित होती है। सकल प्रजननदर में देश की फ़र्टिलिटी में नारियों की महत्ता छलकती है एवं प्रदर्शित हो जाता है कि फ़र्टिलिटी प्रोसेस को एक नारी–जनसंख्या से दूसरी नारी–जनसंख्या में हस्तांतरित किया जा सकता है। सकल प्रजननदर में फ़र्टिलिटी के अन्य मापक स्पष्ट परिणाम में परिणत हो जाते हैं।

सकल प्रजननदर (GRR) ज्ञात करने के लिए सर्वप्रथम देश की स्त्रियों की एकलवर्ष आयुविशिष्ट फ़र्टिलिटी दरों (ASFR) को जोड़ते हैं जिनमें समूचे 30

टिप्पणी

वर्षीय रिप्रोडक्टिव एज स्पैन को सम्मिलित किया जाता है एवं फिर देश के नवजात लिंगानुपात से उत्पाद का गुणा कर दिया जाता है। इसकी गणना देश के नवजात लिंगानुपात से देश की कुल फ़र्टिलिटी दर (TFR) का गुणा करके भी की जा सकती है।

GRR=ASFR × Bf/Bm+Bf

GRR= TFR × नारी–जन्मों का समानुपात

साधारण जन्मदर की भांति सकल प्रजननदर में भी अन्य फ़र्टिलिटी मापक–विधियों की अपेक्षा कम सूचनाओं की आवश्यकता रहती है। जन्म देने के समय में परिवर्तनों से सकल प्रजननदर अत्यधिक प्रभावित होती है।

(ग) **नेट रिप्रोडक्शन दरः** इसमें नारियों की औसत संख्या इंगित होती है जो अपने जीवनकाल में देश में स्त्रियों को जन्म देंगी।

देश में उस वर्ष में जीवित स्त्रियों के समानुपात से प्रत्येक एकलवर्ष नारी आयुविशिष्ट फ़र्टिलिटी दर (ASFR) को गुणा करके व दर ज्ञात करने के लिए उत्पाद जोड़कर नेट रिप्रोडक्शन दर को ज्ञात किया जा सकता है। इसकी गणना करने के लिए प्रत्येक समूह द्वारा समाहित वर्षों की संख्या द्वारा समूह–विशिष्ट फ़र्टिलिटी दरों का गुणा किया एवं देश में उस आयुवर्ग की जीवित नारियों के समानुपात के उत्पाद से गुणा करके दर ज्ञात करने के लिए उत्पाद जोड़ा जा सकता है।

3. संबंधित दर

संबंधित दर में विवाह–दर, गर्भपात–दर, गर्भधारण–दर एवं परिवार–आकार समाविष्ट है। इस प्रकार संबंधित दर में जनसंख्या के विभिन्न लक्षणों का आकलन हो जाता है जो उस देश के पुरुषों व नारियों के प्रजनन–व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

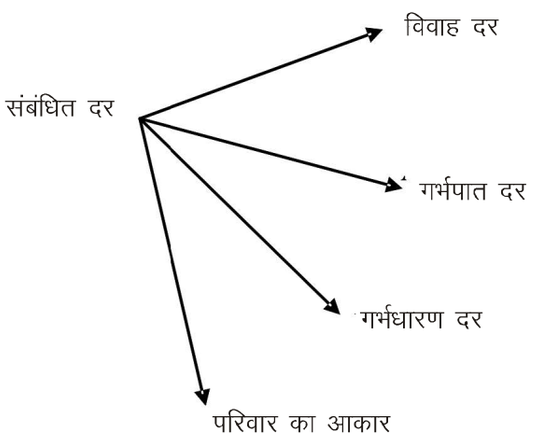

***चित्र** : फ़र्टिलिटी की संबंधित दर का मापन*

- **विवाह–दर** : इसमें किसी वर्ष में किसी समुदाय अथवा देश की प्रति 1000 मध्यवर्ष जनसंख्या में किये गए विवाहों की संख्या प्रदर्शित होती है। इसके हर

टिप्पणी

डिनोमिनेटर में समुदाय होता है जिसमें विवाहित, अविवाहित व विवाह करने वाले व्यक्तियों का विषम मिश्रण होता है।

- **गर्भपात–दर** : किसी वर्ष किसी देश अथवा समुदाय की प्रति 1000 मध्यवर्ष जनसंख्या में किये गए गर्भपातों की संख्या को गर्भपात–दर कहते हैं।
- **गर्भधारण–दर** : यह किसी वर्ष किसी देश/समुदाय के रिप्रोडक्टिव एज स्पैन में प्रति 1000 स्त्रियों में गर्भधारण की संख्या है। इस दर में सभी गर्भावस्थाएं सम्मिलित हैं फिर चाहे उनका परिणाम गर्भपात, हालही में प्रसव अथवा जीवित जन्म कुछ भी हो।

  गर्भधारण–दर की गणना के लिए रिप्रोडक्टिव एक्स्पीरियन्स के प्रति 1000 वर्षों में रिप्रोडक्टिव एज स्पैन वाली स्त्रियों में गर्भधारणों की संख्या गिनी जाती है।
- **परिवार–आकार** : इसमें किसी समय किसी देश में रह रही बच्चा–धारण आयु की स्त्रियों की संख्या एवं किसी समय पर समुदाय में अथवा देश में पांच वर्ष की आयु तक के बच्चों की संख्या के मध्य की दर ज्ञात की जाती है।

  इस प्रकार किसी जनसंख्या से संबंधित फ़र्टिलिटी स्थितियों का अध्ययन करने के लिए विभिन्न मापक–साधनों का प्रयोग किया जा सकता है। इन दरों का निर्धारण विभिन्न आर्थिक परिस्थितियों, सामाजिक प्रथाओं एवं व्यक्तिगत संबंधों सहित कार्यिकी (शरीर–क्रियाविज्ञान) द्वारा किया जाता है। फ़र्टिलिटी का मापन प्रजनन के जनसांख्यिकीय व सामाजिक रूपों, सांस्कृतिक रीतियों एवं गर्भनिरोधकों के प्रयोग व वंध्यत्व–उपचारों से भी प्रभावित होता है।

विभेदकीय फ़र्टिलिटी

कई समाजों में यह चिंतनीय विषय अब भी बना हुआ है कि सभी समूह समान दर पर प्रजनन नहीं करते। विश्व के अनेक भागों में जनसंख्या–वृद्धि में उच्चावचन (उतार–चढ़ाव) देखा जाता रहा है। विश्व में जनसंख्या–वृद्धि अथवा प्रजनन–दर में व्यापक उच्चावचन मुख्यतः फ़र्टिलिटी की दर पर निर्भर है तथा फ़र्टिलिटी दर में इस अंतर को विभेदकीय फ़र्टिलिटी कहते हैं। प्रायः फ़र्टिलिटी दर अनेक कारकों पर निर्भर है– सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौगोलिक एवं जैविक कारक।

समाज–विज्ञानियों द्वारा ऐसी विविध रीतियों का अध्ययन किया जाता है जिनमें धर्म, आय व वर्ग जैसे विभिन्न चरों पर आधारित सामाजिक सम्बद्धताओं के अनुरूप फ़र्टिलिटी में भिन्नन होता है। वहीं दूसरी ओर इकोलॉजिकल पैटर्निंग द्वारा स्थानसंबंधी फ़र्टिलिटी भिन्ननों का आकलन करने में जनसंख्या–भूगोलविद अधिक इच्छुक रहते हैं। ऐसी पैटर्निंग स्वयं भी सामाजिक कारकों के विशेष स्थानसंबंधी सम्मिश्रों का एक बड़ा उत्पाद है।

विभेदकीय फ़र्टिलिटी का मूल सार यह है कि देश व समाजों में भांति–भांति के रीति–रिवाजों व मान्यताओं वाले समूह होते हैं। इन मान्यताओं व धारणाओं से पारिवारिक आकार निर्धारित किया जाता है। चाहे इन समूहों में अनेक समानताएं हों फिर भी किसी चर के प्रभाव का आकलन करना दुष्कर रहता है।

टिप्पणी

विभेदकीय फ़र्टिलिटी की महत्ता जनसांख्यिकीय परिवर्तन के संबंध में समय के सापेक्ष भिन्न–भिन्न होती है। जब जनसांख्यिकीय परिवर्तन हो रहा हो तब फ़र्टिलिटी विभेद सर्वाधिक होते हैं।

विभेदकीय फ़र्टिलिटी की उपयोगिताः किसी एक सामाजिक लक्षण अथवा समूह के प्रजनन–व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभाव को खोजना।

विभेदकीय फ़र्टिलिटी के क्षेत्र में विभिन्न अनुसंधानों में प्रदर्शित हुआ है कि इसे अनेक कारक प्रभावित करते हैं, यथाः प्रजनन–आयु, आय, नारी–रोज़गार, जाति/धर्म, अंचल इत्यादि में विभेद।

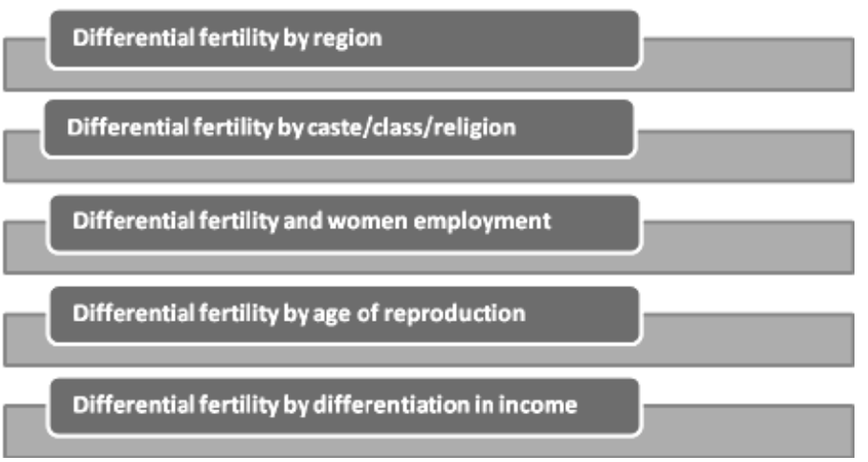

***चित्र** : विभेदकीय फ़र्टिलिटी के कारक*

***सारणी** : मुख्य क्षेत्रानुसार 15–19 वर्षायु की स्त्रियों के लिए आयु विशिष्ट विभेदकीय फ़र्टिलिटी, 1995–2000*

मेजर एरिया	फर्टिलिटी रेट फॉर वीमेन एजड 15–19 (प्रति 1,000)
विश्व	54
अधिक विकसित क्षेत्र	29
कम विकसित क्षेत्र	58
न्यूनतम विकसित क्षेत्र	133
अफ्रीका	115
एशिया	39
यूरोप	25
लैटिन अमेरिका और कैरेबियन	75
उत्तरी अमेरिका	51
ओशिनिया	39

Source: World Population Prospects: The 2000 Revision, Vol.1, Comprehensive Table United Nations publication, Sales No. E, 01, X1118, and corrigendum from table 10.

टिप्पणी

फ़र्टिलिटी पर प्रभावी शरीरविज्ञानी कारक

फ़र्टिलिटी एक अत्यधिक जटिल प्रसंग है। इस पर सामाजिक, आर्थिक, पर्यावरणीय, शरीरविज्ञानी, सांस्कृतिक व स्वास्थ्य–कारकों का प्रभाव पड़ता रहता है। फ़र्टिलिटी को प्रभावित करने वाले शरीर–विज्ञानी कारक निम्नांकित हैं जिनका आशय व्यक्ति की शारीरिक सीमाओं से होता है, जैसे मानसिक–शारीरिक विकार, तनाव इत्यादि–

1. **प्रजनन–क्षमता** : फ़र्टिलिटी मुख्यतः शरीर–क्रियात्मक प्रजनन–क्षमता पर निर्भर होती है, अर्थात् फ़ेकंडिटी पर। उत्पादकता के वास्तविक स्तर पर वंध्यत्व के नकारात्मक प्रभाव पड़ते हैं।
2. **अति तनाव** : यह एक ऐसा जोख़िम–कारक है जो प्रमस्तिष्क–वाहिकागत एवं हृद्वाहिकीय रोगों के पनपने में भूमिका निभाता है तथा अतिम अवस्था के वृक्करोग का एवं उच्च रक्तचाप का प्रमुख कारण है। स्त्रियों में अति तनाव के प्रकरण बढ़ते जा रहे हैं। इस रोग के निपटने के लिए ली जाने वाली गोलियां फ़र्टिलिटी की दर को घटा सकती हैं अथवा पुरुषों व स्त्रियों दोनों में वंध्यत्व (बांझपन) का कारण बन सकती हैं।
3. **तनाव** : इससे हॉर्मोनल परिवर्तनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है व अंडोत्सर्ग चक्र में विकृति आ जाती है। इससे गर्भहनन (मिस्कैरेज) हो सकता है अथवा मासिक चक्र अधिक अवधि तक जा सकता है। ऐसा पाया गया है कि तनाव के कारण पुरुषों व नारियों में कामेच्छा भी घट जाती है।
4. **स्व–प्रतिरक्षा विकार** : इनमें चर्मयक्ष्मा, मधुमेह, अवटु (थायरॉइड) रोग, रह्यूमेटॉयड आर्थराइटिस सम्मिलित हैं, ये सभी फ़र्टिलिटी में अवरोध होते हैं।
5. **मनोवैज्ञानिक विकार** : ये भी या वंध्यत्व के कारक बन जाते हैं अथवा गर्भधारण में समस्याओं से ग्रसित कर देते हैं। ऐसे किसी विकार के उपचार में प्रयुक्त रसायनों से स्त्रियों के रिप्रोडक्टिव स्पैन को हानि पहुंचती है।

• गर्भ–निरोधन की विधियां

यौनक्रिया करने से पूर्व से ही गर्भरोधी तैयारी रखने को गर्भ–निरोधन कहते हैं। यानी ऐसी तैयारी जिससे गर्भ न ठहर सके। गर्भधारण को रोकने के लिए जिन युक्तियों, उपकरणों व साधनों का प्रयोग किया जाता है उन्हें गर्भनिरोधक कहते हैं। ये विधियां यांत्रिक, शरीर–क्रियात्मक, हॉर्मोनल, रासायनिक अथवा इनमें से कुछ के संयोजन के रूप में हो सकती हैं। कुछ गर्भ–निरोधन विधियों के उदाहरण निम्नांकित हैं–

- लय विधि
- अवरोध विधि
- अंतर्गर्भाशयी उपकरण
- मैथुनोपरांत गर्भनिरोधक

1. लय विधि

इसमें पत्नी के रिप्रोडक्टिव स्पैन के दौरान उसके मासिक चक्र में तथाकथित सुरक्षित अवधि में संबंध बनाया जाता है। इसे पंचांग (कैलेण्डर) विधि भी कहा जाता है। यह

इस धारणा पर आधारित है कि फ़र्टिलिटी को नियत्रित किया जा सकता है यदि योनिमंथन (वैजाइनल सेक्स) इस तथाकथित सुरक्षित अवधि में किया जाए तथा फ़र्टाइल अवधियों के दौरान लैंगिक संयम बरता जाए।

टिप्पणी

लय विधि में पत्नी के रजःस्वला अतीत के प्रयोग से अंडोत्सर्ग का अनुमान लगाया जाता है, इसलिए दिनों को चिह्नांकित किया जाता है। जिस दिन रक्तस्राव आरंभ हुआ उसे प्रथम दिन मानते हैं एवं यह चिह्नांकन कम से कम छः माह के लिए किया जाता है। अंततया प्रत्येक चक्र में दिनों की गणना की जाती है। लय विधि का प्रमुख लाभ यह रहता है कि इसमें कुछ व्यय नहीं करना पड़ता एवं कुप्रभाव नहीं पड़ते। यह विधि ऐसी स्त्रियों के लिए उपयुक्त नहीं होती जिनके मासिक चक्र अनियमित हैं अथवा 21 से कम दिनों के हैं। वैसे आजकल दूषित दिनचर्या व प्रदूषित आहार के कारण मासिक असंतुलन होता ही रहता है। इससे प्लेसेण्टा प्रेविया एवं गर्भाशय के बाहर भ्रूण पनप जाने का जोख़िम भी बढ़ता है।

लय विधि में विभिन्न विधियां निम्नांकित हैं–

- बेसल टेंपरेचर विधि
- गर्भाशयी ग्रीवा श्लेष्म (सर्विकल म्यूकस) विधि
- सिम्प्टोथर्मल विधि

(i) **बेसल टेंपरेचर विधिः** यह विधि 0.3–0.5 अंश सेल्सियस तापक्रम बढ़ जाने पर आधारित है। यह वृद्धि अंडाशयी चक्र की ल्यूटियल प्रावस्था में रुधिर में प्रोजेस्टेरॉन स्तर बढ़ने के कारण होती है जिसके उपरांत अंडोत्सर्ग होता है। चक्र यदि अंडोत्सर्ग वाला न हो तो तापक्रम नहीं बढ़ने वाला। इसीलिए पत्नी को मैथुन आरंभ करने से पहले अपना दैहिक तापमान माप लेना चाहिए। मासिक स्राव के आरंभ से तापक्रम बढ़ने के पश्चात् सुरक्षित अवधि दो दिन से अधिक होती है।

(ii) **गर्भाशयी ग्रीवा श्लेष्म (सर्विकल म्यूकस) विधिः** यह विधि इस तथ्य पर आधारित है कि चक्र की ऑएस्ट्रॉजन प्रावस्था में गर्भाशयी ग्रीवा की श्लेष्मा निर्मित हो जाती है एवं ल्यूटियल प्रावस्था में समाप्त हो जाती है जब प्रोजेस्टेरॉन स्रावित होता है। आर्द्रत्व (गीलेपन) के अंतिम दिन को पीक डे कहा जाता है किंतु यह आवश्यक नहीं कि यह श्लेष्मा के अधिकतम बहाव का दिन हो। पत्नी को पीक डे के बाद तीन दिनों को सम्मिलित न करने का परामर्श दिया जाता है एवं अंडोत्सर्गोपरांत प्रावस्था के शेष दिनों को मैथुन की सुरक्षित अवधि माना जा सकता है।

(iii) **सिम्प्टोथर्मल विधिः** यह विधि तापक्रम बढ़ने के साथ अंडोत्सर्ग के लक्षणों की संयुक्त विधि है। इसमें गर्भाशयी ग्रीवा की श्लेष्मा के स्राव के कारण आर्द्रत्व का संवेदन होता है एवं अंडाशय की ओर उदर–पीड़ा होती है, स्तनों में असहजता होती है एवं मनो अवस्था में उतार–चढ़ाव लगता है।

2. सर्विकल मयूकस विधि

इस विधि में शुक्राणु को गर्भाशय में प्रविष्ट होने से यांत्रिक रूप में रोक दिया जाता है। इस विधि में अनेक साधन प्रचलित हैं, यथा स्त्री व पुरुष निरोध (कंडोम) जो कि अधिक

टिप्पणी

प्रामाणिक व सटीक नहीं तथा डायफ्रेम्स, केप्स, स्पॉन्ज, शुक्रनाशी (क्रीम, जेली, टेब्लेट, सपोज़िटरी, फ़ॉम्स एवं एयरोसॉल्स) इत्यादि। डायफ्रेम कोमन रबर समान एक कप की भांति दिखने वाला उपकरण है जिसके साथ शुक्राणुनाशक क्रीम का प्रयोग किया जाता है, इसे मैथुन से पहले पत्नी की योनि में प्रविष्ट किया जाता है। केप्स भी कम समान ऐसे उपकरण हैं जिन्हें गर्भाशयी ग्रीवा अर्थात् बच्चेदानी के मुख पर लगा दिया जाता है व चूषक–बल द्वारा थामकर रखा जाता है। अवरोध विधियों का एक बड़ा लाभ यह होता है कि ये प्रयोग में सरल हैं व एड्स सहित अन्य यौन–संक्रामक रोगों के प्रसार से बचा जा सकता है।

3. सिम्प्टोथर्मल विधि

गर्भाधान रोकने के लिए गर्भाशयिक गुहिका में इसे लगाया जाता है। इस उपकरण को भीतर लगाया अथवा औषधि सहित रखा जा सकता है। लगाने वाले उपकरण प्लास्टिक के हो सकते हैं जबकि औषधियुक्त उपकरणों को ताम्र (कॉपर), चांदी अथवा प्रोजेस्टोजेन मिश्रण के साथ रखा जाता है। अंतर्गर्भाशयी उपकरण अनेक प्रकार के होते हैं– पाश (लूप) उपकरण, वलय (रिंग) उपकरण, T-उपकरण एवं हॉर्मोन उपकरण। पाश उपकरण प्लास्टिक सामग्री से बनाये गए होते हैं एवं विभिन्न आकृतियों व आकारों में उपलब्ध हैं जो आठ अभिविन्यासों की बंद आकृतियां, खुली S-आकृति, ओपन डबल कॉइल, ओपन स्पाइरल, सिम्यूलेटिंग ओपन सर्पेण्टाइन में तैयार किये जाते हैं।

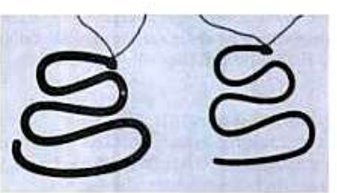

पाश उपकरण

वलय उपकरण प्रायः रेशमकृमि की आंत व रेशम के तारों से बनाये जाते हैं।

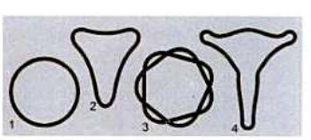

वलय उपकरण

T-उपकरण पॉलिइथाएलीन अथवा अन्य बहुलक (पॉलिमर) से बनाये जाते हैं एवं ताम्र धातु से सुदृढ़ किये जाते हैं। रेडियो–केपेसिटी लाने के लिए इन उपकरणों को बैरियम सल्फ़ेट से भरा जाता है एवं पुच्छ भाग के छोर पर दो ट्रांस्कर्विकल धागों से लगा दिया जाता है।

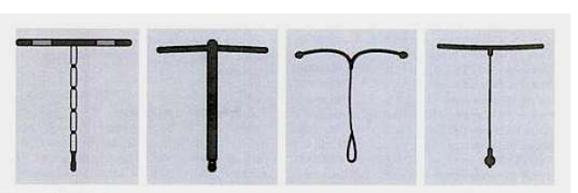

T-उपकरण

टिप्पणी

उपरोक्त के अतिरिक्त एक और उपकरण होता है जिसे हॉर्मोन उपकरण कहते हैं। इसे दो रूपों में विकसित किया जाता है: प्रोजेस्टासर्ट एवं लेवनॉर्गेस्ट्रेल। प्रोजेस्टासर्ट T-आकृति का एक उपकरण है जिसे बैरियम सल्फ़ेट सहित इथाइलीन विनाइल एसिटेट सह–बहुलक से बनाया जाता है एवं इसके स्तंभ (तने) में एक सूक्ष्मभंडार होता है जिसमें 38 मिलीग्रॅम्स प्रोजेस्टेरॉन भरा गया होता है। यह उपकरण एक वर्ष तक काम में लाया जा सकता है। अतः इसे वार्षिक रूप से प्रतिस्थापित कराना होता है।

लेवनॉर्गेस्ट्रेल भी T-आकृति का एक उपकरण है जिसे पॉलिथीन से बनाया जाता है एवं इसके स्तंभ के संपुट (केप्स्यूल) में 60 मिलीग्रॅम्स लेवनॉर्गेस्ट्रेल होता है। इस उपकरण का एक लाभ यह है कि इसमें से हॉर्मोन का स्रावण पांच वर्ष तक नियत दर पर होता रहता है। इस अवधि के उपरांत प्रतिस्थापित किया जाना आवश्यक है।

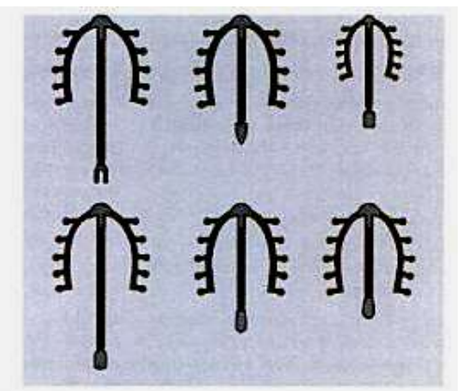

हॉर्मोन उपकरण

अंतर्गर्भाशयी उपकरण सुरक्षित व हानिरहित होते हैं, अर्थात् इनसे कोई अनुषंगी प्रभाव (साइड इफ़ेक्ट) नहीं पड़ता तथा ये अत्यंत प्रभावी गर्भनिरोधक हैं। इस गर्भनिरोधक को एक बार लगवा लेने पर दीर्घावधि तक प्रयोग में लाया जा सकता है। चूंकि यह उत्क्रमणीय है, इसलिए इसे कभी भी बाहर निकलवाया जा सकता है व स्त्री की फ़र्टिलिटी इससे प्रभावित नहीं होती।

हॉर्मोनल अथवा मैथुनोपरांत गर्भनिरोधक

हॉर्मोनल अथवा मैथुनोपरांत गर्भनिरोधकों में सांश्लेषक जनद स्टेरॉयड्स होते हैं। ये इथाएनिल ऑयस्ट्राडियोल व मेस्ट्रानोल हैं एवं गोलियों व अंतःक्षेपण (इन्जेक्शन्स) के रूप में उपलब्ध हैं, जैसे– बाइफ़ेज़िक गोलियां, ट्राईफ़ेज़िक गोलियां, मिनीपिल्स, साप्ताहिक मुखीय गोलियां, पुरुष–गोलियां इत्यादि। हॉर्मोनल अथवा मैथुनोपरांत गर्भनिरोधक प्रयोग करने में सरल पड़ते हैं एवं सुरक्षित व प्रभावी हैं। गोली खाना भूल जाने से स्त्रियों में फ़र्टिलिटी की दर बढ़ सकती है।

अस्थायी गर्भनिरोधन के लिए अंतःक्षेपणीय (इन्जेक्टेबल) गर्भनिरोधक अत्यधिक प्रभावी रहते हैं, मुखीय गर्भनिरोधकों से भी अधिक उपयोगी। अंतःक्षेपणीय गर्भनिरोधक विश्वसनीय, देर तक प्रभावी व उत्क्रमणीय (जिनका प्रभाव हटाया जा सकता हो/स्वतः मिट जाने वाला हो) होते हैं एवं अंतःक्षेपण के इच्छुक व्यक्तियों द्वारा सर्वाधिक पसंद किये जाते हैं।

टिप्पणी

नैतिकता एवं मरण की अवधारणा

नैतिकता जनसंख्या वृद्धि के लिए उत्तरदायी एक अहम कारण है। भारतीय समाज में संतान को भगवान की देन माना जाता है। न केवल ग्रामीण वरन शहरी समाज में भी यह मान्यता एवं विश्वास जीवंत है कि ईश्वरीय इच्छा या व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। वह दाता है और पालनकर्ता भी है। इसलिए गर्भ निरोध के उपायों को अपनाने या गर्भपात कराने की स्थिति में आम भारतीय समाज अपने को सक्षम नहीं पाता। इस अक्षमता के लिए उसकी नैतिकता उत्तरदायी होती है।

मरण का तात्पर्य देहांत हो जाना है। अध्ययन–अध्यापन के क्षेत्र में मरण का आशय किसी वर्ष अथवा निश्चित समयावधि में कहीं की जनसंख्या में मृत्यु की संख्या से है। मरण में स्थानसंबंधी व अस्थायी भिन्ननों का अध्ययन करने के लिए अवधियों व क्षेत्रों के लिए अनेक सूचकांकों एवं मापकों का प्रयोग करना आवश्यक हैं। सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न परिप्रेक्ष्यों का बोध करने में मरण–मापक सहायक होते हैं। समग्र मरण के अध्ययन से देशों व स्थान के संदर्भ में मानव–अस्तित्व के रहस्य उजागर होते हैं। मरण–मापन में सामाजिक–आर्थिक समूहों एवं आयुवर्गों के मध्य के अंतर को परिवर्तन के मुख्य संसूचकों के रूप में देखा जा सकता है।

मरण के सर्वाधिक महत्वपूर्ण मापक निम्नानुसार हैं–

1. समग्र मृत्युदर
2. आयु व लिंग–विशिष्ट मृत्युदर
3. जन्म के समय जीवन–प्रत्याशा
4. शिशु मृत्युदर
5. नस्ल व लिंग–विशिष्ट मृत्युदर
6. मातृमृत्यु–दर

1. समग्र मृत्युदर

समग्र मृत्युदर को मरण का सर्वाधिक प्रचलित व सरलतम मापक माना जाता है। इसमें जनसंख्या में 1000 व्यक्तिसंख्या को इकाई मानकर किसी वर्ष हुईं मृत्यु की गणना की जाती है। आदर्शतः मध्यवर्ष जनसंख्या का प्रयोग किया जाता है क्योंकि वर्ष के दौरान जोख़िम अथवा मृत्यु के निकट व्यक्तियों की औसत संख्या इस समय सरलता से उपलब्ध हो पाती है। 'साधारण' (क्रूड) शब्द का प्रयोग सावधानी से किया जाता है।

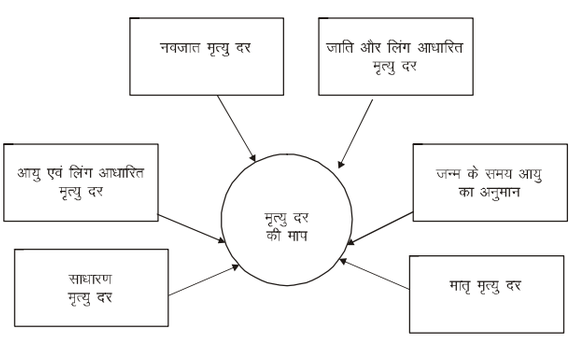

चित्र : समग्र मृत्युदर

टिप्पणी

यह उल्लेखनीय प्रतीत हो रहा है कि मृत्युदर बाल्यावस्था के उत्तरार्द्ध से बढ़ती ही जाती है तथा लगभग संपूर्ण आयु में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की मृत्युदर उच्च रहती है। परिणामस्वरूप साधारण मृत्युदर के निर्धारण में आयु व लिंग का ढांचा महत्तापूर्ण भूमिका निभाता है फिर चाहे स्वास्थ्य कार्यक्रम व जीवन मापदंड जैसे कारक कैसे भी हों। इसीलिए साधारण मृत्युदर में अंतर्राष्ट्रीय अंतरों की व्याख्या करते समय सावधानी बरतनी होगी। ऐसा पाया गया है कि साधारण मृत्युदरें अल्पविकसित देशों में निम्नतर हैं एवं आर्थिक व चिकित्सात्मक रूप में उन्नत कुछ राष्ट्रों में उच्चतर हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि अल्पविकसित देशों में बच्चों की संख्या अधिक है क्योंकि उनके निकट अतीत में उच्चतर फ़र्टिलिटी रही है।

***सारणी** : समग्र मृत्युदर में अंतर्राष्ट्रीय अंतर जिसमें यथार्थ परिदृश्य इंगित नहीं होता*

अल्पविकसित देश कम मृत्यु दर (प्रति 1000 पर लगभग 5–7 प्रतिशत)	आर्थिक और स्वास्थ्य सुविधाओं से संपन्न देश अधिक मृत्यु दर के साथ (प्रति 1000 पर लगभग 9–12 प्रतिशत)
कोस्टा रिका	उत्तरी अमेरिका
गुयाना	उत्तर पश्चिमी यूरोप
जमायिका	
मलेशिया	
श्रीलंका	

2. आयु व लिंग–विशिष्ट मृत्युदर

यह मरण का यह एक अन्य मापक है। आयु व लिंग–विशिष्ट मृत्युदर का अभिप्राय वर्ष में 1000 लोगों में विशिष्ट आयु व लिंग के व्यक्तियों की मृत्यु की संख्या से है।

आयु एवं लिंग अनुसार मृत्युदरों की गणना की अवधारणा साधारण मरण दर के समान है अर्थात किसी वर्ष निश्चित आयु की माध्य जनसंख्या में उस आयु के व्यक्तियों की मृत्यु की संख्या।

***सारणी** : इंग्लैण्ड, वेल्स एवं मॉरिशस में आयु व लिंग–विशिष्ट मृत्यु दरें (प्रति 1,000 जनसंख्या)*

	इंग्लैण्ड एवं वेल्स		मॉरिशस	
	पुरुष	महिलाएं	पुरुष	महिलाएं
Under 1	10.4	7.9	30.8	23.1
1–4	0.5	0.4	1.2	1.3
5–14	0.2	0.1	0.5	0.4
15–24	0.7	0.3	1.1	1.0
25–34	0.9	0.5	2.1	1.4
35–44	1.7	1.1	4.5	2.3
45–54	5.0	3.2	11.7	5.0
55–64	15.7	9.0	27.8	13.7
65–74	41.7	22.8	57.3	39.6
75–84	98.8	60.7	123.0	83.5
85+	212.7	168.6	249.5	192.5

Source: Population Trends, Vol. 53, Table 19; Demographic Yearbook 1987, Central Statistical Office, Mauritius, Table 5.6.

चूंकि इंग्लैण्ड, वेल्स एवं मॉरिशस में मरण के स्तरों में भिन्नता है इसलिए आयु व लिंग अनुसार मरण का समग्र प्रारूप समान है।

टिप्पणी

3. जन्म पर जीवन–प्रत्याशा

किसी वर्ष जन्मे व्यक्ति–समूह के वर्षों की जिस औसत संख्या तक जीने की संभावना है उसे उस वर्ष की आयु–विशिष्ट मृत्यु दरें मानकर कोहोर्ट के जीवन–इतिहास में बनाये रखा गया है जिसे जन्म के समय जीवन की प्रत्याशा कहते हैं। किसी वर्ष में मरण का यह एक और महत्वपूर्ण मापक है जिसका आकलन उसी वर्ष के लिए किया जाता है। इसे सामान्यतः राष्ट्रीय–जीवन–सारणी से निगमित किया जाता है।

जन्म के समय जीवन की प्रत्याशा एक लाख व्यक्तियों के काल्पनिक जन्म कोहोर्ट की मानक पद्धति पर आधारित है। गणना के वर्ष में लागू आयु–विशिष्ट मृत्युदरों के आधार पर समय के सापेक्ष इसे घटा दिया जाता है। इसीलिए इसमें समयविशेष में मरण की झलक दिखायी देती है।

4. शिशु मृत्युदर

इसमें जीवन के प्रथम वर्ष में मृत्यु एवं साधारण जीवन मापदंडों सहित स्वास्थ्य–स्थितियों का अवलोकन किया जाता है। किसी वर्ष प्रति 1000 जीवित जन्मों में एक वर्ष की आयु तक होने वाली मृत्यु की संख्या को शिशु मृत्युदर कहते हैं।

5. नस्ल व लिंग–विशिष्ट मृत्युदर

साधारण मृत्युदर की गणना करने के लिए प्रयुक्त मूल सूत्र का प्रयोग करते हुए नस्ल व लिंग के आधार पर मृत्यु की दर का मापन किया जा सकता है।

6. मातृमृत्यु–दर

गर्भावस्था से जुड़ी मृत्यु को मातृ–मृत्यु कहा जाता है। अंश में किसी अवधि के दौरान गर्भावस्था–संबंधी मृत्यु की संख्या रखी जाती है एवं हर में उस अवधि के दौरान रिपोर्ट किये गए जीवित जन्मों की संख्या रखी जाती है। मातृमृत्यु–दर प्रायः अतिसीमित संख्या में होती है, अतः इस मृत्यु की संख्या को प्रति एक लाख जीवित जन्म में व्यक्त किया जाता है।

मरण के कारण

महामारी, रोग, पर्यावरणीय आपदा, दुर्घटना अथवा अन्य बहुसंख्य कारणों से मृत्यु संभव है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार मृत्यु के कारणों को इस प्रकार परिभाषित किया गया है– "ऐसा रोग अथवा ऐसी चोट जिसका आरंभ रुग्ण/दुर्बलताकारी घटनाओं की शृंखला के रूप में होने से प्रत्यक्ष रूप से मृत्यु हुई हो अथवा दुर्घटना/हिंसा की परिस्थितियों से प्राणघातक चोट, जैसा कि 'अंतर्राष्ट्रीय रोग–वर्गीकरण' के नियमों में बताया गया है।"

टिप्पणी

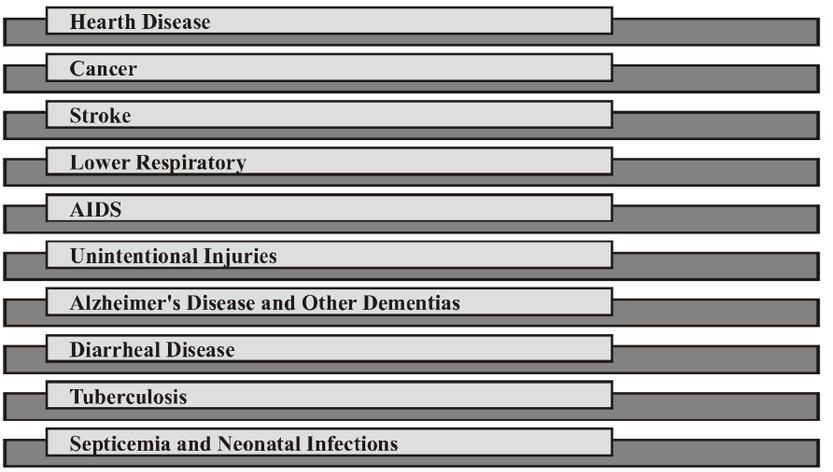

***चित्र** : विश्व में मरण के कारण*

1. हृदय–रोग

हृदय–रोग ऐसे रोगों को कहा जाता है जिनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष संबंध मानव–हृदय से हो। नवीनतम आंकड़ों के अनुसार कनाडा, इंग्लैंड, वेल्स एवं यूनाइट स्टेट्स में हृदय–रोग मृत्यु के अग्रणी कारणों में से एक है। प्रतिवर्ष बहुत सारे लोग कोरोनरी, हृद्–रोग (हृदयाघात), कार्डियोमायोपेथीज़, उच्च रक्तचाप, र्ह्यूमेटिक हृदयरोग व हृदयक–वैफल्य के कारण काल के ग्रास बन जाते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार विश्व की कुल मृत्यु में से लगभग 17.9 मिलियन्स मृत्यु (कुल मृत्यु का 31%) हृद्रोग के विभिन्न रूपों के कारण होती हैं। हृद्रोगों के कारण प्रतिवर्ष होने वाली 17.9 मिलियन्स मृत्यु में से 7.2 मिलियन्स मृत्यु कोरोनेरी हृदयरोग के कारण, 5.5 मिलियन्स मृत्यु सेरेब्रोवेस्क्युलर रोग के कारण, 291,000 मृत्यु रयूमेटिक हार्ट डिजीज से एवं 3.9 मिलियन्स मृत्यु उच्च रक्तचाप व अन्य हृदयक स्थितियों के कारण होती हैं। ऐसा आकलन है कि प्रतिवर्ष हृदयाघात व स्ट्रॉक्स पड़ने पर भी कम से कम 20 मिलियन्स लोग जीवित बच जाते हैं।

2. कैंसर

कैंसर उस अवस्था को कहते हैं जब कोशिकाओं का कोई समूह सामान्य से अधिक वृद्धि करने लगता है। सन् 2018 के एक अनुमानानुसार 17 प्रतिशत मनुष्यों की मृत्यु कैंसर के कारण होती हैं। कैंसर वैसे तो किसी भी आयु में हो सकता है परंतु सर्वाधिक जोख़िम अधिक आयु वालों को रहती है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की 2018–सांख्यिकी के अनुसार कैंसर मरण के लिए उत्तरदायी कैंसर के मुख्य प्रकार निम्नानुसार हैं–

- यकृत कैंसर से 7,82, 000 मृत्यु
- फ़ेफ़ड़ों के कैंसर से 1.76 मिलियन्स मृत्यु
- स्तन कैंसर से 627, 000 मृत्यु

टिप्पणी

- आमाशय कैंसर से 783, 000 मृत्यु
- कोलोरेक्टल कैंसर से 8,62, 000 मृत्यु

3. स्ट्रोक

सेरेब्रोवेस्क्युलर स्ट्रोक्स का प्रमुख कारण रुधिर–परिवहन में अवरोध है जिससे मस्तिष्क में रुधिर की आपूर्ति सुचारु रूप से नहीं हो पाती। यह अवरोध रुधिर–स्कंद (ख़ून के थक्कों) के कारण अथवा रुधिर वाहिका के फट जाने से होता है। स्ट्रोक के सर्वाधिक देखे जाने वाले लक्षण हैं– निर्बलता, सुन्न पड़ जाना (विशेषतः पैर, भुजाएं व मुख) एवं असमंजस, वाक्–विकार, दैहिक संतुलन खो देना, नेत्रदृष्टि समस्या, चलने में दुविधा, चक्कर, मूर्च्छा आ जाना अथवा अचेत हो जाना। सन् 2016 में विश्व में 5.5 मिलियन्स लोगों की मृत्यु स्ट्रोक से हो जाने का आकलन है। इस प्रकार मृत्यु का दूसरा सबसे प्रमुख कारण स्ट्रोक हुआ।

4. निम्नतर श्वसन–पथ संक्रमण

निम्नतर श्वसन–पथ संक्रमणों के लिए बहुधा प्न्यूमोनिया शब्द का प्रयोग किया जाता है, इसमें फ़ेफ़ड़ों में घाव पड़ सकते हैं एवं तीव्र ब्रोंकाइटिस हो सकता है। निम्नतर श्वसन–पथ संक्रमणों के लक्षणों में निर्बलता, सांस छोटी पड़ना, तेज बुखार, थकान व खांसी सम्मिलित हैं। निम्नतर श्वसन–पथ संक्रमणों के कारण स्वास्थ्य–व्यय बढ़ जाता है। ये संक्रमण उच्चतर श्वसन–संक्रमणों से साधारणतया अधिक गंभीर होते हैं।

मरण के प्रमुख कारणों में निम्नतर श्वसन–पथ संक्रमणों की गणना की जाती है। एक आकलन अनुसार विश्व में निम्नतर श्वसन–पथ संक्रमणों के परिणामस्वरूप 3.0 मिलियन्स से अधिक मृत्यु प्रतिवर्ष हो जाती है।

5. एड्स

'अर्जित प्रतिरक्षाक्षीणता संलक्षण' (एड्स) मानव–प्रतिरक्षा तंत्र का एक ऐसा रोग है जो 'मानव–प्रतिरक्षाशोषी विषाणु' (एचआईवी) द्वारा होता है। एड्स की पहचान 'रोग नियंत्रण व बचाव यूएस सेंटर्स' द्वारा सन् 1981 में की गयी थी। आनुवंशिक शोधों में अनुमान लगाया गया है कि एड्स का उद्गम उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पश्चिम–केंद्रीय अफ़्रीका में हुआ।

2019 के अंत तक सभी HIV पोजिटिव लोगों में से केवल 67% (25.4 मिलियन) ऐंटीरेट्रोवायरल थेरेपी हासिल की और 7.1 मिलियन HIV पोजिटिव लोगों को यह नहीं पता था कि उन्हें HIV (AIDS) है।

सन् 2020 में WHO के आकलन अनुसार एड्स विश्व में लगभग 3.3 मिलियन्स लोगों के मरने का कारण बना है जिनमें से 330,000 बच्चे सम्मिलित हैं। इनमें से तीन–चौथाई मृत्यु उप–सहारा अफ़्रीका में हुईं।

टिप्पणी

सारणी *: विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा प्रस्तुत वैश्विक सारांश*

Global Summary of the HIV/AIDS epidemic, December 2008			
Number of people living with HIV in 2019	**Total**	**38.0 million**	[31.6–44.5 million]
	Adults	36.2 million	[30.2–42.5 million
	Women	19.2 million	[16.4–22.2 million
	Children under 15 years	1.8 million	1.3–2.2 million]
People newly infected with HIV in 2019	**Total**	**1.7 million**	[1.2–2.2 million]
	Adults	1.5 million	[1.1–2.0 million
	Children under 15 years	150 000	[94 000 240 000
AIDS deaths in 2019	**Total**	**690000**	[500000-970000]
	Adults	600000	[430000–840000
	Children under 15 years	95000	[61 000–150 000]

6. आकस्मिक चोटें

आकस्मिक चोटों अथवा दुर्घटनाओं को विश्व में मृत्यु का एक और कारण माना जाता है। जनसंख्या बढ़ने के सापेक्ष दुर्घटनाओं की दर भी बढ़ती है। बच्चे, पदयात्री, सायकल–सवार एवं प्रौढ़ व्यक्ति सड़कों पर दुर्घटनाओं में सर्वाधिक मारे जाते हैं। विश्वस्वास्थ्य संगठन के अनुसार विश्व में प्रतिदिन 3000 से अधिक लोग सड़कों से मृत्यु के मुख में चले जाते हैं।

7. अल्ज़ाइमर्स रोग एवं अन्य उन्मत्तताएं

उन्मत्तता का एक प्रमुख कारण अल्ज़ाइमर्स रोग है। इस रोग का कारण व विकास अब तक सटीकता से ज्ञात नहीं हो सका है परंतु शोधों में प्रदर्शित हुआ है कि मस्तिष्क में उलझनों व मानसिक बाधाओं का संबंध इस रोग से है। ऐसा आकलन है कि विश्व में सन् 2020 में इस रोग के प्रभावितों की संख्या 50 मिलियन्स रही। ऐसा अनुमान है कि सन् 2050 को विश्व में 85 में से 1 व्यक्ति अल्ज़ाइम'र्स रोग से ग्रसित निकलेगा।

8. अतिसार संबंधी रोग

अतिसार (दस्त) एक जठरांत्रीय संक्रमण होता है जो विभिन्न विषाणुओं व परजीवियों के द्वारा हो सकता है। अतिसार को परिभाषित करते हुए विश्वस्वास्थ्य संगठन का कहना है कि यह ऐसा रोग है जिससे व्यक्ति को दिन में तीन अथवा अधिक बार द्रवीय मल–त्याग होता है। अतिसार के प्रमुख कारणों में दूषित जलपान, बासा अथवा दूषित आहार सेवन सम्मिलित है। यह रोग अस्वच्छ जीवन–स्थितियों के कारण भी हो सकता है।

शिशुओं में अतिसार अधिक होता देखा गया है जो कि शिशुमृत्यु का प्रमुख कारण है। उल्लेखनीय है कि सन् 2017 में अतिसार ने विश्व में पांच वर्ष तक की आयु के 525,000 बच्चों को काल के गाल में ढकेला। इस आंकड़े में विकासशील देशों का स्थान प्रमुख रहा क्योंकि वहां ज्ञान का अभाव है।

9. तपेदिक

यह एक और ऐसा संक्रामक रोग है जिसके कारण मरण दर बढ़ती है। यह मायकोबैक्टीरिया के कारण होता है एवं छींक व खांसने के दौरान मुख से निकली बूंदों के माध्यम से फ़ैल सकता है। इस रोग के प्रमुख लक्षणः छाती में कष्ट, खांसी, दुर्बलता,

बुखार, भार घटना, रात को पसीना आना है। इसमें प्रमुखतः फुफुस (फ़ेफ़ड़े) प्रभावित होते हैं व समय पर उपचार न किये जाने से मृत्यु तक हो सकती है। सन् 2019 में 1.4 मिलियन्स लोगों के विश्व में तपेदिक से मारे जाने का आकलन है।

टिप्पणी

10. सेप्टिसेमिया व नवजात संक्रमण

नवजात संक्रमणों व सेप्टिसेमिया के लक्षणों में पूरे शरीर में सूजन व ज्ञात अथवा अज्ञात संक्रमण की उपस्थिति प्रमुख हैं। नवजात–संक्रमण जन्म के आरभिक महीनों में होने वाले संक्रमणों को कहा जाता है। नवजात संक्रमण व सेप्टिसेमिया से संबंधित कुल वार्षिक मृत्यु का आंकड़ा 11 बिलियन है।

विभेदकीय मरण एवं इसके कारण

जिस प्रकार विभेदकीय फ़र्टिलिटी में सभी समूह समान दर पर प्रजनन नहीं करते उसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं होता कि लोगों के सभी समूहों की मृत्यु समान दर पर हो। मरण–दर में इस अंतर को विभेदकीय मरण कहा जाता है। मरण में अंतर से विभिन्न मानव–समूहों के स्वास्थ्य व जीवटता में अंतर प्रदर्शित होता है।

विभेदकीय मरण आयु, लिंग, संस्कृति, व्यावसायिक वर्ग, निवास–स्थल इत्यादि अनुसार भिन्न–भिन्न हो सकता है। विभेदकीय मरण के विभिन्न कारकों को नीचे दर्शाते हुए उनका विवरण दिया जा रहा है–

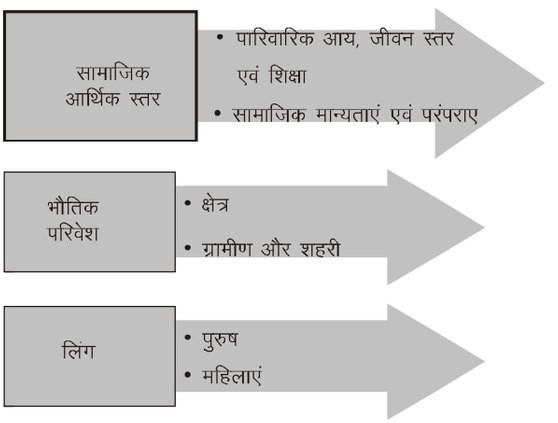

***चित्र** : विभेदकीय मरण के कारक*

(i) सामाजिक–आर्थिक स्थिति

सामाजिक–आर्थिक स्थिति में पारिवारिक आय, जीवन के मापदंड, शिक्षा, मान्यता एवं सामाजिक धारणाओं सहित आयु व लिंग से संबंधित परंपराएं सम्मिलित हैं। आकलनों में समस्त आर्थिकरूपेण विकसित देशों में कामगार आयुवर्ग में मृत्युदर घटी पायी गयी है। इसका मुख्य कारण यह है कि चिकित्सा–क्षेत्र में उन्नति बहुत कर ली गयी है व कोरोनेरी हृदयरोग व अन्य हृद्वाहिकीय रोगों से होने वाली मृत्यु में कमी आयी है। मुख्यतया इन अंतरों के कारण सामाजिक–आर्थिक मरण अंतराल बहुत बढ़ा। धनाढ्य सामाजिक–आर्थिक समूह में विभिन्न रोगों में कमी अन्य समूहों से अधिक रही क्योंकि ये अनुमोदित स्वास्थ्य दिशानिर्देशों को शीघ्र अपना लेते थे एवं नवीन चिकित्सा–उपचार इनके लिए सुलभ रहे, यथा कोरोनरी आर्टरी बाइपास, ग्राटिंग एवं एंजियोप्लास्टी।

टिप्पणी

विभेदकीय मरण का एक कारण नारियों की विवाह–आयु एवं स्थिति भी है। उल्लेखनीय है कि अल्पायु में ब्याह दी गयी स्त्रियों (किशोरियों) द्वारा जन्मे बच्चों की मृत्यु शीघ्र हो जाने की आशंका बलवती होती है।

उच्च सामाजिक–आर्थिक वर्ग के लोग निम्न सामाजिक–आर्थिक वर्ग के लोगों की तुलना में अधिक शिक्षित होते हैं एवं इन्हें चिकित्सा विज्ञान व नवाचारों का ज्ञान अधिक है। इसीलिए इस वर्ग के लोग चिकित्सा विज्ञान में किये जा रहे नवाचारों को सरलता से अपना लेते हैं, इस प्रकार इनके मरण की दर घट रही है।

अनेक समाजों में धारणाएं, सामाजिक मान्यताएं व प्रथाएं भी मरण में विभेद का कारण बनती हैं। भारतीय समाज में स्त्री–पुरुषों के शिक्षा–स्तर में स्पष्ट अंतर है। यह देश भांति–भांति के सामाजिक रिवाजों, धार्मिक पद्धतियों व परंपराओं का देश है जिनके परिणामस्वरूप स्त्रियों व पुरुषों की स्थिति में बड़ा अंतर बना रहता है, अर्थात् लिंग–भेदभाव के कारण समाज व परिवार में भी दोनों की स्थितियां विषम रहती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में मातृमृत्यु–दर विश्व में अत्यधिक है। वैश्विक परिदृश्य में सभी जीवित जन्मों में से 28 प्रति 1000 (2019) मृत्यु भारत में होती है एवं मातृमृत्यु के समस्त प्रकरणों में से 113 प्रति 1,00,000 (2016–2018) प्रकरण भारत से होते हैं। पुत्र प्राप्ति की इच्छा कन्या भ्रूणहत्या की दर में भी वृद्धि कर देती है।

(ii) भौतिक परिवेश

भौतिक परिवेश के अंतर्गत भौगोलिक अंचल सम्मिलित हैं। यह तथ्य व्यापकरूपेण स्वीकार्य है कि मरण की दर अंचलों में भिन्नता लिए रहती है, यहां तक कि समान अंचल के दो देशों की मरण–दर में भिन्नता हो सकती है। विभेदकीय मरण भी विकसित व विकासशील देशों के मध्य देखा जा सकता है तथा ग्रामीण व नगरीय क्षेत्रों में मध्य भी। उल्लेखनीय है कि पुरुषों, स्त्रियों, शिशुओं व प्रौढ़ों की जीवन–प्रत्याशा निवास–स्थल के अनुरूप भिन्न–भिन्न रहती है। अधिकांश विकसित देशों व नगरीय क्षेत्रों में मरण–दर विकासशील देशों व ग्राम्य क्षेत्रों से कम है। इस अंतर का कारण शिक्षा, उन्नत चिकित्सात्मक संसाधनों की उपलब्धता व आय विषमता जान पड़ता है। मरण–दर उच्च अक्षांशों में अधिक व निम्न अक्षांशों में कम देखी गयी है।

(iii) लिंग

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि विभेदकीय मरण के निर्धारण में स्त्री–पुरुष भेद एक महत्वपूर्ण कारक है। पुरुषों में पुरःस्थ (प्रोस्टेट) ग्रंथि का कैंसर मृत्यु का मुख्य कारण है जबकि यह ग्रंथि स्त्रियों में होती ही नहीं। स्त्रियों में स्तन अथवा गर्भाशयी ग्रीवा का कैंसर प्रमुखता से पाया जाता है।

व्यवहारगत भेद भी विभेदकीय मरण में मुख्य भूमिका लिए रहते हैं। उदाहरणार्थ रूस में अल्कोहल के कारण पुरुषों की मृत्यु अधिक होती है जबकि स्त्रियों की मृत्यु के प्रकरण कम हैं।

मातृ–मृत्यु के कारण

गर्भावस्था से संबंधित मृत्यु को मातृमृत्यु कहा जाता है। विश्वस्वास्थ्य संगठन के अनुसार– "गर्भावस्था में अथवा गर्भावस्था के समापन के 42 दिनों में गर्भावस्था/प्रसव से जुड़े किसी भी कारण से माता की मृत्यु होने को मातृ–मृत्यु कहा जाता है"। सन्

टिप्पणी

2017 में विश्व में 295650 मातृमृत्यु हो जाने का आकलन है। ऐसा आकलन है कि गर्भावस्था अथवा प्रसव से संबंधित जटिलताओं के कारण डेढ़ हज़ार माताओं की मृत्यु प्रतिदिन हो जाती है। भारत के लिए यह संख्या 35000 (2017) है।

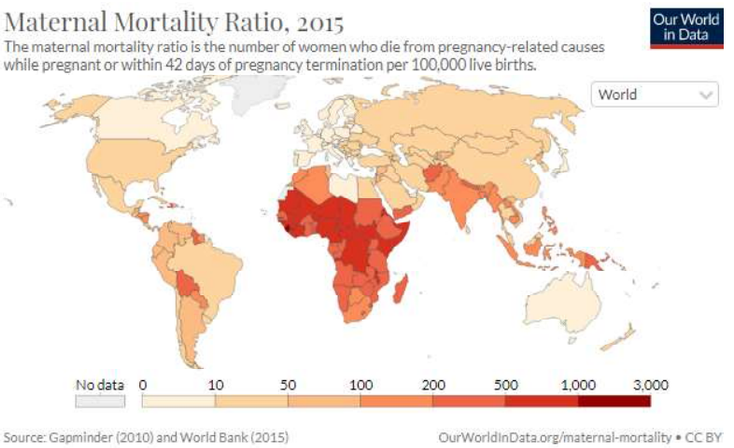

चित्र : मातृ–मृत्यु वाले देश–2005

अधिकांश मातृमृत्यु प्रकरण विकासशील राष्ट्रों में होते हैं एवं निर्धन परिवारों, अशिक्षित माताओं अथवा ग्राम्य क्षेत्र की नारियों पर इसका अधिक प्रभाव पड़ता है। सूचनाओं व अधोसंरचना के अभाव के कारण यह होता है। मातृमृत्यु के प्रमुख कारण निम्न हैं–

1. **असुरक्षित गर्भपात** : अवैध गर्भपात कराने से स्त्रियों को स्वास्थ्य को जोख़िम घेर लेता है। असुरक्षित गर्भपात प्रायः अस्वच्छ स्थितियों में कराये जाते हैं जिनमें अप्रशिक्षित लोगों द्वारा अदक्ष पद्धतियां अपनायी जाती हैं। विश्व में असुरक्षित गर्भपात के कारण 67,900 मातृमृत्यु प्रतिवर्ष हो जाती हैं (अर्थात् कुल मातृमृत्यु का 13 प्रतिशत)। असुरक्षित गर्भपात के कारकों में नारी–सशक्तिकरण न होना, अपर्याप्त गर्भनिरोधक सेवाएं, गर्भपात–विरोधी विधि (कानून), सामाजिक असहयोग व अपर्याप्त स्वास्थ्य–सेवा अधोसंरचना सम्मिलित हैं। असुरक्षित गर्भपात की समस्याओं को उन्नत स्वास्थ्य–सेवाओं द्वारा रोका जा सकता है जिनमें जन्म–नियंत्रण की सुरक्षित व प्रभावी विधियां एवं तात्कालिक स्त्री–चिकित्सात्मक देखरेख की उपलब्धता को सुनिश्चित करना सम्मिलित है।
2. **तीव्र रक्तस्राव (अधिकांशतया प्रसवोपरांत)** : शिशुजन्म के पश्चात् तीव्र रक्तस्राव (प्रसवोपरांत रक्तस्राव अथवा PPH) विश्व में मातृमृत्यु का बड़ा कारण है। वैश्विकरूपेण मरने वाली गर्भवतियों में से 25 प्रतिशत की मृत्यु तीव्र रक्तस्राव के कारण होती है। विश्वस्वास्थ्य संगठन के अनुसार प्रसव के उपरांत प्रतिवर्ष डेढ़ लाख स्त्रियों की मृत्यु रक्तस्राव के कारण हो जाती है। तीव्र रक्तस्राव सहन कर रही स्त्री की मृत्यु तुरंत (2 घण्टे में भी) हो सकती है यदि उसे तत्काल व उपयुक्त चिकित्सात्मक देखभाल प्रदान न की गयी तो।
3. **संक्रमण** : आकलनानुसार प्रत्येक मिनट एक स्त्री प्रसव–संबंधी संक्रमण से मृत्यु के मुख में चली जाती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के आकलन अनुसार 15 प्रतिशत मातृमृत्यु प्रसव से पूर्व अथवा उपरांत संक्रमण के कारण होती हैं। यह संक्रमण तपेदिक, HIV-1 अथवा अन्य प्रकार का हो सकता है।

टिप्पणी

4. **अनियमित प्रसवपीड़ा** : प्रसूतिज्वर, गर्भाशय फट जाने, संक्रमण अथवा अन्य कारण से धीमा अथवा कठिन प्रसव होने को अनियमित प्रसवपीड़ा कहते हैं। विश्वभर में मातृमृत्यु का यह एक प्रमुख कारण है, विशेषतया ऐसे समाजों में जहां की नारियां बाल्यावस्था से कुपोषित रहती हैं। अल्पपोषित नारियों में श्रोणिका (पेल्विस) छोटी रह जाने से प्रसव के समय गर्भाशय फटने की आशंका रहती है।

5. **पर्याप्त देखरेख का अभाव** : अपर्याप्त जन्मपूर्व देखभाल व अनुपयुक्त प्रसवोपरांत देखरेख के कारण मातृमृत्यु होने की आशंका बनी रहती है। कई गर्भवतियों की मृत्यु मात्र इसलिए हो जाती है कि गर्भावस्था के दौरान उनकी यथेष्ट देखभाल नहीं की गयी।

6. **निर्बल स्वास्थ्य में गर्भधारण** : नवजीवन को जन्म देने से पूर्व स्वयं के शरीर के सुदृढ़ न होने की स्थिति में गंभीर स्वास्थ्य–समस्याएं उपजती हैं जिनके कभी–कभी मातृक मृत्यु हो जाती है। ऐसा आकलन है कि 8 प्रतिशत मातृमृत्यु का कारण पर्याप्त देखरेख का अभाव व गर्भधारण के समय निर्बल स्वास्थ्य रहा।

7. **उच्च रक्तचापजनित आक्षेप (झटके)** : गर्भावस्था अथवा प्रसव के दौरान अतितनाव के कारण कम से कम 140 mmHg का प्रकुंचन (सिस्टॉलिक) रक्त दबाव अथवा कम से कम 90 उउभ्ह का अनुशिथिलन (डायस्टॉलिक) दबाव होने से माता व शिशु दोनों को गंभीर परिणामों से सामना करना पड़ सकता है। गर्भावस्था में लगभग 30 प्रतिशत उच्च रक्तचापजनित विकार दीर्घकालिक (देर से चले आ रहा) अतितनाव के कारण होते हैं। गर्भावस्था में हायपरटेन्शन के लक्षणों के अंतर्गत प्रि–एक्लेंप्शिया एवं गेस्टेशनल हायपरटेन्शन सम्मिलित हैं। एक आकलन अनुसार 15 प्रतिशत मातृमृत्यु विशेषतया प्रि–एक्लेंप्शिया के कारण होती हैं।

8. **अन्य रोग (मलेरिया, एनीमिया व आदि)** : इन तीन के अतिरिक्त अन्य रोग भी मातृमृत्यु का परोक्ष कारण बनते हैं। यूनाइटेड नेशन्स इंटर्नेशनल चिल्ड्रन'स इमर्जेन्सी फ़ंड (UNICEF) के अनुसार नाइजीरिया में 11 प्रतिशत मातृमृत्यु मलेरिया के कारण हुईं।

   अधिकांश विकासशील देशों में मातृमृत्यु का एक और प्रमुख कारण एनीमिया है। एनीमिया की स्थिति में रक्तस्राव अधिक हो जाए, सेप्टिसेमिया अथवा एक्लेंप्शिया हो जाए तो मृत्यु और अधिक निकट हो जाती है। आकलनानुसार सन् 1990 में भारत में 19 प्रतिशत मातृमृत्यु एनीमिया से संबंधित थीं।

   सन् 1998 से मातृमृत्यु का परोक्ष कारण HIV है। दक्षिणी अफ़्रीका के अत्यधिक ऐड्स–ग्रसित देशों में मातृमृत्यु का यह प्रमुख कारण बन रहा है। HIV-रहित स्त्रियों की तुलना में HIV-ग्रसित स्त्रियों में मरण–दर अधिक होती है।

   शासनों व कई अशासकीय संगठनों द्वारा मातृमृत्यु के कारणों को दूर करने की दिशा में कार्यक्रम आयोजित किये जा रहे हैं, यह सुनिश्चित करने के लिए सुविधाएं प्रदान की जा रही हैं कि प्रत्येक स्त्री 'परिवार नियोजन' से अवगत हो एवं सुरक्षित गर्भपात युक्तियों तक उसकी पहुंच हो।

टिप्पणी

प्रसव के समय प्रशिक्षित स्वास्थ्य–कर्मचारियों की उपस्थिति एवं कौशलपूर्वक उपचार से कई का जीवन अकाल मृत्यु से बचाया जा सकता है। अपूतिक (एसेप्टिक, अर्थात् अत्यधिक स्वच्छ) युक्तियों के प्रयोग से विभिन्न रोग–संक्रमणों को आने से रोका जा सकता है अथवा इनके प्राणघातक रूप धारण करने से पूर्व उपचार करके ठीक किया जा सकता है। वर्तमान में सहज उपलब्ध औषधियों से स्त्रियों में आक्षेपों (एक्लेंप्शिया के) के जोख़िम को घटाया जा सकता है। अन्य अनेक चिकित्सात्मक उपचार भी उपलब्ध हैं जिनसे मातृमृत्यु–दर घटायी जा सकती है। सबसे महत्वपूर्ण तो यह है कि मातृमृत्यु को रोकने के लिए स्त्री को स्वयं एवं परिवार को गर्भधारण के पूर्व से लेकर प्रसव के उपरांत तक पर्याप्त देखरेख सुनिश्चित करनी नितांत आवश्यक है।

शिशु–मृत्युदर : भारत में इसके कारण

किसी वर्ष प्रति 1000 जीवित जन्मों में से जितने शिशुओं की मृत्यु 1 वर्ष की आयु पूर्ण करने से पूर्व हुई उस कुल संख्या को शिशु–मृत्युदर कहा जाता है।

***सारणी** : विविध देशों में शिशु मृत्यु दर*

क्षेत्र	दर
विश्व	28.2
विकसित देश	4
कम विकसित देश	45
भारत	28
सियरा लियोन	81
पश्चिमी सहारा	52
लाइबेरिया	62
अफगानिस्तान	47
पूर्वी तिमोर	38
यूरोप	3
आइसलैंड	2
स्वीडन	2
अल्बानिया	9
रोमानिया	6
लैटिन अमेरिका	14
उत्तरी अमेरिका (यू. एस., कनाडा)	5

Source: https://data.worldbank.org/indicator/SP.DYN.IMRT.IN?name_desc=true

टिप्पणी

भारत में शिशु–मृत्यु

भारत धर्म, भाषा, संस्कृति, परंपराओं व प्रगतिस्तर इत्यादि संदर्भों में अत्यधिक वैविध्ययुक्त राष्ट्र है। भारत की जनसांख्यिकी में जन्मदर, मरण–दर एवं उर्वरता–दर में भी आंचलिक भिन्नताएं हैं। इस प्रकार भारत अन्य समस्त विकासशील व विकसित देशों से भिन्न स्थिति में है। आकलनानुसार देश की गणना विश्व की सर्वाधिक शिशु–मृत्युदर वाले देशों में की जाती है।

उच्च शिशुमृत्यु–दर से देश के बच्चों की स्वास्थ्य–स्थिति व जीवन के मापदंड छलकते हैं। स्पष्ट है कि बाल व मातृक स्वास्थ्य को ठीक करने की दिशा में तत्काल प्रभावी योजनाएं व कार्यक्रम लाये जाने की आवश्यकता है।

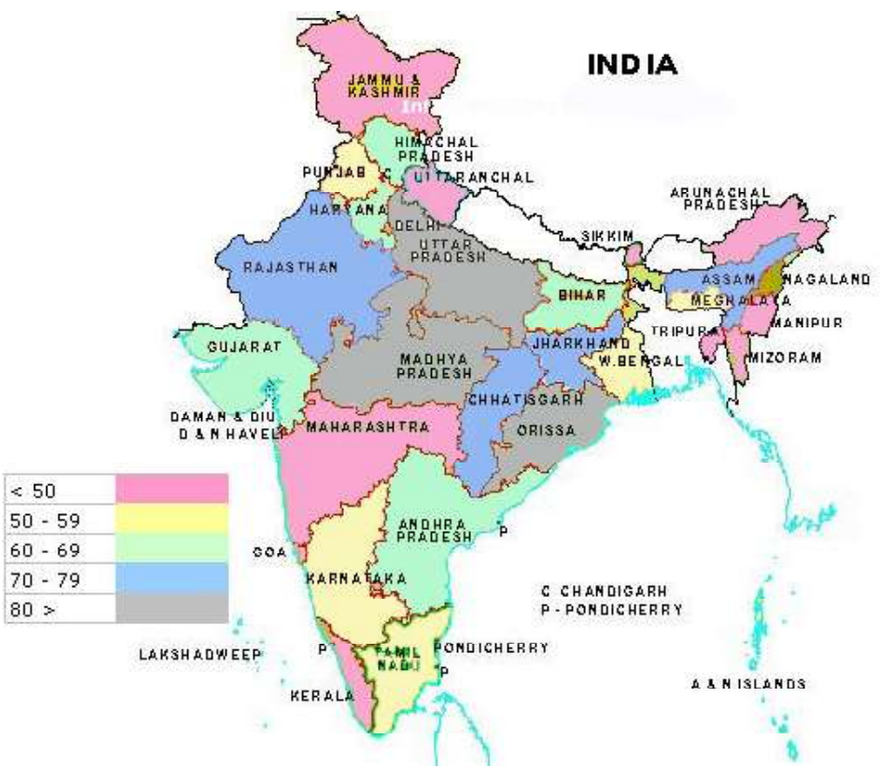

***चित्र** : सन् 2000 में संपन्न गणना में विभिन्न राज्यों में शिशु–मृत्यु का विवरण*

स्रोतः प्रतिदर्श पंजीकरण प्रणाली बुलेटिन. Vol 32 (2)- Oct 2001.

यह अध्ययन अंतर्राष्ट्रीय अशासकीय संगठन 'सेव द चिल्ड्रन' द्वारा किया गया था जिसने दर्शाया कि भारत में प्रतिवर्ष 4 लाख नवजात प्रसव के 24 घण्टों में काल के गाल में समा जाते हैं। एक अन्य अशासकीय संस्था के अनुसार भारत में 1000 जीवित जन्मों में से 72 बच्चे मृत हो जाते हैं। यह स्थिति विश्व के निर्धनतम देशों के गिने जाने वाले पड़ौसी बांग्लादेश से भी दयनीय है। भारत के विभिन्न राज्यों की अपेक्षा उत्तरप्रदेश अधिक भयावह स्थिति में है जहां नवजात–मरणदर 1000 जीवित जन्मों में 96 है, फिर मध्यप्रदेश (94), उड़ीसा (91) व राजस्थान (85) का स्थान आता है।

सारणी : *भारत में राज्यवार शिशु–मृत्युदरें*

क्रमांक	राज्य / संघशासित क्षेत्र	1961			2003			2005		
		पुरुष	स्त्रियां	व्यक्ति	पुरुष	स्त्रियां	व्यक्ति	पुरुष	स्त्रियां	व्यक्ति
1.	केरल	55	48	52	11	12	11	14	15	14
2.	पांडिचेरी	77	68	73	29	18	24	29	27	28
3.	मिज़ोरम	73	65	69	16	17	16	18	22	20
4.	मणिपुर	31	33	32	18	13	16	12	13	13
5.	अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह	78	66	77	12	24	18	26	27	27
6.	लक्षद्वीप	124	88	118	21	32	26	23	21	22
7.	चंडीगढ़	53	53	53	21	16	19	17	22	19
8.	गोआ	60	56	57	15	18	16	14	17	16
9.	अरुणाचल प्रदेश	141	111	126	31	38	34	29	46	37
10.	जम्मू–कश्मीर	78	78	78	46	41	44	47	55	50
11.	महाराष्ट्र	96	89	92	32	54	42	34	37	36
12.	त्रिपुरा	106	116	111	36	27	35	30	31	31
13.	दिल्ली	66	70	67	28	29	28	33	37	35
14.	मेघालय	81	76	79	56	59	57	48	51	49
15.	सिक्किम	105	87	96	34	31	33	29	31	30
16.	तमिलनाडु	89	82	86	44	41	43	35	39	37
17.	पश्चिम बंगाल	103	57	95	45	46	46	38	39	38
18.	पंजाब	74	79	77	46	52	49	41	48	44
19.	कर्नाटक	87	74	81	51	52	52	48	51	50
20.	दादरा एवं नगर हवेली	102	93	98	69	39	54	42	43	42
21.	गुजरात	81	84	84	54	61	57	52	55	54
22.	हिमाचल प्रदेश	101	89	92	54	44	49	47	51	49
23.	आंध्रप्रदेश	100	82	91	59	59	59	59	58	57
24.	बिहार	95	94	94	59	62	60	60	62	61
25.	हरियाणा	87	119	94	54	65	59	51	70	60
26.	असम	N.A.	N.A.	N.A.	69	65	67	66	69	68
27.	राजस्थान	114	114	114	70	81	75	64	72	68
28.	उत्तरप्रदेश	131	128	130	69	84	76	71	75	73
29.	मध्यप्रदेश	158	140	150	77	86	82	72	79	76
30.	उड़ीसा	119	111	115	82	83	83	74	77	75
31.	नागालैंड	76	58	68	N.A.	N.A.	N.A.	19	18	18
32.	दमन एवं दीव	60	56	57	43	34	39	27	28	28
33.	छत्तीसगढ़				68	71	70	63	64	63
34.	झारखंड				50	52	51	43	58	50
35.	उत्तराखंड				31	53	41	37	48	42
	संपूर्ण भारत **	122	108	115	57	64	60	56	61	58

N.A. लागू नहीं

स्रोतः भारत के महापंजीयक कार्यालय, मानवीय मामलों का मंत्रालय

भारत में शिशु–मृत्युदर को देखने पर स्पष्ट है कि स्वास्थ्य–क्षेत्र में भारत को अधिक ज़ोर दिए जाने की आवश्यकता है। शिशु व बाल मृत्यु की इस उच्च दर के अनेक कारण हैं। जन्मोपरांत प्रारभिक कुछ माहों में मृत्यु के मुख्य कारण हैंः अतिसार (दस्त), श्वसन–संक्रमण, कुपोषण, निर्जलीकरण, मलेरिया एवं प्न्यूमोनिया। परिवार की सामाजिक–आर्थिक स्थिति एवं माताओं का शिक्षित न होना भी भारत में शिशु–मृत्यु के निम्नलिखित कारण हैं–

टिप्पणी

टिप्पणी

(अ) **अतिसार** : भारत में एक आकलन अनुसार 22 प्रतिशत शिशु–मृत्यु का कारण अतिसार है।

(आ) **श्वसन–संक्रमण** : भारत में एक आकलन अनुसार 11 प्रतिशत शिशु–मृत्यु का कारण श्वसन–संक्रमण हैं। श्वसन–संक्रमण से संबंधित विभिन्न रोगः ऊपरी श्वसन–संक्रमण, ब्रोंको–प्न्यूमोनिया/प्न्यूमोनाइटिस, प्न्यूमोनिया अन्स्पेसिफ़ाइड, ब्रोंकाइटिस, ब्रोंकिएक्टेसिस एवं अन्य फुफुस–रोग।

(इ) **कुपोषण** : भारत में अधिकांश परिवार ग़रीबी रेखा के नीचे जीवन–यापन करते हैं एवं कुपोषण–संबंधी रोगों से जूझते हैं। माताओं व शिशु में कुपोषण के कारण शिशु–मृत्यु की आशंका बढ़ जाती है। जन्मपूर्व नवजात का पोषण एवं माता की खाद्य–प्रवृत्तियां, पोषक–उपलब्धता इत्यादि ऐसे कारक हैं जो माता के माध्यम से शिशु का भावी जीवन प्रभावित करते हैं। माता का कुपोषण एवं कुछ माह तक अनन्य स्तनपान में बरती गयी लापरवाही सहित पूरक आहार आरंभ करने के नियमों का पालन न किये जाने से शिशु की उत्तरजीविता प्रभावित होती है।

(ई) **निर्जलीकरण** : विश्वस्तर पर पांच वर्ष से अल्प आयु के बच्चों की मृत्यु के प्रमुख कारणों में निर्जलीकरण दूसरा अग्रणी कारण है जिससे प्रतिवर्ष 1.9 मिलियन्स मृत्यु होने का आकलन है।

(उ) **मलेरिया एवं प्न्यूमोनिया** : गर्भावस्था में मलेरिया अथवा प्न्यूमोनिया हो जाने से जन्म के समय नवजातभार कम होने, समय–पूर्व प्रसव की आशंका रहती है जो कि भारत में शिशुमृत्यु के मुख्य कारण हैं।

(ऊ) **नारी–अशिक्षा** : नारियों को मूलभूत शिक्षा न प्रदान किये जाने को गर्भवती–मरण एवं बाल–मृत्यु के प्रमुख कारण के रूप में जाना जाता है। मातृक शिक्षा को रूढ़िवादी एवं/अथवा पुरुषप्रधान समाजों में बहुधा एक सामाजिक–आर्थिक विडम्बना के रूप में समझा जाता है। अशिक्षित माता में पोषण, स्वास्थ्य देखरेख व स्वच्छता का आरंभिक ज्ञान होने की कल्पना कैसे की जा सकती है? यदि यही ज्ञान उसमें नहीं होगा तो स्वयं व शिशु का स्वास्थ्य कैसे ठीक रहेगा?

(ऋ) **सामाजिक–आर्थिक कारक** : कुटुम्ब की सामाजिक धारणाएं व आर्थिक मान्यताएं नवजात व शिशु के वर्तमान व भविष्य को प्रभावित कर सकती हैं। पुत्रप्राप्ति की कामना कन्याभ्रूण–हत्या को बढ़ावा देती है। अत्यधिक आर्थिक विपन्नता में जी रहे परिवार अपने सदस्यों को पर्याप्त भोजन, पोषक आहार व चिकित्सात्मक देखरेख उपलब्ध कराने में सक्षम नहीं होते; परिणामस्वरूप माता का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता व बाल–मृत्यु की आशंका बनी रहती है। ऐसे परिवारों में दुर्बल माताएं प्रसव के माध्यम ये जिन निर्बल नवजातों को जन्म देती हैं वे समय के सापेक्ष और कमज़ोर होते चले जाते हैं एवं पारिवारिक परिस्थितियों के थपेड़ों में पूरा जीवन स्वास्थ्यगत समस्याओं से ग्रसित रहने की आशंका बनी ही रहती है।

भारत में शिशु–मृत्यु पर अंकुश लगाने के लिए भारत शासन ने अनेक महत्वपूर्ण कार्यक्रमों का क्रियान्वयन किया। सन् 2001 में जब शिशु–मृत्युदर 1000 जीवित जन्म में 97 थी तो राज्य–शासनों ने IMR मिशन लाने का निर्णय किया ताकि शिशु–मृत्यु के कारणों तक पहुंचकर उन्हें ठीक किया जा सके। संस्थागत प्रसव को बढ़ावा देने के लिए लाभार्थियों को नगद सहायता प्रदान की गयी ताकि प्रसव

टिप्पणी

के लिए लोग स्वास्थ्य–केंद्र पहुंच सकें। पहले स्वास्थ्य मंत्रालय के परिवार कल्याण विभाग द्वारा 'सुरक्षित मातृत्व एवं बालजीवन' का कार्यक्रम लाया गया था। वैसे परिवार कल्याण विभाग ने ग्रामीण स्वास्थ्य केंद्रों में एक पहल की है जिसमें नवजातों की देखभाल के लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराये जाते हैं।

कन्या–भ्रूणहत्या एवं बालिका–हत्या

गर्भस्थ कन्या को हटाने के उद्देश्य से किया जाने वाला गर्भपात कन्या–भ्रूणहत्या है। जन्मोपरांत बालिका को एक वर्ष में मार डालने के कृत्य को बालिका–हत्या कहते हैं। हत्या के लिए विष अथवा किसी प्राणघातक पदार्थ (कार्बनिक अथवा अकार्बनिक रसायन) का प्रत्यक्ष प्रयोग किया जाता है अथवा शारीरिक हिंसा द्वारा मार दिया जाता है अथवा गर्भवती/बालिका के स्वास्थ्य की अनदेखी की जाती है ताकि शिशु को मृत्यु के निकट ले जाया जा सके। कोल्लूर(सन् 1990) के अनुसार शिशु–हत्या का आशय एक वर्ष की आयु के पूर्णतः आश्रित बच्चे को उसके माता–पिता, अभिभावकों अथवा ऐसे व्यक्तियों द्वारा मारे जाने से है जिनके संरक्षण में उसे सौंपा गया था।

भारत एवं चीन में कन्याभ्रूण–हत्या व बालिका–हत्या की घटनाएं सर्वविदित हैं। सन् 1994 में चीन की एक रिपोर्ट के अनुसार आकलन है कि देश में 117 बच्चों के अनुपात में बच्चियां 100 ही हैं। आज भी अनुपात लगभग वैसा ही है।

भारत में संकीर्ण मानसिकता के कारण कन्याभ्रूण–हत्या एवं बालिका–हत्या के उदाहरण ग्रामों से लेकर महानगरों तक सरलता से दिख जाते हैं। अनुमानानुसार लाखों लिंगचयनित हत्याएं की जाती रही हैं। भारत के लिंगानुपात में 1000 बालकों के अनुपात में 927 ही बालिकाएं हैं। इस कारण हमारा भारत अंतर्राष्ट्रीय रूप से लिंगभेद करने वाले राष्ट्रों में गिना जाता है। यूएन वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार लिंगानुपात के संदर्भ में सबसे ख़राब राज्य पंजाब है जहां सन् 1991 में 875 की संख्या घटकर सन् 2001 में 798 हो गयी। राष्ट्र की राजधानी दिल्ली 47 बिंदु नीचे आ गयी जहां यह आंकड़ा 915 से गिरकर सन् 2001 में 868 हो गया। हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, चण्डीगढ़ एवं अन्य उत्तर भारतीय राज्यों में कन्याभ्रूण–हत्या व बालिका–हत्या अत्यधिक प्रचलित है। बंगलौर में भी उपरोक्त आंकड़ा 811 है।

कन्याभ्रूण–हत्या व बालिका–हत्या से लोगों की सामाजिकता भीतर तक कुप्रभावित हो जाती है। यदि इस प्रचलन को जारी रखा गया तो हत्याओं के कारण देश में स्त्रियों की स्थिति एक–दो दशकों में ही अपेक्षाकृत और अधिक दयनीय हो सकती है। अधिकांश राज्यों में दस बालकों के अनुपात में बालिकाओं की संख्या 8 भी नहीं है। इस विषमता के कारण उन स्त्रियों को असुरक्षानुभूति होने लगती है जो अब तक जीवित हैं। कुछ राज्यों में तो वधू उपलब्ध कराने के अंतर्राज्यीय गिरोह तक बना लिए गए हैं तो स्त्री–व्यापार में लिप्त हैं।

कन्याभ्रूण–हत्या व बालिका–हत्या जैसे क्रूर कृत्यों के इस क्रम में गर्भवती पर अल्ट्रासोनोग्रॅफ़ी के लिए दबाव डाला जाता है एवं/अथवा वह स्वेच्छा से अजन्मे शिशु का लिंग पता कराने का प्रयास करती है ताकि भ्रूण के कन्या होने के प्रकरण में शीघ्र गर्भपात कराना सुविधाजनक लगे। ये एक के बाद एक भ्रूणहत्या तब तक कराने देती हैं जब तक कि पुत्र नहीं मिल जाता। ऐसा पुनःपुनः किये जाने से स्त्री के जननांग दुर्बल होते चले जाते हैं व गर्भधारण करने की क्षमता घटती जाती है।

टिप्पणी

कन्याभ्रूण–हत्या व बालिका–हत्या हेतु उत्तरदायी कारण

(क) **स्त्रियों की दुर्दशा**– कन्या के घर आते ही उसे विदा करने के लिए धन जुटाने की चिंता में परिजन स्वयं को लिप्त कर लेते हैं। इस सामाजिक कुप्रथा से बचने के लिए लोग कन्याशिशु हो ही न, ऐसा प्रयास करते हैं। जो स्त्रियां हैं उनके अस्तित्व को भी स्वास्थ्य, पोषण, सुरक्षा व सम्मान से वंचित रखा जाता है।

(ख) **पुत्र को रत्न समझना**–भारत में पुत्र होने को अपना वंश आगे बढ़ाने का सूचक माना जाता है, किशोर को कमाऊ माना जाता है व किशोरी को बोझ। भारत ही नहीं अपितु बहुसंख्य देशों में परिवार के समस्त सदस्यों के नाम के आगे पुरुष को मुखिया मान पैतृक उपनाम ही लिखे जाते हैं। इस प्रकार पारिवारिक लिंगभेद को सामाजिक भेदभाव के स्तर तक बढ़ने दिया जाता है।

प्रवास संबंधी जनसांख्यिकीय गतिशीलता

गार्नियर (सन् 1966) के अनुसार मानव एक गतिशील रचना है जो पूछताछ में, सुझाव ग्रहण करने में सक्षम है एवं कल्पना करने व पहल करने में समर्थ। यही मानव अपनी इच्छाओं को बढ़ाने व पूरी करने के लिए अन्यत्र घूमता रहता है व वर्तमान के प्रति असंतुष्ट रहकर अपनी बढ़ा ली गयी इच्छाओं की पूर्ति की बाट जोहता रहता है। राजनैतिक सीमाओं के उस पार लोगों के इस आवागमन को प्रवास कहा जाता है। प्रवास का तात्पर्य अनेकार्थक हो सकता है। मानवों की यह गतिशीलता बहुदिष्ट अथवा एकदिष्ट, अस्थायी अथवा दीर्घकालिक, ऐच्छिक अथवा विवशतावश हो सकती है। प्रवास में स्थायी अथवा अर्द्ध–स्थायी निवास–सुविधा उपलब्ध करायी जाती है ताकि वे दूसरे स्थान पर रह सकें। प्रवास का मापन करने के लिए जनसांख्यिकीविदों द्वारा प्रायः इन–माइग्रेशन, आउट–माइग्रेशन, ग्रॉस माइग्रेशन, नेट इंटर्नल माइग्रेशन एवं नेट माइग्रेशन जैसी विधियों का प्रयोग किया जाता है।

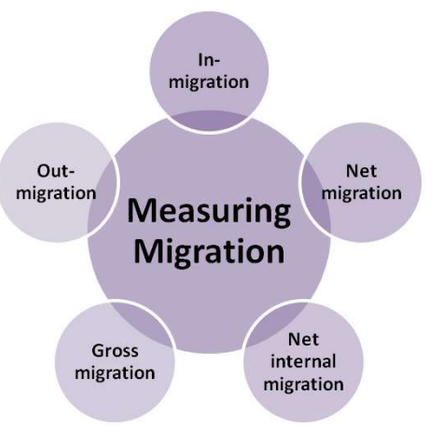

***चित्र** : प्रवास के मापन की विधियां*

इन व आउट–माइग्रेशन में किसी देश के भीतर एक से अन्य स्थान की ओर जाने वाले लोगों की संख्या नापी जाती है।

ग्रॉस माइग्रेशन में इन–माइग्रेण्ट्स व आउट–माइग्रेण्ट्स की कुल संख्या का मापन किया जाता है।

नेट माइग्रेशन तो नेट इंटर्नल माइग्रेशन व विदेश से आए लोगों के मध्य का अंतर होता है।

नेट इंटर्नल माइग्रेशन में इन–माइग्रेशन व आउट–माइग्रेशन के मध्य का अंतर स्पष्ट होता है।

टिप्पणी

प्रवास के प्रकार व प्रारूप

मानवजाति के आरंभ से ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर रहने का क्रम अर्थात् आवास–स्थल बदलने की रीति जारी है। सहस्त्राब्दियों से मानव एकल अथवा समूहों में विभिन्न उद्देश्यों से प्रवास करता आया है, फिर चाहे जीविका खोजने का प्रश्न हो अथवा अनुकूलन अथवा जीवित रहने का प्रयत्न। ऐसा दावा किया गया है कि प्रवास करना होमो सैपियन्स का स्वाभाविक लक्षण है। प्राचीनकाल में दिनचर्या में प्रयुक्त वस्तुओं को एकत्र करने के लिए मानव स्थान परिवर्तित करते रहते थे। एक वनांचल से दूसरे वनांचल, यहां तक कि दूसरे महाद्वीपों तक जाने के साक्ष्य भी मिले हैं। पर्यटन तो एक अल्पावधिक स्थान–भ्रमण होता है परंतु देशाटन करने का प्रमुख उद्देश्य जीवन की निरंतरता से जुड़ा था। कोई अधिक संपन्नता के लिए तो कोई बंधुआ–मजदूरी से मुक्ति हेतु दूसरे स्थान जाकर वहीं बस जाता था। आज भी राजस्थान में खानाबदोश श्रेणी के लोग बारम्बार स्थान बदलते रहते हैं ताकि सीमित संसाधनों में भी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति अपेक्षाकृत सरलता से की जा सके। रोज़गार के पूंजीवादी अवसर देखने व सामाजिक सुरक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से आज बहुराष्ट्रीय प्रवास किया जा रहा है।

प्रवास एवं उपनिवेश

भारत में मुगल अपने साथ अपने दासों को भी लाये थे जो हर उस स्थान तक साथ गए जहां–जहां मुगलों ने आक्रमण किया। भारत के कई नागरिक भारत छोड़ना नहीं चाहते परंतु आर्थिक अवसरों का लाभ दिखाकर खाड़ी देशों में यहां के कई नागरिकों को बुलाया व परोक्ष दबाव बनाकर सदा के लिए रख लिया जाता है ताकि वहां की संगठनात्मक इकाइयों को श्रम सस्ते में उपलब्ध हो सके।

शरणार्थियों, सैनिकों को भी बलपूर्वक बाध्य किया जाता है कि वे स्थान–परिवर्तन कर लें। मानव–व्यापार भी इसी के जैसा किंतु कुछ भिन्न उदाहरण हैं। भारतीय प्रायद्वीप में आधुनिक प्रवास का सबसे बड़ा उदाहरण पाकिस्तान–विभाजन रहा, इस विभाजन के दौरान कई परिवार स्वेच्छा से प्रवासित हुए तो कुछ को बलपूर्वक यहां से वहां अथवा वहां से यहां भगाया गया जबकि कुछ परिवार न चाहते हुए भी परोक्ष दबाव में प्रवास कर गए/कर आए।

इस प्रकार प्रवास के तीन मुख्य प्रारूप हुए– नगदी फसल अथवा निर्यात्–उन्मुख कृषि के क्षेत्रों में प्रवास, खनन अथवा उद्योग में रोज़गार के क्षेत्रों में प्रवास एवं शहरों में साधारण व विषम रोज़गारों के लिए प्रवास।

पश्चिम अफ़्रीका में मौसमी, अकुशल कृषि–श्रम के प्रवाह के रूप में ग्रामीण–नगरीय प्रवास निर्धन ग्रामीण क्षेत्रों से नगदी फसल के क्षेत्रों की ओर हुआ। इस प्रारूप का प्रवास आरंभिक औपनिवेशिक काल में भी देखा गया था जब स्थान की कमी से जूझते उपनिवेशों का प्रवास भू–आधिक्य वाले क्षेत्रों की ओर हुआ, जैसे कि क्रॉस–रीवर एरिया, द नाइजीरियन मिडल बेल्ट एवं नॉर्दर्न आइवरी कोस्ट की ओर।

टिप्पणी

प्रवास भांति–भांति के सामाजिक व सांस्कृतिक कारकों पर निर्भर होता है। वास्तव में भूखंड की सीमित उपलब्धता एक ऐसा प्रमुख कारक है जिससे उत्तर अमेरिका सहित लेटिन अमेरिका व एशिया के निर्धनतम ग्राम्य क्षेत्रों से लोगों ने संसाधनों की अपेक्षाकृत सहज उपलब्धता वाले क्षेत्रों में पलायन किया।

वर्तमान में साधारणतया अधिक आय व रोज़गार के अवसरों के लिए लोग प्रवास करते देखे जा रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय व स्वदेशी प्रवास के इस रूप की दिशा प्रायः अविकसित अथवा अल्पविकसित क्षेत्रों से उच्चविकसित क्षेत्रों की ओर है।

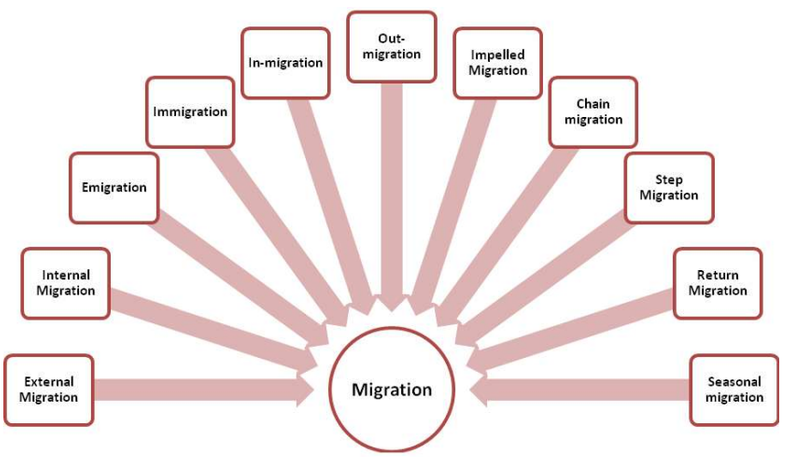

चित्र : प्रवासन के प्रकार

वैसे प्रवास को मूलतः अंतरिक प्रवास व अंतर्राष्ट्रीय प्रवास में विभाजित किया जा सकता है।

प्रवास के विभिन्न प्रकार–

1. **बाह्य प्रवास** : इसमें दूसरे देश/प्रांत अथवा महाद्वीप में प्रवास किया जाता है।
2. **आउट–माइग्रेशन** : इसमें लोग एक समुदाय/सम्प्रदाय अथवा देश से दूसरे सम्प्रदाय, समुदाय अथवा देश में चले जाते हैं।
3. **प्रतिकूलता–प्रेरित प्रवास** : इसमें विपरीत परिस्थितियों के कारण दूसरे स्थान पर प्रवास किया जाता है, जैसे– युद्ध, धार्मिक उन्माद अथवा राजनैतिक समस्याओं के कारण। इस प्रकार के प्रवास को 'अनिच्छुक' अथवा 'थोपा गया' प्रवास भी कहा जाता है क्योंकि स्थितियां अनुकूल न रह जाने से लोग न चाहते हुए भी अपने स्थान को छोड़ जाते हैं।
4. **स्टेप माइग्रेशन** : यह एक अल्पकालिक प्रवास होता है जिसमें लोग किन्हीं उद्देश्यों से दूसरे स्थान जाते हैं। उदाहरण हेतु किसी सुदूर अंचल से गांव में, फिर किसी शहर में, तदुपरांत महानगर में जहां वे दीर्घावधि तक बसे रहते हैं।
5. **चैन माइग्रेशन** : इसमें लोगों का अथवा परिवारों का कोई समूह आपस में शृंखला बनाकर प्रवास करता है। प्रायः छोटे–से समूह से कोई इस प्रवास–शृंखला को आरंभ करता है एवं अपने समूह के शेष सदस्यों को धन भेजता है। इस धन को पाकर वे पुराने स्थान से नये स्थान की ओर चल पड़ते हैं।

टिप्पणी

6. **रिटर्न माइग्रेशन** : अपने मूल स्थान की ओर लौट आने को रिटर्न माइग्रेशन कहा जाता है। इस प्रकार के प्रवास को 'वर्तुल(सर्क्युलर) प्रवास' भी कहते हैं।
7. **आंतरिक प्रवास** : एक ही देश के एक से अन्य राज्य अथवा एक से अन्य स्थानों की ओर किया जाने वाला प्रवास आंतरिक प्रवास कहलाता है।
8. **उत्प्रवास** : इसमें परदेस गमन किया जाता है।
9. **आप्रवास** : इसमें एक देश के लोग दूसरे देश पहुंचकर वहीं बस जाते हैं।
10. **इन–माइग्रेशन** : इसमें लोग समान देश अथवा राजक्षेत्र के विभिन्न अंचलों में जाते हैं।
11. **सीजनल प्रवास** : यह श्रम अथवा पर्यावरणीय एवं जलवायविक परिस्थितियों के कारण किया गया प्रवास है। इसका प्रचलित उदाहरण भारतीय ग्रामों में दिख जाता है जहां रबी अथवा ख़रीफ़ की फसल के समय खेती–किसानी के लिए दूसरे क्षेत्र के खेतिहर मजदूरों को खेत–खलिहान में कामगार के रूप में लगाया जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय प्रवास : एक देश से अन्य देश में प्रवास किये जाने को अंतर्राष्ट्रीय प्रवास कहा जाता है। ऐसे प्रवासी वैध अथवा अवैध अथवा शरणार्थी हो सकते हैं। शरणार्थी प्रवासीवर्ग में ऐसे लोग सम्मिलित हैं जो सावधानी के लिए दूसरे देश में प्रवास कर गए हैं अथवा युद्ध–विभीषिकाओं से बचे रहने के लिए स्वदेश से दूर रहने को विवश हैं।

अन्य अनेक प्रकार के प्रवास भी होते हैंः अंतर्राज्यीय व स्वराज्यीय प्रवास, सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रवास, अस्थायी व स्थायी प्रवास, ग्राम्य–नगरीय प्रवास एवं ग्राम से ग्राम प्रवास व नारी प्रवास इत्यादि। राज्य–सीमा के उस पार प्रवास करने को अंतर्राज्यीय प्रवास कहते हैं जबकि अपने ही राज्य के विभिन्न स्थानों पर किया गया प्रवास स्वराज्यीय प्रवास कहलाता है। सकारात्मक प्रवास आर्थिक उन्नति के लिए अवसरों के कारण किया जाता है जबकि नकारात्मक प्रवास में अवसरों के अभाव के कारण अविकसित क्षेत्रों से श्रमिक दूर चले जाते हैं।

स्थायी प्रवास तब किया जाता है तब प्रवासी अपने स्थान से अन्य स्थान जाकर स्थायी रूप से वहीं बस जाते हैं। अस्थायी प्रवास में अकाल, बाढ़ अथवा अन्य विपदाओं के कारण कुछ अवधि के लिए अपना स्थान छोड़कर जाते हैं एवं स्थिति पुनः अनुकूल हो जाने पर अधिकांश लोग लौटकर वापस आ जाते हैं।

ग्राम्य–नगरीय प्रवास का अभिप्राय ग्रामों से नगरों की ओर पलायन करने से है। भारत में यही प्रवास सर्वाधिक देखा जाता है। नारी प्रवास में विवाह अथवा आर्थिक कारणों से किसी स्थान की बहुत–सी स्त्रियां दूसरे स्थान चली जाती हैं। इसे विवाह–प्रवास अथवा सम्बद्धता प्रवास कहा जाता है।

प्रवास पर प्रभावी कारक

प्रवास किये जाने का प्रमुख स्रोत ऐसे स्थान हैं जहां की जनसंख्या की आय बहुत कम है। ऐसे लोग अधिक आय की आस में बेहतर लगने वाले रोज़गार–अवसरों के लिए शहर चले जाते हैं। वैसे अन्य कारणों से भी लोग ऐसा करते हैं।

सामाजिक संस्थाओं, रिश्ते–नातेदारी, कुटुम्बों व अन्य प्रणालियों के माध्यम से भी प्रवास का निर्णय बहुत किया जाता है। प्रवास करने में दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक

टिप्पणी

आकर्षणकारी व विकर्षणकारी कारक हैं जिन्हें अन्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। विकर्षणकारी कारक ऐसे कारक होते हैं जिनसे व्यक्ति अपने निवास स्थान को छोड़ने को बाध्य होने लगता है, जैसे कि खाद्य–अनुपलब्धता, युद्ध, प्राकृतिक आपदा इत्यादि। आकर्षणकारी कारक ऐसे कारक हैं जिनमें तथाकथित अधिक बेहतर जीवन के लिए अथवा ऊंची आमदनी के मोह में व्यक्ति खिंचा चला जाता है।

प्रवास को निर्धारित करने वाले विभिन्न विकर्षणकारी व आकर्षणकारी कारक शिक्षा, परिवेश, अर्थव्यवस्था एवं राजनीति हैं।

(अ) **शिक्षा**– शिक्षा को प्रवास का आकर्षणकारी कारक कहने के संदर्भ में दो विरोधी दृष्टियां हैं कि शिक्षा प्रवास को कैसे प्रभावित कर सकती है। एक दृष्टि में दावा किया जाता है कि ऐसे शिक्षित युवा कम जोख़िम के लिए अन्य केंद्रों के लिए निकल जाते हैं जो उच्चतर परिमाणों में अ–विशिष्ट मानवपूंजी अर्जित कर चुके हों। इस प्रकार क्षेत्र में शालाओं को बढ़ावा दिए जाने से अधिक चयन–उन्मुखी युवा आउट–माइग्रेशन के लिए प्रेरित हो जाते हैं। इनमें से कुछ के प्रवास का उद्देश्य अपनी शिक्षा अथवा कौशल को निखारना होता है जबकि कुछ का उद्देश्य अपने वर्तमान जीवन से असंतुष्टि ये पीछा छुड़ाना होता है। द्वितीय दृष्टि में दावा किया जाता है कि क्षेत्र में कम शैक्षणिक अवसरों के कारण परिवार अपने बच्चों को अन्य ऐसे क्षेत्रों में भेजने के लिए प्रेरित होते हैं जहां उच्च शिक्षा मिल सके अथवा संस्थागत सुविधाएं उपलब्ध हों।

(आ) **परिवेश**– जलवायु परिवर्तन, प्राकृतिक अथवा मानव–जनित आपदाएं (उदाहरणार्थ विश्व की सबसे बड़ी औद्योगिक दुर्घटनाः भोपाल गैस त्रासदी), भू–संरचना इत्यादि ऐसे कारण हैं जिनसे प्रवास की दशा व दिशा निर्धारित होती है। पर्यावरण प्रतिकूल हो जाने से पलायन कर जाना कोई नवीन घटना नहीं है, बाढ़–ग्रस्त क्षेत्रों के लोग पर्याप्त आसरा व अन्न खोजने के लिए लगभग प्रतिवर्ष प्रवास करते रहते हैं। सीजनल प्रवास व आपदा–प्रवास की अवधारणा पर्यावरण–परिवर्तन के आधार पर विकसित की गयी है।

वैसे तूफ़ान, बवंडर, भूकंप इत्यादि कारणों से भी लोग प्रवास कर जाते हैं। पर्यावरणीय आपदाओं की आवृत्ति व तीव्रता से लोग निर्णय करते हैं कि प्रवास कितनी दूर व कितनी अवधि तक करना है। शासन भी आपदाओं के पूर्वानुमान के समय लोगों को सुरक्षित स्थान पर जाने को कहता है अथवा बलपूर्वक खदेड़ा भी गया है ताकि जन–धन की हानि को यथासंभव अल्पतम किया जा सके। हिंसा व पारस्परिक द्वेष के बजाय आपदाओं के कारण निर्वासित होने वाले लोगों की संख्या अधिक है।

(इ) **अर्थव्यवस्था**–प्रवास को प्रेरित करने वाले प्रमुख आर्थिक कारकों में जीवनशैली के उच्च मापदंडों की चाह, अधिक आय–संभावना एवं रोज़गार के अवसरों की सहज उपलब्धता सम्मिलित है। इन कारकों से वर्तुल (सर्क्युलर) प्रवास, अंतर्राष्ट्रीय प्रवास, सीजनल प्रवास, स्टेप माइग्रेशन एवं ग्राम्य–नगरीय प्रवास अधिक किया जा रहा है। वर्तुल प्रवास प्रायः कम आय वाले देशों में किया जाता है जहां दूर जाकर पर्याप्त लगने वाली धनराशि जुटा लेने के बाद व्यक्ति घूम–फिरकर घर वापस आ जाता है।

टिप्पणी

वैश्वीकरण के कारण अंतर्राष्ट्रीय प्रवास अत्यधिक बढ़ा है। आर्थिक सुरक्षा व आर्थिक विकास की चाह लिए लोग अंतर्राष्ट्रीय बाज़ारों के लिए बढ़ रहे हैं। श्रम–बाज़ार में भी रोज़गार के विपुल अवसर देखे जा रहे हैं। अल्पविकसित देशों से बहुत सारे लोग विकसित देशों में जाकर नौकरी ढूंढ रहे हैं व आय के स्रोत खोजने के लिए प्रयासरत् हैं।

विकासशील देशों में आर्थिक सुधारों को लाये जाने से ग्रामीण बड़ी संख्या में नगरों की ओर चले गए। बड़े शहरों में अस्थायी प्रवास से ग्रामीणजनों को एक लाभ यह पहुंच सकता है कि बड़े शहरों के उपलब्ध अवसरों का लाभ लेकर अपने ग्राम वापस लौटा जा सकता है, इस प्रकार प्रवासियों की इच्छा तो पूर्ण होगी ही, साथ ही में बड़े शहरों में स्थायी जनसंख्या का दबाव नहीं बढ़ेगा एवं इन शहरों की श्रम–आवश्यकताएं सरलता से पूर्ण हो जाएंगी। शहरों में रह रहे ग्रामीणों द्वारा अपने ग्राम में राशि भेजी जाने से ग्रामस्थित परिवार की आर्थित स्थिति उन्नत होगी। इस प्रकार अंततोगत्वा ग्राम्य व नगरीय क्षेत्रों के मध्य आय–विषमता घटेगी।

(ई) **राजनीति**– अन्याय, युद्ध, नागरिक–हिंसा एवं पारस्परिक संघर्ष कुछ ऐसे राजनैतिक कारक हैं जो विश्व के लाखों लोगों को अपने स्थानीय निवास से दूर खदेड़ देते हैं। विश्व के कई भागों में प्रवास का सबसे महत्वपूर्ण राजनैतिक कारण नागरिक–हिंसा है।

प्रवास के सामाजिक व जनसांख्यिकीय प्रभाव

सामाजिक एवं जनसंख्यात्मक अध्ययनों में प्रवास का अध्ययन अति महत्वपूर्ण होता है। कुछ प्रकरणों में प्रवास विकास का प्राथमिक चरण हो सकता है तथा इसका संबंध नगरीकरण व औद्योगिकीकरण से हो सकता है। यह समाज, पर्यावरण एवं आसपास के लोगों को अत्यधिक प्रभावित करता है। स्थानीय व आगत जनसंख्या के आकार व आचरण के अनुसार यह प्रभाव अधिक अथवा अल्प महत्वपूर्ण हो सकता है।

प्रवास से सामाजिक–सांस्कृतिक प्रारूपों व प्रक्रियाओं पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी स्थान पी जाता है तो वह अपनी संस्कृति व अपने लक्षणों का वाहक होता है एवं नवीन स्थान व परिवेश में अपने विचारों व प्रवृत्तियों का प्रसार करता है तथा वहां के कुछ विचारों को स्वयं भी अपनाता है। इससे पारस्परिक मानसिक साझेदारी से ये प्रवासी इस समाज में परिवर्तन की बयार पर सवार संवाहक बन जाते हैं।

प्रवास से पर्यावरणीय व जनसंख्या के प्रारूपों में भी परिवर्तन आ जाते हैं जो कि अस्थायी अथवा स्थायी हो सकते हैं। प्रवास का एक लाभ बहुसंस्कृति है– एक स्थान पर अनेक संस्कृतियों का संगम। प्रवास के कारण एक स्थान पर एकजुट विभिन्न परंपराओं व संस्कृतियों के लोगों के पारस्परिक मेलजोल से एक नवीन प्रकार की संस्कृति का सृजन हो सकता है।

वैसे प्रवास के कारण समाज नकारात्मक रूप में भी प्रभावित हो सकता है। उदाहरणार्थ सामाजिक विलगन, अपराध एवं असामाजिक व्यवहार, व्यसन व मनो–उन्माद।

प्रवास के संचयी प्रभाव (ऐसे प्रभाव तो आरंभ में धीमे होते हैं किंतु बाद में प्रबल रूप लेने लगते हैं) देश व स्थान की जनसांख्यिकी को रूपांतरित कर सकते हैं।

टिप्पणी

जनसंख्या के आकार, लिंग व आयु संघटन में इसके प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से पड़ते हैं। प्रवास के माध्यम से अधिकांश विकसित देशों की जनसंख्या में तीव्र वृद्धि हुई है।

वैश्वीकरण के वर्तमान समय में यहां–वहां लोगों की आवाजाही बहुत बढ़ चुकी है। बहुत सारे लोग अपने गृहक्षेत्र से दूर रह रहे हैं।

प्रवास के कारण विश्व के कई भागों में जन्मदरें बढ़ी हैं। प्रवास के विभिन्न रूपों (अंतर्राष्ट्रीय श्रम–प्रवास, शरणार्थी प्रवास इत्यादि) के कारण ऐसे देशों की कुल जन्मदर बढ़ जाती है जहां अब तक निम्न जन्मदर थी (मूलज जनसंख्या में)। आयुवर्ग के संदर्भ में युवाओं द्वारा अधिक प्रवास किया जाता है। शिक्षा एवं जीविका के लिए बहुत सारे किशोर अपने घरों से दूर अन्यत्र स्थानों पर चले जाते हैं। ऐसे स्थानों (उदाहरणार्थ राजधानियों) में युवाओं की संख्या अधिक होने से भी जनसंख्या–वृद्धि अधिक होती है क्योंकि ये भविष्य में विवाहित होकर जनसंख्या का प्रसार करने लगते हैं। यदा–कदा प्रवास की दर 55 से 64 वर्षायु में भी बढ़ी हुई देखी गयी है जो सेवानिवृत्ति के उपरांत शांति की प्यास लिए कहीं दूर जाने को इच्छुक रहते हैं। ऐसे स्थानों (उदाहरणार्थ तीर्थस्थलों) की जनसंख्या में वयोवृद्ध जनों की प्रधानता रहती है।

जिस स्थान से युवा प्रवास कर आए हैं वहां वृद्ध जनसंख्या बची रह जाती है। परिणामस्वरूप विवाह के लिए युवकों की संख्या मिसट जाती है जिससे उस स्थान की उन्नति की संभावना भी क्षीण हो जाती है।

प्रवास की दर आयु बढ़ने के सापेक्ष बढ़ती जाती है। शरीर जर्जर हो जाने अथवा जीवनसाथी के मृत हो जाने से विधुर/विधवा द्वारा शेष जीवन अतीत की स्मृतियों से दूर गुज़ारने के लिए स्थान बदल दिया जाता है। इस श्रेणी के लोग या तो अपने नाती–पोतों के पास चले जाते हैं अथवा वृद्धाश्रम भेज दिए जाते हैं।

प्रवास की दर लिंग से अत्यधिक प्रभावित होती है। जिन अंचलों में कामगार स्त्रियों की संख्या पुरुषों की संख्या के लगभग समकक्ष है वहां शिक्षा व जीविका के लिए स्त्रियां भी पुरुषों के समान स्तर पर प्रवास करती हैं। भारत में प्रायः पुरुष की अधिक प्रवास करते हैं, स्त्रियां प्रायः विवाहोपरांत ही दूर जाती हैं। स्त्रियां जब शिक्षा अथवा रोज़गार के लिए प्रवास को जाती हैं तो इस परिदृश्य को नारी–सशक्तिकरण के उदाहरण के रूप में देखा जाता है व समाज का समग्र ढांचा परिवर्तित होने लगता है।

प्रतिभा–पलायन एवं आगमन

प्रवास एक बहु–आयामी परिघटना है। इसमें एक ओर के कुशल कर्मचारी आकर बस जाते हैं एवं दूसरी ओर कुशल अथवा प्रशिक्षित ऐसे कर्मचरियों की कमी पड़ जाती है। इस प्रकार प्रवास जहां से किया जाता है वहां उसे प्रतिभा–पलायन कहते हैं एवं जिस ओर प्रवास किया वहां इसी प्रवास को प्रतिभा–आगमन कहा जाता है।

उपरोक्त दोनों घटनाएं एकसाथ होती हैं परंतु भिन्न–भिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में। इसके सामाजिक, पर्यावरणीय, राजनैतिक व आर्थिक कारण एवं प्रभाव होते हैं। प्रायः प्रतिभा–पलायन (प्रेषक) क्षेत्र में निम्नांकित लक्षण दिखने लगते हैं–

टिप्पणी

- अवसरों में कमी
- राजनैतिक अस्थिरता
- आर्थिक मंदी
- स्वास्थ्यगत जोख़िम

इसके विपरीत प्रतिभा–आगमन (ग्राही) क्षेत्रों में निम्नांकित लक्षण देखे जाते हैं–

- अवसर–वृद्धि
- उत्तम राजनैतिक प्रणाली
- विकसित अर्थव्सवस्था
- उत्तम जीवन–मापदंड

प्रतिभा–पलायन से अधिकांशतः विकासशील एवं अविकसित देश प्रभावित हो रहे हैं। प्रतिभा–आगमन विकसित देशों अथवा तुलनात्मक रूप से विकसित क्षेत्रों की ओर हो रहा है। विकासशील क्षेत्रों से अधिकांश व्यक्ति दक्ष अथवा कुशल होते हैं जिनके चले जाने से प्रतिभा–पलायन क्षेत्र कौशल की कमी से जूझने लगता है (जबकि विकास के लिए यह पहले से ही आवश्यक है) एवं आर्थिक मंदी की ओर बढ़ने लगता है। इस प्रकार विकसित क्षेत्रों को प्रतिभा–आगमन से लाभ जबकि विकासशील क्षेत्रों को प्रतिभा–पलायन से हानि होती है।

भारत में कम्प्यूटर में कार्य–कुशल कर्मचारी, शारीरिक श्रम में दक्ष श्रमिक, प्रौद्योगिकी–प्रयोगक्षम व्यक्तियों ग्रामों से पलायन करने नगरों में जाकर वहीं बस जाते हैं अथवा अधिकांश समय नगरों में गुज़ारते हैं। प्रतिभा–पलायन के दौरान व्यक्ति यदि परदेश बस गए हों परंतु बाद के वर्षों में गृहराष्ट्र विकसित की श्रेणी में आ गया हो अथवा विकसित कहलाने के निकट हो तो पलायन कर चुकीं प्रतिभाएं वापस लौट आती हैं। चीन एवं दक्षिण कोरिया में शासन द्वारा ऐसी प्रतिभाओं को वापस बुलाने के लिए घरेलू व व्यावसायिक नीतियों में परिवर्तन किये गए हैं। चीन में स्थानीय शासन वापस लौटने वाली प्रतिभाओं को बड़े लाभांश(बोनस) पारितोषक के रूप में प्रदान कर रहे हैं। वैसे गृहक्षेत्र, गृहराष्ट्र व गृहराज्य से अत्यधिक लगाव वाले भारतीय व्यक्ति वापस लौटने को आतुर रहते हैं ताकि अपने स्वयं के घर में सुख से रह सकें।

2.3.6 जनसंख्या वृद्धि एवं अन्य राष्ट्रों के बीच अंतर

जनसंख्या विकास की संसूचिका नहीं है परंतु जब इसे खाद्य, वस्त्र, आवास से जोड़कर देखा जाता है तो इसे विकास की संसूचिका माना जाता है। आधुनिक विश्व की जनसंख्या का प्रथम प्रामाणिक विवरण सत्रहवीं शताब्दी व बाद से उपलब्ध है। वैसे इससे पूर्व के कालक्रम के भी विवरण उपलब्ध हैं किंतु विभिन्न स्रोतों के आंकड़ों में भेद हैं। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में विश्व–जनसंख्या 500–550 मिलियन्स होने का अनुमान था। इसाई धर्म के आरंभ से यह जनसंख्या 2–3 गुनी अधिक है। इस अवधि के दौरान वृद्धि–दर बहुत कम रही।

टिप्पणी

***सारणी** : भारत में जनसंख्या की दशवार्षिक वृद्धि*

जनगणना–वर्ष	जनसंख्या	अधिकतम प्रगतिशील विकास दर (प्रतिशत)
1901	238,396,327	—
1911	252,093,390	5.75
1921	251,321,213	5.42
1931	278,977,238	17.02
1941	318,660,580	33.67
1951	361,088,090	51.47
1961	439,234,771	84.25
1971	548,159,652	129.94
1981	683,329,097	186.64
1991	843,387,888	255.03
2001	1,027,015,247	330.80

स्रोतः अग्रवालः जनसंख्या–शिक्षा; क्षिप्रा प्रकाशन 2002

***सारणी** : विश्व–परिदृश्य में भारत की जनसंख्या व मानव विकास एवं प्रगति*

मानव विकास एवं प्रगति के संसूचक :	भारत	अन्य देश	भारत की स्थिति संसूचक
1. जनसंख्या (1999)	998056000	1266838000	2
2. प्रतिव्यक्ति GNP US$ (1999)	450	लक्जमबर्ग : 44640(1) स्विटजरलैंड : 38350 (2)	40/173
3. 5 वर्ष के अंदर मृत्यु दर (1999) (प्रति 1000 जन्म)	98 (4 each)	जापान, नार्वे, सिंगापुर स्विडन एवं स्विटजरलैंड	89/187
4. जीवन–प्रत्याशा (1999)	63	जापान (80) स्विटजरलैंड, स्विडन (79)	114/165
5. वयस्क साक्षरता–दर (1990-95)	58%	90 प्रतिशत साक्षरता वाले 80 देशों के साथ	140/160
6. प्राथमिक स्कूल की 5वीं कक्षा तक पहुंचने वाले नवागंतुकों का प्रतिशत	52% 5 (1995-99)		
7. जनसंख्या वार्षिक वृद्धि–दर (1990-1999)	1.8%	रूसी संघ 1 (-0.1) यूनाइटेड किंगडम 2 (0.2%) जापान 3 (0.3%) जर्मनी 4 (0.4%) यूएसए 5 (0.9%) चीन 6 (1.0%) ब्राजील 7 (1.4%) इंडोनेशिया 8 (1.5%) बांग्लादेश 9 (1.6%) पाकिस्तान 10 (2.7%)	98/184

स्रोतः अग्रवालः जनसंख्या–शिक्षा; क्षिप्रा प्रकाशन 2002.

टिप्पणी

वैसे सत्रहवीं शताब्दी से विश्वजनसंख्या की वृद्धि में अत्यधिक परिवर्तन देखे गए। अधिकांश देशों (यूरोप व अमेरिका के देशों सहित) में इस अवधि में जनगणना के कार्य आरंभ कर दिये गए। सन् 1900 के बाद जनसंख्या की वृद्धि चेतावनी के स्तर पर आ पहुंची। सन् 1880 तक यूरोप व अमेरिका में वृद्धि दर 44 प्रतिशत बढ़ी रही जबकि एशिया में वृद्धि दर 0.45 से 0.57 के मध्य रही। कार्र–सौंडर्स के अनुसार अफ़्रीका की जनसंख्या इस अवधि में घटी। 1900 के उपरांत तो जनसंख्या की वृद्धि के कई प्रारूप बन गए। 1940 के दशक तक भारतीय जनसंख्या की वृद्धि पर्यावरणीय स्थितियों व अन्य प्राकृतिक आपदाओं के कारण कम रही परंतु अंग्रेज़ों से स्वतंत्र हो जाने पर विज्ञान व प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में किए गए विकास से भारतीय जनसंख्या में विस्फोट हो गया।

अपनी प्रगति जांचिए

3. 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 102 करोड़ थी। इस समय चीन की जनसंख्या कितनी थी?

(क) 128 करोड़ (ख) 125 करोड़

(ग) 121 करोड़ (घ) 124 करोड़

4. भारत में जनगणना का आरंभिक वर्ष किसे कहा जाता है?

(क) 1885 को (ख) 1881 को

(ग) 1861 को (घ) 1971 को

2.4 जनसंख्या विस्फोट : पर्यावरण, परिवार कल्याण कार्यक्रम एवं मानव स्वास्थ्य

जनसंख्या विस्फोट का हमारे वैश्विक एवं क्षेत्रीय पर्यावरण पर विनाशकारी प्रभाव पड़ता है, खास कर हमारे प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता एवं स्वास्थ्य पर इसके दूरगामी प्रभाव हम देख रहे हैं। आइये इस पर विस्तार से चर्चा की जाये।

2.4.1 जनसंख्या विस्फोट और पर्यावरण

मानवों की संख्या निरंतर बढ़ायी जा रही है। वैश्विक अनुमानानुसार प्रतिसेकंड 2.6 व्यक्ति पृथ्वी पर जन्म ले रहे हैं। इस प्रकार समझें तो ज्ञात होगा कि यदि आपको यह पाठ पढ़ने में पांच मिनट्स लगे तो इस समयावधि के दौरान 700 बच्चे जन्म ले चुके होंगे। इतनी अधिक वृद्धि–दर पर जनसंख्या पहले कभी नहीं बढ़ी। 10000 वर्ष पूर्व कृषि के आरंभ से पहले ऐसा आकलन है कि विश्व में 1 करोड़ से भी कम लोग रहे होंगे। कृषि के आरंभ से 1900 के दशक तक जनसंख्या में धीमी वृद्धि हुई परंतु फिर जनसंख्या–विस्फोट हुआ। प्रौद्योगिकी व चिकित्सा–उन्नतियों में वृद्धि से मानव–जनसंख्या 1960 के दशक में तीन अरब हो गयी। तब से अब तक जनसंख्या दोगुनी से भी अधिक होकर और तीव्रता से बढ़ायी जा रही है।

संसाधन–उपभोग पर प्रभाव

बढ़ती जनसंख्या से नैसर्गिक संसाधनों पर कैसे–कैसे प्रभाव पड़ते होंगे। क्या इस विशाल जनसंख्या को पृथ्वी अधिक समय तक पाल पायेगी?

टिप्पणी

मानवसंख्या में इस वृद्धि के कारण नैसर्गिक संसाधनों पर दबाव बढ़ता जा रहा है जो पहले से ही विलुप्ति की कगार पर हैं। नैसर्गिक संसाधनों के अंतर्गत ऐसे भांति–भांति के पदार्थ व ऊर्जा संसाधन सम्मिलित हैं जो हम पर्यावरण से ग्रहण कर उपयोग करते हैं। ये अक्षय व अनवीकरणीय श्रेणी के हो सकते हैं।

अक्षय नैसर्गिक संसाधन ऐसे पदार्थों को कहा जाता है जिनकी पुनर्पूर्ति समय के सापेक्ष होती रहती है, जैसे सूर्यप्रकाश, वायु, मृदा व जल। अनवीकरणीय नैसर्गिक संसाधनों में ऐसे संसाधन सम्मिलित हैं जिनकी आपूर्ति सीमित है, यथा– खनिज, धातु, कच्चा तैल, प्राकृतिक गैस एवं कोयला।

उत्खनन में निकाले जाने वाले कुछ अनवीकरणीय धातुएं हैं: लौह, एल्युमीनियम, ताम्र (कॉपर), क्रॉमियम एवं निकॅल। लौह सर्वाधिक मात्रा में प्रयोग किया जाने वाला खनिज है। निकॅल को सर्वाल्प मात्रा वाले खनिजों में गिना जाता है। यद्यपि अनवीकरणीय धातुओं की प्रयोगमात्रा इनके प्रकार पर भी निर्भर है। अधिकांश धातुओं का प्रयोग यूनाइटेड स्टेट्स, जापान एवं यूरोप में किया जाता है।

जनसंख्या बढ़ती जाने से नैसर्गिक संसाधनों की खपत अत्यधिक बढ़ती जा रही है एवं दोहन अब शोषण की श्रेणी में आ गया है। वनों का अतिदोहन करने के कारण स्थलमंडल का वनावरण सिमटकर शून्य की ओर तीव्रता से बढ़ रहा है। नदियां भी अब स्वयं को स्वच्छ नहीं रख पातीं क्योंकि जनसंख्या का भार नदियों की नैसर्गिक निर्मलीकरण क्षमता से अधिक हो गया है।

इकोलॉजिकल फूटप्रिण्ट

जब जनसंख्या एवं नैसर्गिक संसाधनों पर इसके प्रभावों का आकलन किया जाता है तो 'इकोलॉजिकल फूटप्रिण्ट' शब्द–समूह का प्रयोग किया जाता है। इकोलॉजिकल फूटप्रिण्ट भूमि की उस मात्रा का आकलन है जो एक व्यक्ति के जीवन में आवश्यक संसाधनों की आपूर्ति हेतु आवश्यक है। इकोलॉजिकल फूटप्रिण्ट में वे सभी सामग्रियां/संसाधन/सेवाएं सम्मिलित हैं जो एक व्यक्ति के लिए अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक हैं; यथा– आवास, खाद्य, ऊर्जा एवं अपशिष्ट–निपटान के लिए भूखंड।

विघटन के कारण एवं प्रदूषण

यदि नैसर्गिक संकटों को परे रखकर विचार किया जाये तो भू–विघटन के कारणों को प्रत्यक्ष व निहित कारणों में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रत्यक्ष कारणों के उदाहरण हैं: अनुचित भू–उपयोग एवं अनुपयुक्त भू–प्रबंधन पद्धतियां (जैसे कि ढालू भूमि पर विशेष मृदा–संरक्षण युक्तियां अपनाये बिना ही खेती करने लग जाना)। निहित कारणों के उदाहरण की श्रेणी में प्रत्यक्ष कारणों में अंतर्निहित कारण सम्मिलित हैं, जैसे– ये अनुपयुक्त पद्धतियां क्यों अपनायीं गयीं? ढालू पर खेती की गयी क्योंकि भूमिहीन निर्धन को भी भोजन हेतु अन्न आवश्यक है एवं पर्याप्त संरक्षण–उपाय नहीं अपनाये गए क्योंकि किसानों में जागृति व शासन द्वारा व्यवस्था की उपलब्धता सुगम नहीं।

GLASOD आकलन में प्रत्येक मानचित्र इकाई के लिए भू–विघटन के प्रत्यक्ष कारणों का पता लगाया गया है एवं निम्नांकित चार कारणों की पहचान की गयी है–

- निर्वनीकरण एवं नैसर्गिक वृक्षावरण को हटाया–घटाया जाना

टिप्पणी

- घरेलू उपयोग के लिए वन–संपदा का अतिदोहन
- अतिचारण (पालतू पशुओं को वनभूमि तक चराना जिससे पहले से सीमित वनावरण और घटता चला जाता है)
- कृषिगत गतिविधियां

निर्वनीकरण विघटन का कारण है। जब किसी क्षेत्र (विशेषतया ढालू भूमि, अपरदन–उन्मुख भूमि) का वनावरण घटा दिया जाता है तो भूमि विघटन की दिशा में बढ़ जाती है।

जनसंख्यात्मक गतिकी एवं अन्य कारकों के कारण निर्वनीकरण अत्यधिक किया गया है। अधिक चारागाह एवं खेत के लिए वनों का नाश तीव्रता से किया गया। भारतीय रेल ने तो वन–नाश में अग्रणी कारकों में प्रमुख भूमिका निभायी है। विघटन का एक प्रमुख कारण वनोपज संग्रहण भी है जिससे विलुप्तप्राय प्रजातियों में जीवंसख्या और घट जाती है।

वनदोहन वास्तव में वन–शोषण हो चला है। मरुस्थलीकरण की गति बढ़ गयी है। शुष्क काष्ठ की उपलब्धता कम हो जाने से लोग हरे वृक्षों को काटने लगते हैं (वैसे शुष्क वृक्षों का भी अपना महत्व होता है, अनेक प्रजातियों के पक्षी शुष्क वृक्षों की सर्वोपरि शाखाओं पर ही अपनी कोटर बनाते हैं)।

अतिचारण में पशुधन द्वारा चारागाहों पर एकसाथ एवं/अथवा बार–बार इतनी अधिक चरायी करा दी जाती है कि वह शाक (हर्ब्स) व क्षुप (झाड़ियों) की प्राकृतिक पुनरुद्भवन क्षमता से अधिक हो जाती है। इस प्रकार हरित आवरण घटता जाता है एवं नवीन बीजांकुरों के पनपने की संभावना सिमट जाती है। इस प्रकार भूमि वायु व जल द्वारा अपरदन से ग्रसित होने लगती है। विश्व में कुल विघटन में इसका प्रतिशत 35 माना गया है। इसके प्रभाव केन्या इत्यादि में स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

कृषिगत गतिविधियों के कारण भूमि का विघटन होता है। खेतों से बार–बार अथवा/एवं अत्यधिक फसलें लेने से मृदा की नैसर्गिक उर्वरता घटती जाती है तथा बार–बार जुताई व कृत्रिम साधनों द्वारा सिंचन से मृदा–अपरदन तीव्र होने लगता है। पर्याप्त मृदा–संरक्षण विधियां न अपनाने, संवेदनशील क्षेत्रों में खेती करने एवं रासायनिक खेती करने से मृदा कुप्रबंधन का ग्रास बन जाती है। वैश्विक स्तर पर कुल भू–विघटन का 28 प्रतिशत भाग इसी की देन है।

भू–विघटन प्रक्रियाओं में जनसंख्यात्मक कारकों की भूमिका निहित कारकों में गिनी जाती है। बढ़ती जनसंख्या के कारण कृषि–क्षेत्र एवं आवासीय क्षेत्र का विस्तार किए जाने से वनावरण को क्षीण किए जाने का क्रम जारी रखा जाता है तथा अधिक जनसंख्या को बसाने के लिए ढालू भूखंडों एवं संवेदनशील भू–आकृतियों व पारितंत्रों में भी मानव–बसाहट कर ली जाती है जिससे विघटन की गति में तीव्रता आती है एवं विघटन निरंतर विस्तारित होता चला जाता है।

अनियंत्रित विकास एवं पर्यावरणीय चुनौतियां

जनसंख्या–वृद्धि एवं आर्थिक विकास ने मुख्यतः एशिया में गंभीर पर्यावरणीय संकटों को जन्म दिया है। भूमि पर दबाव बढ़ा है, नैसर्गिक पर्यावासों का नाश और तीव्रता से किया जाने लगा है। जैव–वैविध्य को पहुंचायी जा रही क्षतियां अपूरणीय स्तर पर आ

चुकी हैं। जल की कमी व प्रदूषित वायु, जल, वैश्विक तापोन्नयन एवं जलवायु–परिवर्तन से समूचा विश्व जूझ रहा है।

टिप्पणी

भूमि पर दबाव– एशिया को विश्व में सर्वाधिक दबाव झेलने वाली भूमि में गिना जाता है। विगत तीन दशकों में एशिया की कुल जनसंख्या 68 प्रतिशत बढ़ी है। खेती का क्षेत्र भी 21 प्रतिशत बढ़ा लिया गया है (355 से 430 मिलियन्स हेक्टेयर्स)। कृषिक्षेत्र में इतना अधिक विस्तार किए जाने के बाद भी जनसंख्या को खाद्यान्न की आपूर्ति पर्याप्त नहीं है। यह विस्तार मुख्यतः मैदानी व निचले क्षेत्रों के वनों को उजाड़ कर किया गया।

वर्तमान में कृषि–क्षेत्र के और अधिक विस्तार की संभावनाएं कम बची हैं क्योंकि कृषि योग्य लगभग पूरी भूमि पर पहले से ही खेती की जाने लगी है।

खेती के अंतर्गत अधिक क्षेत्रफल मिला लिये जाने के बावजूद एशिया में प्रतिव्यक्ति के भरण के लिए कम भूमि ही उपलब्ध है (0.16 हेक्टेयर प्रतिव्यक्ति) जबकि संपूर्ण विश्व में यह औसत उपलब्धता 0.26 हेक्टेयर प्रतिव्यक्ति है (विश्व संसाधन संस्थान 2001)।

एशिया की बढ़ती जनसंख्या परंतु भू–संसाधन में कमी आती जाने से भू–उपयोग में अति की जा रही है। सीमित क्षेत्र में अत्यधिक फसलें लेने एवं आवास–निर्माण के समय वृक्षारोपण के लिए स्थान न छोड़ने जैसे प्रचलन हैं। मत्स्याखेट को अनेक स्थानों पर वैधानिक रूप से भी प्रतिबन्धित कर दिया गया है। तथापि विभिन्न क्षेत्रों में मछलियों व जलीय जंतुओं को बड़े पैमाने पर पकड़ा जाना अब भी जारी है। सतह पर उपलब्ध जल अपर्याप्त हो जाने से भूजल का दोहन करते–करते शोषण (अतिदोहन) किया जाने लगा है जिससे भूजल प्रतिवर्ष और नीचे पहुंचता जा रहा है, अर्थात् भूजल की भी कमी हो चली है। रसायनों के प्रयोग व अन्य प्रकार की अनुपयुक्त कृषि–पद्धतियों के कारण कृषिभूमि की उर्वरता का स्तर गिरता जा रहा है। कृषिभूमि को अनुर्वर (बंजर) बनाकर किसान अन्य स्थानों की ओर पलायन कर रहे हैं।

विगत चार दशकों में कृषि–आदानों के रूप में उच्च उपज देने वाली संकरित प्रजातियों का चयन किया जाने लगा जिससे सीमित भूमि पर अधिक उत्पादन किया जा सके परंतु विशेषज्ञों का कहना है कि इस प्रकार की उत्पादकता वहनीय नहीं होगी। मांसाहार के लिए भी अधिक पशुओं की हत्या की जा रही है क्योंकि परिवारों की संख्या निरंतर बढ़ायी जा रही है तथा भूमि सीमित हो जाने मांस प्राप्ति के लिए पशुओं को पाला जाने लगा है।

एशिया में ऐसा आकलन है कि एक–तिहाई खेतों को अवहनीय कृषि–पद्धतियों के कारण पहले ही क्षतिग्रस्त किया जा चुका है।

पर्यावास नाश एवं जैव–वैविध्य क्षतिः पृथ्वी की जैव–विविधता का अनुरक्षण, संरक्षण एवं संवर्द्धन सभी के लिए नितांत आवश्यक एवं सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य है। वन्य जीवों व वानस्पतिक प्रजातियों के लोपन का मुख्य कारण उन्हें प्रत्यक्षतः हानि पहुंचाना नहीं वरन् उनके प्राकृतिक पर्यावासों को नष्ट किया जाना है। एशिया को वैविध्यपूर्ण पारितंत्रों वाली धरती माना जाता है। पृथ्वी–ग्रह की दो–तिहाई से अधिक जैविक संपदा 17 देशों में विद्यमान् है जिनमें से पांच देश चीन, भारत, इंडोनेशिया, मलेशिया एवं फ़िलीपीन्स हैं। ये पांचों एशिया में हैं।

टिप्पणी

इंडोनेशिया में तो 30000 से अधिक पादप–प्रजातियां हैं। एशिया में मानव–बसाहट, औद्योगिक व यातायात कार्यकलापों इत्यादि मानव–जनित गतिविधियों के कारण 70 से 90 प्रतिशत जैविक संसाधन समाप्त हो चुके हैं।

कृषि के आधुनिकीकरण से मूल्यवान् स्थानीय फसलों के अस्तित्व पर संकट मंडरा रहा है। इंडोनेशिया में विगत 2–3 दशकों के दौरान चावल की लगभग डेढ़ हज़ार स्थानीय किस्में मुख्य परिदृश्य में गायब हो गयीं क्योंकि किसान अधिक उत्पादन वाली 1–2 फसलों को ही उगा रहे हैं। पर्यावास–नाश एवं प्रदूषण के कारण लवणमुक्त जलस्रोत, समुद्री मत्स्य एवं प्रवाल–भित्तियां भी अभूतपूर्व रूप से संकटग्रस्त हो चुकी हैं।

2.4.2 जीवन की गुणवत्ता एवं मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव

UN प्राक्कलनों के अनुसार जनसंख्या में वृद्धि निम्नानुसार हो रही है–

वर्ष	अनुमानित जनसंख्या	वृद्धि
1995	924 मिलियन	308 मिलियन 20 वर्ष
2000	1007 मिलियन	78 मिलियन 5 वर्ष
2025	1330 मिलियन	323 मिलियन 25 वर्ष
2050	1533 मिलियन	203 मिलियन 25 वर्ष

हमारे देश की आर्थिक प्रगति हमारी अपेक्षाओं से बहुत पीछे है। आर्थिक नियोजन के बावजूद बढ़ रही जनसंख्या के कारण प्रगति दिखती नहीं है। लगभग समस्त विकासशील देश अतीव जनसंख्या की मानव–जनित परिस्थिति से जूझ रहे हैं। जनसंख्या–वृद्धि एवं संसाधन–सृजन में कोई सहसंबंध नहीं है। निम्नांकित पांच कारकों को साथ जोड़कर देखे जाने की आवश्यकता है ताकि जनसंख्या–स्थिरता को प्राप्त किया जा सके–

- स्थानीय वहन–क्षमता को उस वांछनीय स्तर तक बढ़ाना जो वहनीय हो;
- नैसर्गिक संसाधन–उपयोग का उपयुक्त संगम;
- प्रदूषकों व अन्य प्रभावों पर अंकुश लगाना;
- चिकित्सात्मक देखभाल की व्यवस्था;
- आर्थिक विकास जिससे रोज़गार के अवसर बढ़ें व जीवन–गुणवत्ता निखरे।

भारत में पूंजी की आपूर्ति कम है। पूंजी प्रायः लोगों द्वारा बचत किए जाने से तैयार होती है। खपत व खर्चों में वृद्धि से राष्ट्रीय एवं आंचलिक स्तरों पर की जाने वाली बचतों में कमी आयी है। बढ़ती जनसंख्या से अनुत्पादक उपभोक्ता रूपी बोझ बढ़ा है। अनुत्पादक उपभोक्ता ऐसे व्यक्ति होते हैं जो उत्पादन कुछ नहीं करते, मात्र उपभोग करते हैं। साधारणतया शिशु, बच्चे एवं वृद्ध को अनुत्पादक उपभोक्ताओं की श्रेणी में रखा जाता है। भारत में तो अनुत्पादक उपभोक्ता भांति–भांति के हैं, यथा– बेरोजगार, अल्पबेरोजगार एवं वर्ष के कुछ माह कमाई करने वाले रोजगारी लोग। बढ़ रही जनसंख्या से प्रतिव्यक्ति आय भी प्रभावित होती है जिससे जीवन की गुणवत्ता घटती जाती है।

तथाकथित हरित क्रांति के बाद श्वेत क्रांति, नील क्रांति इत्यादि के दौरान व में बाद भी भारत अतीव जनसंख्या के कारण (वैसे अन्य कारण भी हैं) खाद्य इत्यादि वस्तुएं आयात् करता चला आ रहा है।

टिप्पणी

भारत में जनसंख्या–वृद्धि एवं सामाजिक आर्थिक विकास

जनसंख्या की माल्थूसियन धारणा में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जनसंख्या एवं देश की आर्थिक उन्नति में संबंध होता है। माल्थस ने चेताया था कि सभी देशों की जनसंख्या–वृद्धि एवं आर्थिक उन्नति समान दर पर नहीं होती, न ही मात्रा व गुणवत्ता में किसी समानता की अपेक्षा की जा सकती है। यह धारणा भारत सहित अन्य देशों में भी चरितार्थ हुई।

प्राचीन काल में भारत की अर्थव्यवस्था सर्वथा संपन्न हुआ करती थी। आचार्य चाणक्य के कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसका उल्लेख है। मुगलकाल एवं ब्रिटिश उपनिवेश के समय पतन होता गया, अब जिसे हम भारत कहते हैं वह उलझी अर्थव्यवस्था में फंसा एक भूखंडमात्र है। राजनैतिक लाभ उठाने के लोभ में राष्ट्रीय विभाजन व आंतरिक विभाजन को एक प्रथा बना लिया गया जिससे आर्थिक स्थिति और विकृत होती चली गयी। आर्थिक व्यवस्था व जनसंख्यात्मक ढांचे के कुमेल से देश कुप्रभावित होता चला गया। बहुत देर बाद राजनेताओं ने अर्थव्यवस्था व जनसंख्या में संतुलन साधने की दिशा में प्रयास आरंभ किए। इतने अधिक वैविध्यपूर्ण राष्ट्र में ऐसे प्रयासों में मिली गौण (माइनर) सफलता भी जनसंख्या–विस्फोट के परिदृश्य में ओझल हो गयी। सर्वस्पष्ट होने लगा कि बढ़ती जनसंख्या को थामना व अर्थव्यवस्था को संभालना दुष्कर है तथा फिर भी ये दोनों कार्य एकसाथ करने होंगे, अन्यथा किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिलने वाली।

धीरे–धीरे समझ में आने लगा कि जनसंख्या एवं अर्थव्यवस्था में सहसंबंध है। 1951–56 की आरंभिक पंचवर्षीय योजना से ही अर्थव्यवस्था एवं जनसंख्या दोनों पर ज़ोर दिया जाने लगा। प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं ने देश की अर्थव्यवस्था को स्थिरता प्रदान की। इन योजनाओं में जनसंख्या के नियंत्रण की अनेक विधि–पद्धतियां सामने आयीं। तृतीय पंचवर्षीय योजना में आर्थिक नीति को वार्षिक योजनाओं में विभाजित करते हुए निर्धारित किया गया। बाद की योजनाओं में भी जनसंख्या की अभूतपूर्व वृद्धि के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था दुविधाग्रस्त रही।

अर्थव्यवस्था और जनसंख्या में संबंध

अर्थव्यवस्था में समन्वय के अभाव से समस्याएं और बढ़ती चली गयीं। अर्थव्यवस्था एवं जनसंख्या में निम्नांकित प्रकारों से सहसंबंध प्रमुख माने जाते हैं–

- बचत प्रभाव
- निवेश प्रभाव का संघटन।

बचत प्रभाव का तात्पर्य है कि जनसंख्या–वृद्धि के कारण बचत घटती जाती है क्योंकि 'निर्भरता का बोझ' बढ़ता चला जाता है। उच्च उर्वरता दर, निम्न मृत्युदर (विशेषतया शिशुओं व वृद्धों में) के कारण जनसंख्या इतनी तीव्रता से बढ़ी कि बचत की प्रवृत्ति ही घट गयी। उत्पादकता बढ़ा भी ली जाये तो भी बचत नहीं बढ़ती क्योंकि प्रति

टिप्पणी

श्रमिक एवं प्रति परिवार बढ़ रहे आश्रितों के कारण श्रमिकों की आवश्यकताएं भी बढ़ती चली जाती हैं।

सन् 1958 में कॉएलॅ एवं हूवर ने जनसंख्या व आर्थिक विकास पर इसके प्रभाव विषयक पुस्तक लिखी। इनके अध्ययन में भारत केंद्र में रहा। इनके गणितीय प्रतिरूप में दो प्रकार की वृद्धियां सामने आयीं: पंद्रह वर्ष की अवधि में वृद्धि एवं दीर्घकालिक वृद्धि। वृद्धि के दोनों प्रकार उर्वरता पर आधारित थे। उदाहरण हेतु सन् 1951 एवं सन् 1971 की जनगणनाओं के मध्य आश्रित जनसंख्या 5.9 प्रतिशत तक बढ़ी। वहीं दूसरी ओर भारत ने औद्योगिक विकास उतनी गति से नहीं किया। यह सब हुआ उद्योग व भारतीय अर्थव्यवस्था के ढांचागत असंतुलन के कारण। बहुत सारा निवेश तो भारी उद्योगों में कर दिया गया जबकि मध्यम आकार के व लघु उद्योगों में पर्याप्त निवेश नहीं किया गया। इस प्रकार ग्राम्य क्षेत्रों में कृषि ने प्रमुख जीविका–उत्पादक आयस्रोत की भूमिका त्याग दी एवं नगरीय क्षेत्रों में धीमी औद्योगिक उन्नति ने भारतीय अर्थव्यवस्था को वांछित स्तर पर वृद्धि करने से रोके रखा।

एक और कारक यह माना जाता रहा कि देश की फोरन एक्स्चेन्ज नीति अधिक कठोर थी। अधिकांश आयातकों को अनुज्ञप्ति (लायसेन्स) प्राप्त करना होता था जिसे प्राप्त करना अत्यधिक कठिन हुआ करता था। इसी कारण निर्माताओं ने अपने उत्पाद विक्रय करने के लिए, लाभ की लालसा में अन्य दिशाओं में गमन कर दिया। उपरोक्त समस्याओं के अतिरिक्त अर्थव्यवस्था में समन्वय के अभाव से भी अनेक समस्याएं पनपीं, जैसे कि बिजली कटौती, वर्षा पर आश्रित अर्थव्यवस्था, विश्वास न किए जाने योग्य परिवहन एवं विशेषज्ञों की कमी। हमारी औद्योगिक विफलताओं में निम्नांकित पांच कारक प्रमुख माने जाते हैं, जिनसे आर्थिक समस्याएं उपजीं–

- मांग कम होना
- फॉरन एक्सचेन्ज में कमी
- विद्युत
- परिवहन
- विशेषज्ञीय अभाव।

आर्थिक समस्याओं के कारण श्रम–समस्याएं भी बढ़ीं। राज्यों की भी अपनी–अपनी पृथक् नीतियां रहीं जिनसे साधारणतः आर्थिक व औद्योगिक विकास के मार्ग पर अवरोध आते गए। भारतीय श्रमिकों को कम पारिश्रमिक दिया गया एवं उससे प्रतिकूल कार्य–स्थितियों में कार्य करवाया गया। श्रमिकों की समस्याओं के निवारण हेतु श्रम–संघ बना लिये गए। ये संघ भी साधारणतया राजनैतिक रूप में सज गए जिससे औद्योगिक विकास और अधिक मंद हो गया। अंततया अर्थव्यवस्था निर्बल होती चली गयी व जनसंख्या बढ़ायी जाती रही। कल्याण व नियोजन जैसी शासकीय नीतियों के बावजूद देश जनसंख्या–वृद्धि को स्थिर नहीं कर पाया।

अनियंत्रित जनसंख्या–वृद्धि एवं मानव–विकास पर उसके प्रभाव

बिना आर्थिक व मानव विकास के हुई जनसंख्या–वृद्धि से समूचे देश की प्रगति बाधित हो जाती है। जनसंख्या को अपने नियंत्रण में लेने के लिए सूक्ष्म स्तर व बृहत् स्तर पर

टिप्पणी

नियोजन को ध्यान में रखना होता है। सूक्ष्म स्तर पर महत्तापूर्ण आर्थिक इकाई परिवार है। परिवार का आर्थिक जीवन परिवार के आकार व उसकी कुल आय, कृषि व औद्योगिक उत्पादों की उपभोग–दर पर निर्भर होता है। जीवन की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए सुनियोजित पारिवारिक जीवन एक अति महत्तापूर्ण अवयव है। बृहत् स्तर पर जनसंख्या–वृद्धि एवं आर्थिक विकास के क्षेत्रों में शासन द्वारा की गयी राजनीति देश के आर्थिक जीवन का निर्णय करती है।

भारत में जनसंख्या–वृद्धि एवं आर्थिक विकास में बहुत असंतुलन रहा है जो कि मानव व नैसर्गिक संसाधनों में परिलक्षित होता है। आर्थिक विकास भी हुआ किंतु जनसंख्या–विस्फोट में वह होता प्रतीत नहीं हुआ। ब्रिटिशर्स से स्वाधीन होने के बाद देश की जनसंख्या की स्थिति सुधारने के लिए अनेक उपाय अपनाये गए परंतु अशिक्षितों व शिक्षितों में बढ़ रही बेरोजगारी के कारण गंभीर आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याएं उपजती व बढ़ती जा रही हैं। जीवन का प्रत्येक पहलू प्रभावित होने लगा है, कहीं बाढ़, कहीं सूखा, कहीं हड़ताल, कहीं झुग्गी–झोपड़ियां। आर्थिक व सामाजिक विषमताएं इतनी अधिक बढ़ीं कि एक ओर तो विलासी जीवन बिताता धनाढ्य वर्ग है तो दूसरी ओर भुखमरी में जीवन गुज़ारने को विवश निर्धन वर्ग। लोग भौतिकता के जाल में जा उलझे व आध्यात्मिक मूल्यों का लोप कर दिया। निम्नांकित तालिका में जनसंख्या के संदर्भ में देश का विकास प्रस्तुत है–

सारणी *: जनसांख्यिकीय संसूचक*

क्रमांक	संसूचक	विकास (संख्या / प्रतिशत इत्यादि)
1.	कुल जनसंख्या (2001)	102,70,15,247 (10.3 करोड़)
	(a) पुरुष	53,12,77,078
	(b) स्त्रियां	49,57,38,169
2.	वार्षिक वृद्धि दर (%)	
	(a) 1970-1990	2.1%
	(b) 1990-1999	1.8%
3.	6 वर्ष से अल्पायु की जनसंख्या (2001)	15,78,63,145 (15.8 crore)
	(a) बालक	8,19,11,041
	(b) बालिकाएं	7,59.52,104
4.	कुल जनसंख्या में 0–6 आयुवर्ग के बच्चों की संख्या का अनुपात	
	(2001)	15.42%
	(a) बालक	15.47%
	(b) बालिकाएं	15.36%
5.	जनसंख्या का घनत्व (2001)	933
6.	5 वर्ष से अल्पायु की मृत्यु दर (1990)	242
	5 वर्ष से अल्पायु की मृत्यु दर (1999)	98
7.	1 वर्ष के कम आयु में शिशु मृत्यु दर (1960)	146
	1 वर्ष के कम आयु में शिशु मृत्यु दर (1999)	70

टिप्पणी

8.	साधारण मृत्यु दर (1970)	39
	साधारण मृत्यु दर (1999)	25
9.	जीवन–प्रत्याशा (1970)	49
	जीवन–प्रत्याशा (1999)	63
10.	कुल उर्वरता दर (1999)	3.0
11.	नगरीयकृत जनसंख्या का प्रतिशत	28
विकास के आर्थिक संसूचक		
1.	प्रतिव्यक्ति GNP (1999)	45 US $
2.	GNP प्रतिव्यक्ति औसत वार्षिक वृद्धि दर	
	(a) 1965-80	1.5%
	(b) 1990-1999	3.9%
3.	मुद्रास्फीति की वार्षिक दर (1990-91)	9%

स्रोतः अग्रवालः जनसंख्या–शिक्षा; क्षिप्रा प्रकाशन 2002

स्वास्थ्य पर जनसंख्या के प्रभाव

स्वास्थ्य संबंधी अध्ययनों से जनसंख्यात्मक परिदृश्य में जनस्वास्थ्य व स्वास्थ्य सेवाओं की देखरेख को समझने में सहायता मिलती है। स्वास्थ्य–अध्ययनों के माध्यम से आप अनेक वर्तमान स्वास्थ्यगत समस्याओं व स्थितियों की छानबीन कर पाते हैं। स्वास्थ्य–अध्ययन में अनेक विषय समाहित रहते हैं, जैसे– समाज–अध्ययन, मनोविज्ञान, जैविकी, स्वास्थ्य व सामाजिक देखरेख प्रबंधन सहित सामाजिक नीति, स्वास्थ्य अर्थव्यवस्था एवं अनुसंधान। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय, सांस्कृतिक एवं सामाजिक घटनाक्रमों से व्यक्तिगत जीवन के प्रभावित होने को समझना सरल हो जाता है।

स्वास्थ्य–अध्ययनों में स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले जैविक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं पर्यावरणीय कारकों को ध्यान में रखा जाता है। यह अध्ययन वैश्विक अथवा आंचलिक स्तर पर हो सकता है। इससे ऐसी रणनीतियां एवं अंतर्राष्ट्रीय साझेदारियां विकसित की जाती हैं जिनका लक्ष्य प्रमुख वैश्विक स्वास्थ्य व पर्यावरणीय चुनौतियों से निपटना होता है। स्वास्थ्य–अध्ययनों में व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामूहिक, कार्यस्थल व सामुदायिक स्तरों पर ऐसे व्यवहारगत परिवर्तन लाने को प्रेरित किया जाता है जिनसे स्वस्थ जीवनशैली का विकास हो। इससे गंभीर रोगों से बचाव व स्वास्थ्य सुविधाओं का विस्तार करके जीवन–गुणवत्ता बढ़ाने में भी सहायता मिल जाती है।

इन अध्ययनों में देखा जाता है कि स्वास्थ्य के किन–किन पहलुओं में देखरेख की अधिक आवश्यकता है। स्वास्थ्य सेवाओं व तत्संबंधी प्रशासनिक अर्थव्यवस्थाओं की क्या स्थिति है। मानव–स्वास्थ्य में जैविक, अंतर्वैयक्ति व समाजीय आयाम होते हैं। स्वास्थ्य–अध्ययनों के कारण प्रयोगशालेय एवं सामुदायिक दोनों स्तरों पर वैकासिक सहायता मिल जाती है। स्वास्थ्य अध्ययनों में स्वास्थ्य–निर्धारकों पर ज़ोर दिया जाता है, जैसे– आयु, जाति/नस्ल, वर्ग एवं स्वास्थ्य–सुविधाओं तक पहुंच।

स्वास्थ्य–अध्ययनों में सामाजिक नीतिगत निर्देशों, वैविध्य, समुदायों की भूमिका, सामाजिक न्याय जैसे परिप्रेक्ष्यों को भी ध्यान में रखा जाता है क्योंकि प्रभावी स्वास्थ्य–सेवा सुविधाओं के विकास में ये अविभाज्य घटक हैं। इन आंकड़ों/जानकारियों

टिप्पणी

का प्रयोग स्वास्थ्य नीतिशास्त्र, तुलनात्मक स्वास्थ्य प्रशासन एवं स्वास्थ्य संबंधी नियोजन से संबंधित अध्ययन में भी किया जा सकता है।

स्वास्थ्य–सेवाओं के अंतर्गत रोग के निदान से लेकर उपचार तक की विभिन्न सेवाएं सम्मिलित होती हैं। इनके अंतर्गत स्वास्थ्य से संबंधित जागृति एवं निरोग होने की पद्धतियों को भी सम्मिलित किया जाता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन एकीकृत स्वास्थ्य–सेवाओं के माध्यम में इस दिशा में विभिन्न देशों की सहायता करता है। यह नीति–निर्देशों, सुधार–रणनीतियों के निर्धारण एवं विश्व में उपलब्ध श्रेष्ठतम स्वास्थ्यगत प्रौद्योगिकियों को अपनाने की दिशा में पथ–प्रदर्शन करता है। सार्वजनिक निकायों द्वारा उपचार, देखरेख, सहायता, परामर्श इत्यादि सेवाएं प्रदान किए जाने को स्वास्थ्य–सेवाओं के अंतर्गत गिना जाता है। भारत में स्वास्थ्यक्षेत्र राज्य, स्थानीय निकायों व केन्द्र शासन का भी दायित्व है। वैसे इन सेवाओं में सर्वाधिक भागीदारी राज्य शासनों की होती है। चूंकि सन् 2030 तक भारत की जनसंख्या चीनी जनसंख्या से भी अधिक हो जाने की आशंका है इसलिए राज्य का यह दायित्व हो जाता है कि वह पोषणात्मक स्तर बढ़ाये, लोगों के जीवन–स्तर उठाये व जनस्वास्थ्य को ठीक करे।

भारत में अब भी स्वास्थ्यगत अधोसंरचनाएं पर्याप्तता के स्तर से बहुत नीचे हैं। भारत भर में किए गए सर्वेक्षणों में पता चला है कि 65 प्रतिशत लोगों तक आधुनिक चिकित्सा की पहुंच नहीं है। भारत में स्वास्थ्य–सेवाओं की वर्तमान अवस्था को समझने के लिए देश में विभिन्न स्वास्थ्यसेवा–सुविधाओं के बारे में जान लेना आवश्यक है। ये सेवाएं हैं– जनस्वास्थ्य सेवाएं, आवश्यक जनसवास्थ्य सेवाएं, सुरक्षात्मक स्वास्थ्य सेवाएं, मानसिक स्वास्थ्य सेवाएं, गृह स्वास्थ्य सेवाएं, मेगालन स्वास्थ्य सेवाएं एवं शालेय स्वास्थ्य सेवाएं।

यद्यपि नगरों में निजी स्वास्थ्य सेवाओं की निरंतर वृद्धि की जा रही है परंतु जनस्वास्थ्य सेवाएं पिछड़ती जा रही हैं। बहुत सारी औषधियां, अनेक निदानात्मक परीक्षण भी जनस्वास्थ्य सेवाओं में अनुपलब्ध हैं। अधिकांश चिकित्सालय नगरीय क्षेत्रों में निर्मित किए गए हैं जिससे ग्रामीण जनों तक चिकित्सा–सुविधाएं पहुंचनी लगभग असंभव हो जाती हैं।

स्वास्थ्य सेवा क्षेत्र में चुनौतियां बढ़ती जा रही हैं, संक्रामक रोगों का बोझ और भारी होता जा रहा है। समस्त रोगों में संक्रामक रोगों का प्रतिशत 30 है। इस प्रकार आर्थिक प्रभाव भी व्यापक होता है। विश्व की मातृ मृत्यु, शिशु मृत्यु में भारत की प्रधान भूमिका है। स्वास्थ्य सेवाओं में किया जाने वाला व्यय निर्धनता को और बढ़ा देता है। प्रतिवर्ष ऐसे व्यय के कारण निर्धन परिवारों की संख्या में तीव्र वृद्धि हो रही है। वित्तीय सुरक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता, अधिक स्वास्थ्य व्यय एवं व्यवहारगत कारकों के मिश्रण से स्वास्थ्य क्षेत्र की स्थिति और बिगड़ती जा रही है।

योग्य स्वास्थ्य–कार्यकर्त्ताओं एवं कार्यबल की अत्यधिक कमी भी एक बड़ी चुनौती है जबकि नगरीय क्षेत्रों में तो आवश्यकता से भी अधिक चिकित्सा–कर्मचारी उपस्थित हैं। सकल घरेलू उत्पाद में स्वास्थ्यगत वित्त एवं भारत के जनस्वास्थ्य व्यय का भाग एक प्रतिशत ही है। चिकित्सात्मक व्ययों से वित्तीय सुरक्षा अति सीमित है। मात्र 10 प्रतिशत जनसंख्या का चिकित्सा–बीमा है।

टिप्पणी

चुनौतियों से पार पाने के लिए सार्वजनिक–निजी साझेदारियों को बढ़ावा देने हेतु अधिक प्रयास किए जाने की आवश्यकता है। जनस्वास्थ्य व्यय को भी बढ़ाना होगा ताकि उपयुक्त प्रकरणों के स्वास्थ्यगत कारणों से आर्थिक पूर्ति की जा सके। स्वास्थ्य सेवाओं में तीव्र परिवर्तन लाने के लिए शक्तिशाली लोक–आंदोलनों की आवश्यकता है ताकि लोग अपने स्वास्थ्य–अधिकारों को जता सकें एवं सोयी सरकारों को झटके से जगा सकें। स्वास्थ्यगत विषयों से अन्य विषय भी गहनता से सहसंबंधित हैं, जैसे– खाद्यान्न, पेयजल, स्वच्छता, शिक्षा, आवास, पर्यावरणीय स्थितियां इत्यादि।

पोषण स्वास्थ्य सेवाएं एवं शिक्षा

खाद्य एवं पोषण बोर्ड की स्थापना वर्ष 1964 में खाद्य मंत्रालय के अंतर्गत की गई थी और इसे वर्ष 1993 में महिला एवं बाल विकास मंत्रालय को अंतरित कर दिया गया था। अब यह महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के बाल विकास ब्यूरो के अंतर्गत एक तकनीकी सहायता स्कंध के रूप में कार्य कर रहा है। खाद्य एवं पोषण बोर्ड कई प्रकार की पोषण शिक्षा और विस्तार सेवाओं के साथ–साथ कार्यक्रम कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण भी प्रदान करता है। यह प्रशिक्षण पोषण तथा आहार संबंधी आदतों में सुधार लाने तथा खाद्य एवं आहार संबंधी आदतों में अज्ञानता, पूर्वाग्रह एवं अंधविश्वास को दूर करने के लिए प्रदान किया जाता है, ताकि खासतौर से देश के बच्चों और महिलाओं के कुपोषण के स्तर में कमी आ सके।

पोषण शिक्षा और विस्तार सेवा को एक दीर्घकालिक स्थायी मध्यस्थता समझा गया है, जो कुपोषण की समस्या के समाधान और बच्चों तथा महिलाओं की पोषण संबंधी स्थिति में सुधार के लिए अनिवार्य है। खाद्य एवं पोषण बोर्ड शिक्षा और जागरूकता के लिए निवेश उपलब्ध कराने का मुख्य कार्य करता है।

खाद्य एवं पोषण बोर्ड के मुख्य उद्देश्य निम्न प्रकार हैं–

- पोषण शिक्षा और विस्तार सेवाओं के जरिए लोगों की आहार संबंधी आदतों में सुधार लाना।
- कम लागत के स्थानीय रूप से उपलब्ध खाद्य पदार्थों को बढ़ावा देना।
- फलों और सब्जियों के घरेलू स्तर पर प्रसंस्करण और परिरक्षण के जरिए इनका संरक्षण।

पोषण शिक्षा, प्रशिक्षण एवं निरीक्षण

समुदाय को पोषण शिक्षा देना, खाद्य एवं पोषण बोर्ड का एक महत्वपूर्ण कार्यकलाप है, जो यह अपने 43 सामुदायिक खाद्य एवं पोषण विस्तार एककों के माध्यम से देश के विभिन्न राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों के शहरी, ग्रामीण एवं जनजातीय क्षेत्रों में पोषण शिक्षा एवं निदर्शन कार्यक्रम के आयोजन के जरिए प्रदान करता है। खाद्य एवं पोषण बोर्ड मुख्यालय अपने चार क्षेत्रीय कार्यालयों के माध्यम से इन एककों के कार्यकरण हेतु तकनीकी सहायता के अलावा संभार–तंत्र संबंधी सहायता प्रदान करता है।

सामुदायिक खाद्य पोषण एवं विस्तार एकक अपने प्रचालन–क्षेत्र में आई.सी.डी.एस. के पूरक पोषण तथा पोषण एवं स्वास्थ्य शिक्षा घटकों का निरीक्षण करते हैं। सामुदायिक खाद्य एवं पोषण विस्तार एककों के तकनीकी कर्मचारी आंगनवाड़ी केंद्रों को

टिप्पणी

तकनीकी सहायता प्रदान करते हैं। वर्ष 2009–10 के दौरान (30.11.2009 तक) कुल 2600 आंगनवाड़ियों का निरीक्षण किया गया।

प्रशिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम एवं खाद्य विश्लेषण

प्रत्येक सामुदायिक खाद्य एवं पोषण विस्तार एकक मास्टर प्रशिक्षकों हेतु 5 दिवसीय 'प्रशिक्षक प्रशिक्षण' कार्यक्रम चलाता है। इन मास्टर प्रशिक्षकों में बाल विकास परियोजना अधिकारी, सहायक बाल विकास परियोजना अधिकारी, चिकित्सा अधिकारी, महिला स्वास्थ्य विजिटर, आई.सी.डी.एस. के वरिष्ठ पर्यवेक्षक शामिल हैं, जो प्रशिक्षण के पश्चात आई.सी.डी.एस के आधारभूत स्तर के कर्मियों जैसे आंगनवाड़ी कार्यकर्त्रियों तथा समुदाय के लिए प्रशिक्षक का कार्य करते हैं। वर्ष 2009–10 के दौरान 31.12.2009 तक कुल 66 प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किए गए, जिनमें 1320 मास्टर प्रशिक्षकों को प्रशिक्षित किया गया।

दिल्ली, मुंबई, कोलकाता तथा चेन्नई में खाद्य एवं पोषण बोर्ड की चार गुणवत्ता नियंत्रण प्रयोगशालाएं हैं, जो आई.सी.डी.एस. स्कीम के अंतर्गत विभिन्न संपूरक खाद्य पदार्थों का विश्लेषण करती हैं। ये नमूने राज्य सरकारों के अलावा खाद्य एवं पोषण बोर्ड के क्षेत्रीय एककों से प्राप्त किए जाते हैं, जिन्हें उनके द्वारा आंगनवाड़ी केंद्रों के नियमित निरीक्षणों के दौरान एकत्रित किया जाता है। खाद्य एवं पोषण बोर्ड की गुणवत्ता नियंत्रण प्रयोगशालाएं उत्पादों की गुणवत्ता नियंत्रण के नियमन के अंतर्गत प्रसंस्कृत फल एवं सब्जी उत्पादों का भी विश्लेषण कर रही हैं। ये नमूने खाद्य प्रसंस्करण उद्योग मंत्रालय से प्रापत किए जाते हैं। खाद्य एवं पोषण बोर्ड ने कोडेक्स एवं भारतीय मानक ब्यूरो सहित स्वास्थ्य विभाग की विभिन्न समितियों को खाद्य गुणवत्ता एवं मानकीकरण संबंधी तकनीकी जानकारी प्रदान करता है।

जनसंख्या वृद्धि की तीव्रता के कारण अल्पविकसित देशों में पोषण स्वास्थ्य सेवाएं बुरी तरह प्रभावित होती हैं। ऐसा इसलिए होता है कि बढ़ती आबादी के अनुपात में खाद्य उत्पादन अत्यंत कम होता है। अधिसंख्य निर्धनों को संतुलित भोजन नहीं मिल पाता। प्रति व्यक्ति खाद्य उपलब्धता कम हो जाती है। अनाज आदि की कम उपलब्धता के कारण पौष्टिक भोजन और पर्याप्त मात्रा में भोजन न मिलने से लोगों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे उनकी कार्यक्षमता–उत्पादकता भी कम हो जाती है। उत्पादन कम होने से प्रति व्यक्ति आय कम होती है, निर्धनता बढ़ती है और फिर राष्ट्रीय आय पर असर पड़ता है। इन सबका प्रभाव पुनः पोषण सेवाओं के ह्रास का कारक बनता है और यह चक्र चलता रहता है।

विदेशों से खाद्यान्न का आयात करना पड़ता है। इससे विदेशी पूंजी तथा विनिमय का बहुत बड़ा भाग खाद्यान्न आयात करने में ही खर्च हो जाता है।

शिक्षा पर जनसंख्या के प्रभाव

1. अधिक शिक्षक

समाज में पाठशाला जाने की आयु अवस्था वाले लोगों की संख्या अधिक होने से अधिक शिक्षकों की आवश्यकता होती है। इसके चलते पहले से ही बोझिल पड़ी शिक्षा–व्यवस्था और जर्जर होती चली जाती है। आधुनिक भारत में शिक्षण क्षेत्र में रुचि रखने वाले व्यक्ति विरले ही मिलते हैं। क्षेत्र में कार्यरत् अधिकांश

टिप्पणी

व्यक्ति अधिक आय वाले स्रोतों की बाट जोहते रहते हैं। स्कूली शिक्षकों की कम होती संख्या को अधिक शिक्षार्थियों को संभालने का कार्य सौंप दिया जाता है तथा कृपण (कंजूस) सरकारें ग़ैर–शैक्षणिक कार्य भी शिक्षकों से करवा लेने के प्रयास में रहती हैं ताकि उन कार्यों में अन्य व्यक्तियों को न नियुक्त करना पड़े। इस कारण ऐसे शिक्षार्थियों को शिक्षित करना और अधिक कठिन हो जाता है जो घर पहुंचकर घरेलू कार्य करने के लिए निकलने को आतुर रहते हैं।

2. क्षमता से अधिक शिक्षार्थियों वाली शालाएं

शालेय भवनों का निर्माण शिक्षार्थियों की संभावित संख्या को ध्यान में रखकर किया जाता है। जनसंख्या बढ़ने से शाला में आने वाले शिक्षार्थियों की संख्या भी अप्रत्याशित रूप से बढ़ जाती है जिससे मचने वाली भीड़ से शिक्षार्थियों में मन में नकारात्मक अनुभूतियां होती हैं। इस प्रकार जिले में अधिक बड़े क्षेत्रफल वाली शालाओं के निर्माण की आवश्यकता पड़ने लगती है। इस कारण लागत बढ़ती है जिसका वहन अधिकांश केंद्रों को अपनी आर्थिक क्षमता से परे नज़र आता है। या तो ऋण लेकर भूखंड क्रय/भवन–निर्माण किया जाता है अथवा नवीन शाला के निर्माण के लिए समुदायों से सहायता की अपेक्षा की जाती है।

3. दृष्टिकोणों में परिवर्तन

अधिकांश शालाओं में शिक्षा व सीखने की दिशा में सकारात्मक दृष्टि अपनाने पर ज़ोर दिया जाता है परंतु शिक्षार्थियों की संख्या असाधारण रूप से बढ़ जाने से पालकों व बच्चों को शिक्षा का महत्व समझाना कठिन हो जाता है। शिक्षार्थियों के पथभ्रष्ट होकर अ–शैक्षणिक गतिविधियों, व्यसन, चोरी में लिप्त हो जाने की आशंकाएं पनपने लगती हैं। शिक्षार्थियों की संख्या के अनुपात में पर्याप्त शिक्षक न होने से प्रत्येक शिक्षार्थी को समग्रता से ध्यान में रख पाना व उसकी बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति जैसे मूलभूत कार्य दुष्कर हो जाते हैं।

4. निधिगत समस्याएं

शालाओं को अपने अस्तित्व के लिए आसपास के समुदायों से निधियों की आवश्यकता होती है। बिना आर्थिक उन्नति के जनसंख्या–वृद्धि वाले समुदाय शालाओं में वे धनराशि देने के प्रति अनिच्छुक होते हैं। अपर्याप्त निधि के कारण शिक्षार्थियों को समुन्नत करने व जीवन को आगे बढ़ाने वाली गतिविधियों का संचालन आर्थिक रूप से अवहनीय हो जाता है। इस प्रकार शाला में आना शिक्षार्थियों को नीरस लगने लगता है व शालाएं अनाकर्षक बन जाती हैं।

5. सतत् शिक्षा

शाला जाने के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण बच्चों के मन में निरंतर बना रह सकता है जिससे ये आगे के अध्ययन के प्रति अनिच्छुक रह सकते हैं एवं वयस्क होकर अपनी संतानों को शिक्षा प्रदान करने की दिशा में भी कम गंभीर हो सकते हैं। इस प्रकार धनार्जन–क्षमता भी क्षीण रहती है एवं निर्धनता–उन्मूलन की दिशा में भी पिछड़ापन बना रहता है। शैक्षणिक प्रणाली में जनसंख्यात्मक दोषों को ठीक करना आवश्यक है। इसके अभाव में शालेय अध्ययन पूर्ण किए बिना ही शिक्षा छोड़ देने वालों की संख्या कम नहीं की जा सकेगी।

टिप्पणी

2.4.3 जनसंख्या संबंधी नीतियां एवं परिवार कल्याण कार्यक्रम

- शासन द्वारा की जाने वाली कार्यवाहियां, विधि–निर्माण एवं क्रियान्वयन सहित प्रशासनिक कार्यक्रम।
- किसी भी जनसंख्या नीति की द्वितीय विशेषता उसमें समाहित जनसंख्यात्मक घटनाक्रम हैं।
- अंत में उपरोक्त दोनों के उपजे परिणाम व निष्कर्ष हैं।

जनसंख्यात्मक नीति के परिप्रेक्ष्य में जनसंख्या परिवर्तन के तीन अवयव सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते हैंः उर्वरता, मरण एवं प्रवास। इनके द्वारा सभी जनसांख्यिकीय चर प्रभावित होते हैं।

मरण से नीतियों पर प्रभाव

मरण से संबंधित नीतियों में सदा ही मृत्युदर घटाने को लक्ष्य बनाया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा रोग–उन्मूलन एवं जनस्वास्थ्य की परिवतर्नकारी अवधारणा प्रस्तुत की गयी। स्वास्थ्यसंबंधी जनसंख्या–नीतियों के कारण विकासशील देशों में मरण की दर अभूतपूर्व रूप से घट गयी फिर चाहे उन देशों का सामाजिक–आर्थिक स्तर कैसा भी हो।

प्रवास से प्रभावित नीतियां

प्रवास–संबंधी नीतियों के दो पहलू होते हैंः आंतरिक प्रवास (देश के भीतर प्रवास) एवं अंतर्राष्ट्रीय प्रवास (फिर चाहे ये विस्थापन के रूप में हों अथवा कुछ अवधि उपरांत वापस लौट आने वाले)। अंतर्राष्ट्रीय प्रवास को अधिकांश देशों में संवैधानिक विशेषाधिकार माना जाता है; इसीलिए राष्ट्रीय शासन इस दिशा में कुछ नहीं कर सकते। प्रति किलोमीटर अथवा प्रतिमील अनुरूप आंचलिक विभेदों वाले आंतरिक प्रवास को प्रोत्साहित किया जा सकता है। ऐसे एक सफल प्रयास का उदाहरण इंडोनेशिया में ट्रांस्माइग्रेशन योजना है। ऐसे प्रवास सदा सफल नहीं होते क्योंकि अनेक अन्य प्रसंग भी आते हैं, यथा भू–भाग का स्वरूप, उपलब्ध नौकरी–अवसर, सांस्कृतिक बंधुत्व इत्यादि कारक आंतरिक प्रवास के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाते हैं।

विश्व में वर्तमान चिंता का विषय महानगरों में अति तीव्रता से बढ़ती जनसंख्या है। ग्रामीण क्षेत्रों के लोग नगरों की ओर प्रवास किए जा रहे हैं। नगरीय सेवाओं पर दबाव बढ़ता जा रहा है। इन नीतियों में विकास–रणनीतियों को ध्यान में रखा जाता है ताकि प्रवास को हतोत्साहित अथवा प्रोत्साहित किया जा सके, जैसे– उद्योगों के लिए कर–प्रोत्साहन अथवा कर–हतोत्साहन, अनुकूल क्षेत्रों के उद्योगों को अनुदान, शासकीय सेवाओं का विकेंद्रीकरण, राष्ट्रीय राजधानियों को विरल जनसंख्या वाले क्षेत्रों में स्थापित करना इत्यादि।

उत्प्रवास (एमिग्रेशनः ऐसा प्रवास जिसमें व्यक्ति जाकर वहीं स्थायीरूपेण बस जाता है) के संदर्भ में विश्व के शासन प्रतिभा–पलायन से जूझ रहे हैं तथा कुशल व दक्ष व्यक्तियों को पलायन करने से रोकने के लिए शासनों ने उत्प्रवास निषेध करने की दिशा में नियम बनाये हैं। वैसे ऐसे प्रयास अधिकांशतया निष्प्रभावी रहे हैं। शिक्षितों के उत्प्रवास को रोकने के लिए ठोस प्रयास किए जाने आवश्यक हैं।

अंतर्राष्ट्रीय प्रवास के परिदृश्य में शरणार्थियों से संबंधित नीतियों का विचार किए जाने की आवश्यकता है।

टिप्पणी

उर्वरता को प्रभावित करती नीतियां

उर्वरता को प्रभावित करने का लक्ष्य रखने वाली नीतियां दो प्रकार की हो सकती हैं: प्रसव–समर्थक एवं प्रसव–विरोधी।

1. **प्रसव–समर्थक नीतियां** : ये नीतियां तो प्राचीनकाल से उपयोग में लायी जा रही हैं। आधुनिक जगत् में अनेक देशों ने ऐसी जनसंख्यात्मक नीतियां विकसित की हैं जिनमें जन्मदर को बनाये रखने का प्रयास किसा जाता है। मातृ व शिशु की विशिष्ट आवश्यकताओं की निःशुल्क पूर्ति इसी के उदाहरण हैं। रोमानिया इस प्रकार नीतियों पर चलने वालों में मुख्य है जहां गर्भपात व गर्भ–निरोधन दोनों को अंकुश में रखा गया है। आधुनिक गर्भ–निरोधकों को चिकित्सात्मक कारणों से ही उपलब्ध कराये जाने का प्रावधान है।

2. **प्रसव–विरोधी नीतियां**–

   (अ) **गर्भ–निरोधन सेवाओं की व्यवस्था** : ऐसा मान लिया जाता है कि गर्भनिरोधकों की सरल उपलब्धता करने से लोग परिवार–नियोजन को प्रेरित होंगे व नवदंपति छोटे परिवार के महत्व को समझेंगे जिससे सूक्ष्म स्तर पर उर्वरता घटेगी एवं इस प्रकार जन्म–दर में कमी आयेगी। अधिकांश परिवार–नियोजन कार्यक्रमों में दंपतियों को यह अधिकार प्रदान कर दिया जाता है कि वे स्वयं निर्धारित करें कि सुखी भविष्य व आर्थिक वहनीयता के लिए कितनी संतानें उनके लिए ठीक रहेंगी।

   (आ) **गर्भपात विधियों (कानूनों) का उदारीकरण** : कूटनीति रचकर अथवा प्रत्यक्ष रूप से गर्भपात–सहायक प्रावधानों को लाकर विभिन्न देशों में जन्मदर घटायी गयी है। इन नीतियों में जनस्वास्थ्य, सामाजिक न्याय एवं नारी–अधिकारों को ध्यान में रखा जाता है।

   (इ) **विवाह की आयु बढ़ाना** : विवाह की आयु को जनसंख्या में एक प्रधान तत्व माना जाता रहा है। जितनी कम आयु में स्त्री का विवाह होगा संतानों की संख्या उतनी अधिक होने की आशंका बनी रहेगी।

   ऐसा आकलन है कि यदि स्त्री के विवाह की आयु को भारत में 19 वर्ष अथवा अधिक कर दिया जाये तो जन्म–दर 25–30 प्रतिशत घट सकती है। विवाह की आयु बढ़ाने का परोक्ष प्रभाव यह भी होता है कि विवाह तक स्त्री शिक्षित हो जाती है जिससे वह भविष्य में परिवार–नियोजन के महत्व को भी समझ पाती है।

परोक्ष प्रसव–विरोधी नीतियां

ऐसी नीतियों का प्रत्यक्ष लक्ष्य उर्वरता को घटाना नहीं होता अपितु परोक्ष रूप से गर्भनिरोधन, गर्भपात को प्रेरित करना होता है।

(क) **प्रोत्साहन**– भारत में नसबंदी करने वालों एवं प्रेरक को नगद राशि देने की व्यवस्था की गयी है।

टिप्पणी

(ख) **हतोत्साहन**– शासन द्वारा निर्धारित (जैसे के कुछ देशों में अधिकतम दो) संख्या से अधिक संतान उत्पन्न करने वाले दंपतियों को कुछ शासकीय लाभों व योजनाओं से वंचित कर दिया जाता है। भारत में परिवार–नियोजन की दिशा में क्राति दशकों पहले ही आ गयी होती यदि नागरिकों ने संजय गांधी के नेतृत्व वाली कॉन्ग्रेस सरकार द्वारा बलपूर्वक नसबंदी के नियम का विरोध करके उसे आगामी निर्वाचन में सत्ता से नीचे न ढकेला होता।

(ग) **नारियों की स्थिति में सुधार लाना**– अधिकांश समाजों में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों जितनी सुदृढ़ नहीं होती। नारी–सशक्तिकरण में नारी–शिक्षा को प्रोत्साहित किया जाना सार्थक हो सकता है। अनुसंधानों में ऐसा इंगित हुआ है कि निरक्षर स्त्रियां अधिक संतानों को जन्म देती हैं परंतु शिक्षित स्त्रियां गर्भ–निरोधन के प्रति न्यूनाधिक जागृति रखती हैं। साक्षर व शिक्षित पत्नियां परिवार में पतियों के समकक्ष निर्णय कर सकती हैं। इस प्रकार परिवार–नियोजन के संयुक्त निर्णय में स्वयं अपनी प्रमुख भूमिका निभाने के लिए आगे बढ़ सकती हैं। श्रमक्षेत्र में स्त्रियों की संख्या से देश में स्त्रियों की स्थिति का पता चल सकता है। भारत में परिवार–नियोजन कार्यक्रमों की सफलता में नारी–सशक्तिकरण की भूमिका को नियोजन आयोग ने स्वीकारा है।

परिवार–नियोजन कार्यक्रम

- **क्लिनिक–आधारित**– ऐसे कार्यक्रमों में जनता से अपेक्षा की जाती है कि जिन्हें परिवार–नियोजन के साधन अपनाने होंगे वे चिकित्सालय इत्यादि उपचार–केंद्रों में आयेंगे किंतु भारत में यह प्रयास मात्र शिक्षित व परिवार–नियोजन के प्रति सचेत दंपतियों पर ही प्रभावी रहा।
- **विस्तार**– इसमें विभिन्न लोक–समूहों व स्थानीय नेताओं से जनता को प्रेरित करवाया गया कि वे परिवार–नियोजन के ज्ञान का प्रसार अपने–अपने समुदायों में करें व परिवार का आकार छोटा रखने के लिए लोगों को प्रेरित करें।
- **शिविर**– नवम्बर–दिसम्बर 1970 में केरल के एर्नाकुलम जिले में विशाल नसबंदी शिविर आयोजित किया गया जहां एक माह की अवधि में कुल 15,005 नसबन्दियां की गयीं। इस कार्यायोजन को जुलाई–1971 में अधिक बड़े पैमाने पर दोहराया गया जहां एक माह की अवधि में 63,418 नसबंदियां की गयीं।
- **एकीकृत प्रयास**– बहु–प्रयोजनात्मक कर्मचारियों की नियुक्ति करते हुए पोषण व परिवार–नियोजन इत्यादि विषयों को समेकित रूप में लाया गया। ये कर्मचारी दो कर्मचारियों (एक स्त्री व एक पुरुष) के समूह के रूप में उपकेंद्र (5000 की अधिकतम जनसंख्या में एक उपकेंद्र) में जाकर स्वास्थ्य–सेवाएं व परिवार–नियोजन सेवाएं प्रदान करने लगे। अक्टूबर–1977 में सामुदायिक स्वास्थ्यकर्मी योजना इस उद्देश्य से लायी गयी कि प्रत्येक ग्राम अथवा एक हज़ार की जनसंख्या वाले प्रत्येक क्षेत्र के समुदाय द्वारा ही चयनित सामुदायिक स्वास्थ्यकर्मी को प्रशिक्षित करके परिवार–नियोजन व स्वास्थ्य–सेवाओं को बढ़ावा दिया जाये।

टिप्पणी

- **प्रजनन एवं बाल–स्वास्थ्य**– सितम्बर–1994 को काएरो में आयोजित 'अंतर्राष्ट्रीय जनसंख्या एवं विकास सम्मेलन' (ICPD) में भारत ने इस दिशा में परिवार कल्याण कार्यक्रम बनाया जिसमें ग्राहक–केन्द्रित गुणवत्ता सेवाएं प्रदान की जाने लगीं।
- **भारत की राष्ट्रीय जनसंख्या–नीति**– विश्व जनसंख्या सम्मेलन के एक परिणाम के रूप में 16 अप्रैल सन् 1976 को राष्ट्रीय जनसंख्या नीति की उद्घोषणा की गयी। फिर कुछ परिवर्तन किए गए एवं नवीन नीति लायी गयी।
- **राष्ट्रीय जनसंख्या–नीति 2000**– इसमें शासन ने प्रतिबद्धता जतायी कि नागरिकों को स्वैच्छिक गर्भनिरोधन के लिए प्रेरित किया जायेगा एवं संबंधित स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध करायी जायेंगी। सर्वप्रथम स्वास्थ्यगत अधोसंरचना को विकसित करने व स्वास्थ्यकर्मियों की संख्या व प्रशिक्षण बढ़ाने पर ज़ोर दिया गया। ग्राम–स्तर पर सेवाएं उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया। वेतनभोगी श्रमिकों में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ायी गयी ताकि परिवारों की आय बढ़ सके जिससे सामाजिक–जनसांख्यिकीय लक्ष्य प्राप्त हो सकें।

परिवार कल्याण कार्यक्रम

परिवार कल्याण के अंतर्गत स्वास्थ्य, पोषण एवं परिवार–नियोजन विषयों को परस्पर सम्बद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया। विवाह की आयु बढ़ाना, नारी–साक्षरता बढ़ाना एवं स्त्रियों को आय–अवसर प्रदान करते हुए उनका सशक्तिकरण करने के प्रयास किए गए ताकि वे अपने लैंगिक एवं प्रजनन अधिकारों का उपयोग कर सकें तथा भावी जीवन में परिवार–नियोजन की केंद्रीय महत्ता को समझकर स्वयं व संयुक्त निर्णय कर सकें। इस संदर्भ में सन् 1951 को राष्ट्रीय परिवार कल्याण कार्यक्रम के रूप में एक केंद्र–प्रायोजित कार्यक्रम लाया गया। इसका प्राथमिक उद्देश्य जन्मदर को घटाकर जनसंख्या को उस स्तर पर लाना रहा कि जिसकी आर्थिक मांग सरलता से पूर्ण की जा सके। परिवार कल्याण कार्यक्रम में निम्नलिखित को सम्मिलित किया गया–

1. **जनसंख्या नियंत्रण एवं स्थिरीकरण**– परिवार–कल्याण कार्यक्रम (सन् 1952) में विभिन्न परिवार–नियोजन कार्यक्रमों को उद्घोषित किया गया। यह सबसे प्रत्यक्ष लोकनीति उपाय था जिसे भारत में जनसंख्या की वृद्धिदर को नियत्रित करने के लिए अपनाया गया था। इस कार्यक्रम में परिवार–नियोजन के प्रति जागृति के प्रसार, गर्भनिरोधक व अन्य सुविधाओं के प्रयोग पर ज़ोर दिया गया। नसबंदी सहित अन्य प्रयोग बड़े पैमाने पर किए गए तथा गर्भनिरोधन के अन्य साधनों का प्रयोग करने पर भी बल दिया गया।

   दशकों में भारत में गर्भनिरोधकों का प्रयोग करने वाले दंपतियों की संख्या बहुत बढ़ी है। परिवार कल्याण कार्यक्रम की नीतियों व रणनीतियों को समय–समय पर परिवर्तित किया जाता रहा। विभिन्न परिवार–नियोजन उपायों के क्रियान्वयन से 2010–11 के दौरान देश में 16.335 मिलियन्स जन्म रोके गए जबकि 2009–10 में 16.605 मिलियन्स जन्मों को होने से रोका गया था। 2010–11 तक भारत में संचयी रूप से कुल 442.75 मिलियन्स जन्मों को रोक लिया गया।

टिप्पणी

2. **मातृ–स्वास्थ्य**– परिवार कल्याण कार्यक्रम में गर्भावस्था एवं प्रसव के दौरान माता के स्वास्थ्य की सुरक्षा को भी ध्यान में रखा गया। कार्यक्रम का उद्देश्य मातृमृत्यु–दर को घटाना था। ऐसा आकलन है कि पांच–पांच मिनट्स के अंतराल में भारत में एक मातृमृत्यु हो जाती है। परिवार–कल्याण कार्यक्रम में मातृ–स्वास्थ्य के लिए विभिन्न सेवाओं व कार्यक्रमों को लाया गया, जैसे– जन्मपूर्व देखरेख एवं क्षेत्रनिवेश कार्यक्रम।

जन्मपूर्व देखरेख की सेवाएं सभी प्राथमिक स्वास्थ्य उपकेंद्रों, प्राथमिक स्वास्थ्य–केंद्रों, सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्रों, ग्रामीण परिवार कल्याण केंद्रों एवं जिला चिकित्सालयों में उपलब्ध हैं। जन्मपूर्व देखरेख के अंतर्गत गर्भवतियों के लिए निम्नांकित सेवाएं उपलब्ध करायी जाती हैं–

- शीघ्र पंजीकरणः गर्भावस्था के बारह सप्ताह पूर्ण होने से पूर्व
- गर्भावस्था के दौरान न्यूनतम तीन जांचें
- टिटेनस टॉक्सोइड की दो डोजेज का सेवन
- आयरन व फॉलिक अम्ल की 100 टेब्लेट्स
- गर्भावस्था के दौरान पोषण–आहार के लिए परामर्श
- एनीमिया के मामलों में उपचार

इन सेवाओं का मुख्य लक्ष्य गर्भावस्था एवं प्रसव के दौरान माताओं के स्वास्थ्य की सुरक्षा को सुनिश्चित करना है।

परिवार कल्याण कार्यक्रम में क्षेत्रनिवेश कार्यक्रम यूरोपियन आयोग की सहायतांतर्गत भारत शासन के माध्यम से लाया गया जिसका प्रमुख उद्देश्य गर्भवतियों व बच्चों के स्वास्थ्य को सुधारना एवं शिशुमृत्यु–दर को घटाना था।

पंचवर्षीय योजना एवं राष्ट्रीय परिवार कल्याण कार्यक्रम

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान परिवार कल्याण कार्यक्रम को मुख्यतया 'क्लिनिकल' रखा गया।

चौथी पंचवर्षीय योजना (1969–74) में परिवार कल्याण कार्यक्रम के तहत जन्मदर को घटाने को प्राथमिकता में रखकर ज़ोर दिया गया। ऐसा पाया गया कि योजना के अंत में जन्मदर 35 प्रति हज़ार से घटकर 32 प्रति हज़ार हो गयी। ऐसा आकलन था कि चौथी योजना के अंत तक प्रजननक्षम आयुवर्ग के 16.5 प्रतिशत दंपतियों को गर्भधारण से रोक लिया गया।

पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) का उद्देश्य परिवार–नियोजन सेवाओं से मातृ–स्वास्थ्य, बाल–स्वास्थ्य एवं पोषण को एकीकृत करना था। इसी अवधि के दौरान यह घटित हुआ कि देश में नसबंदी में तीव्र वृद्धि हुई। वैसे 1977–78 के दौरान इस कार्यक्रम में गतिरोध आ गया जब शासन ने कहा कि कार्यक्रम में कोई बाध्यता अथवा दबाव नहीं होगा एवं कार्यक्रम का क्रियान्वयन सदा 'परिवार–कल्याण' के एक आवश्यक भाग के रूप में किया जायेगा। इस गतिरोध के कारण कार्यक्रम का नाम 'परिवार–नियोजन' से अंतरित कर 'परिवार–कल्याण' कर दिया गया।

टिप्पणी

छठवीं पंचवर्षीय योजना (1980-85) में परिवार–कल्याण कार्यक्रम का प्रमुख लक्ष्य नेट रिप्रोडक्शन रेट ऑफ़ यूनिटी अर्जित करने के जनसांख्यिकीय उद्देश्यों को पाना था। इनमें जन्मदर घटाना, दंपति सुरक्षा स्तर बढ़ाना एवं परिवार के औसत आकार को घटाना सम्मिलित था।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) में परिवार–कल्याण कार्यक्रम में सामुदायिक सहभागिता, जन्मांतराल बढ़ाने की विधियों व बाल–स्वास्थ्य व मातृ–स्वास्थ्य पर बल दिया गया। इसी योजना के अंतर्गत सन् 1985 में 'सर्व टीकाकरण कार्यक्रम'(UIP) लाया गया। इसमें गर्भवतियों एवं बच्चों का व्यापक टीकाकारण किया गया।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) के तहत योजनाओं व प्रस्तावों को पुनर्स्थापित किया गया एवं नवीन योजनाएं लायी गयीं। इस योजना के तहत स्वयंसवी संस्थाओं की भागीदारी पर अधिक ज़ोर दिया गया एवं शासकीय कार्यक्रमों में अतिरिक्त सहयोग व प्रयास पर बल दिया गया ताकि जनसाधारण को परिवार–नियोजन विधियों व कार्यक्रमों को अपनाने के लिए प्रेरित किया जा सके। नौवीं व दसवीं पंचवर्षीय योजनाओं में परिवार–कल्याण कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य जनसंख्या–वृद्धि की दर को घटाना था। नौवीं व दसवीं पंचवर्षीय योजनाओं में परिवार–कल्याण कार्यक्रम में सम्मिलित कुछ रणनीतियां निम्नांकित रहीं–

- क्षेत्र में विशिष्ट सूक्ष्म–नियोजन करना एवं बाल–स्वास्थ्य व प्रजनन–स्वास्थ्य हेतु आवश्यकताओं की सरल समीक्षा
- शिशु–रुग्णत्व, मातृ–रुग्णत्व एवं मरण में कमी लाने के लिए कार्यक्रम को बाल–स्वास्थ्य सुविधाओं व प्रजनन–स्वास्थ्य सेवाओं में गुणवत्तापूर्ण व आवश्यकता–आधारित रूप में क्रियान्वयित करना होगा।

अपनी प्रगति जांचिए

5. निम्न में से कौन–सा नैसर्गिक संसाधन अनवीकरणीय नहीं है?

   (क) खनिज (ख) धातु

   (ग) वायु (घ) कोयला

6. किस पंचवर्षीय योजना में 'परिवार नियोजन' कार्यक्रम का नाम बदल कर 'परिवार कल्याण' कर दिया गया?

   (क) तीसरी (ख) चौथी

   (ग) पांचवीं (घ) छठी

2.5 स्वच्छता एवं घरेलू कचरे का निष्पादन

मनुष्यों की गतिविधियों की वजह से पैदा हुए पदार्थ (गेर द्रव अथवा गैसीय) जो कि प्रयोगहीन अथवा अवांछित हैं, उन्हें ठोस कचरा कहा जाता है। जनसंख्या विस्फोट, शहरीकरण और औद्योगिकीकरण के चलते ठोस कचरा इतनी ज्यादा मात्रा में पैदा होने लगा है कि इसका निपटान बहुत बड़ी समस्या बन गया है।

टिप्पणी

ठोस कचरों का वर्गीकरण

स्रोत, स्थान और गतिविधियों के आधार पर ठोस कचरे के घटक व्यापक तौर पर परिवर्तित होते रहते हैं। नगरपालिका ठोस कचरा (एमएसडब्ल्यू) गैर–हानिकारक ठोस कचरा होता है जिसे संग्रहित करके निपटान अथवा रिसाइकिलिंग के लिए भेजा जाता है। इसमें औद्योगिक प्रक्रियाओं, मल, खनन, कृषि और निर्माण कार्यों इत्यादि की वजह से निकला कचरा शामिल नहीं होता है। इसमें विध्वंस के बाद बचे अवशेष भी शामिल नहीं किए जाते हैं।

उत्पादन के स्रोत के आधार पर एमएसडब्ल्यू को वर्गीकृत किया जा सकता है–

(क) **घरेलू कचरा** : यह कचरा घरों से निकलता है। इसके आम घटक पुराने कागज, प्लास्टिक, कपड़ा, बोतल, सब्जियों के अपशिष्ट इत्यादि होते हैं। पुरानी बैटरी, जूतों की पॉलिश, दवाई, खराब हो चुके सीएफएल बल्ब और पेंट के डिब्बों जैसे सामान अत्यधिक हानिकारक साबित हो सकते हैं और इनका समुचित निपटान करना जरूरी होता है।

(ख) **वाणिज्यिक कचराः** यह कचरा दुकानों, होटलों और गोदामों जैसे वाणिज्यिक स्थलों से पैदा होता है। इसके आम घटकों में खराब सामान, कागज, पैकिंग का सामान, कांच, धातु, प्लास्टिक सब्जी और मछलियों के अपशिष्ट शामिल होते हैं।

(ग) **संस्थागत कचरा** : विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, शोध एवं विकास संगठन, धार्मिक स्थल, सामुदायिक केंद्र इत्यादि से कागज, पॉलीथीलन बैग, स्टेशनरी इत्यादि का कचरा निकलता है।

अशोधित ठोस कचरे के प्रभाव

ठोच कचरे के संपर्क में आने से त्वचा, रक्त और आंत संबंधी बीमारियां हो सकती हैं। इसी तरह संक्रमित धूल से नेत्र और श्वसन संक्रमण हो सकते हैं। इसके अलावा विषैले कचरे से विषाक्तता और रासायनिक जलन हो जाती है।

ठोस कचरा प्रबंधन को बढ़ावा देना

इसके लिए हमें चार तत्वों को ग्रहण करना होगा। ये हैं– मना करना, पुनः प्रयोग, पुनर्चक्रण और घटाव।

(क) **मना करना** : जब तक पहले से मौजूद उत्पादों का पूरा प्रयोग न कर लें, नई वस्तु को स्वीकार न करें।

(ख) **पुनः प्रयोग** : पुरानी चीजों का दुबारा (पुनः) प्रयोग करें।

(ग) **पुनर्चक्रण** : अविकारीय कचरे का पुनर्चक्रण करें। जैविक कचरे से खाद बनाने के लिए उसे एक गड्ढ़े में दबा दें।

(घ) **घटाव** : अनावश्यक कचरा फैलाने से रोकें। जैसे शॉपिंग करते वक्त प्लास्टिक की थैलियों की जगह कपड़े या जूट के थैलों का प्रयोग करें।

टिप्पणी

Table : *Time taken to Degenerate*

Waste	**Time Taken**
Organic waste (fruit peels, stale food)	1–2 weeks
Paper	10–30 days
Cotton cloth	2–5 months
Wood	10–15 years
Wool	1 year
Metal cans	100–500 years
Plastic bags	1 million years

अपनी प्रगति जांचिए

7. ठोस कचरा ज्यादा मात्रा में पैदा होने का कारण निम्नलिखित में से कौन–सा नहीं है?

   (क) जनसंख्या विस्फोट (ख) शहरीकरण

   (ख) खाद्य चक्र (ग) औद्योगीकरण

8. ठोस कचरों का वर्गीकरण निम्न में से किस आधार पर नहीं होता?

   (क) स्रोत (ख) गतिविधि

   (ख) स्थान (ग) पुनर्चक्रण

2.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (घ)
3. (क)
4. (ख)
5. (ग)
6. (ग)
7. (ख)
8. (घ)

2.7 सारांश

आपदा एक दुःखांत घटना होती है जो सामान्य जीवन सहित सामाजिक व व्यक्तिगत विकास को प्रभावित कर देती है। स्रोतों के अनुरूप आपदा दो प्रकार की होती हैं: मानव–जन्य एवं प्राकृतिक। आपदा से बचाव अथवा इसके प्रभावों को न्यूनतम रखने के लिए उपरोक्त दोनों प्रकारों को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। जोख़िमों के अदक्ष प्रबंधन के कारण भी आपदाएं आ सकती हैं। यदि सुरक्षात्मक सावधानियां बरती जाएं तो आपदा के प्रभाव को घटाया जा सकता है। आपदाओं के प्रति विकासशील देश

टिप्पणी

अधिक संवेदनशील होते हैं। पर्यावरणीय आपदा वह अनर्थ अथवा संकट है जिसमें पर्यावरण को प्रत्यक्ष क्षति पहुंचती है एवं गंभीर परिवर्तन आ जाते हैं। इन परिवर्तनों से आगामी आपदा की आधारशिला तैयार हो सकती है। चूंकि पर्यावरणीय आपदाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव पर्यावरण पर पड़ता है, इनसे आर्थिक उन्नति अवरुद्ध हो सकती है, सामाजिक–आर्थिक बाधाएं उत्पन्न हो सकती हैं, पर्यावरणीय स्थितियां विकृत हो सकती हैं अथवा/एवं जीवन संकट में पड़ सकता है।

प्रदूषक को ऐसे जैविक, अजैविक अथवा भौतिक कारक (जैसे ऊष्मा, ध्वनि इत्यादि) अथवा पदार्थ के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसकी अधिकता से पर्यावरण का कोई भाग जीवनयोग्य न रह जाए। प्रदूषित वायु श्वास लेने योग्य नहीं होती, न ही पादप उसमें दक्षता से प्रकाश–संश्लेषण कर पाते हैं। प्रदूषित जल पेय नहीं रह जाता है। प्रदूषित मृदा या तो अनुर्वर (बंजर) हो जाती है अथवा उसमें उगाये गए पौधों में विषाक्तता होती है, उदाहरणार्थ घरेलू नालियों व औद्योगिक नालों के पानी से उगायी गयी फसलें पशुओं के लिए भी हानिप्रद सिद्ध होती हैं। वनाग्नि से उपजी अत्यधिक ऊष्मा एवं वाहनों के माध्यम से किया जाने वाला ध्वनि–प्रदूषण इंद्रियों (नेत्र, कर्ण इत्यादि) की क्षमताओं को क्षीण करता जाता है।

प्रदूषण पारितंत्र में जटिल परिवर्तनों की श्रृंखला को आरंभ कर सकता है। जलीय अथवा वन्य जीवन हेतु संकटकारी हो सकता है। ऐसे प्रसुप्त रोगाणु उत्पन्न हो अथवा फैल सकते हैं जो संक्रामक रोग के कारक के रूप में सक्रिय हो सकते हैं। प्रदूषक जीवनदायी घटकों का नाश करके जीवन–संभावनाओं को सीमित अथवा समाप्त कर सकते हैं। अन्य प्रदूषकों के साथ मिलकर पर्यावरण पर अज्ञात परिणामों का भार डाल सकते हैं।

स्थानीय तौर पर प्रदूषण रोकने में प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका अति महत्वपूर्ण होती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक कार्यकलापों का प्रभाव राज्य व राष्ट्रस्तर पर तो पड़ता ही है अपितु महाद्वीपीय सीमाओं के उस पार भी होता है। यह मनुष्य का उत्तरदायित्व है कि इस धरती का शासक बनने का स्वप्न त्यागकर स्वयं व परिवेश की अन्य प्रजातियों को संभाले। प्रत्येक व्यक्ति के साधारण–से प्रयास अथवा छोटी–सी पहल से भी विश्व पर प्रभाव पड़ता है, फिर चाहे वह प्रत्यक्ष रूप में दिखे अथवा न दिखे। स्थानीय प्रयास प्रभावोत्पादकता के संदर्भ में वैश्विक साबित होता है। इस संदर्भ में कहा जा सकता है– "वैश्विकरूपेण विचारो, स्थानीयरूपेण कारो"।

पृथ्वी का नैसर्गिक ग्रीनहाउस प्रभाव इसे जीवन–क्षम बनाता है। वैसे मानवों की अमानवीय प्रवृत्तियों, यथा जीवाश्म ईंधन–दहन एवं वन–नाश (निर्वनीकरण) के कारण उत्पन्न व बढ़ा दी गयी ग्रीनहाउस गैसों से वायुमंडल का ग्रीनहाउस प्रभाव असंतुलित हो गया है जिससे वैश्विक भूतापोन्नयन का संकट आया है।

ओज़ोन परत–क्षरण एक विश्वस्तरीय क्षति है। तीन ऑक्सीजन परमाणुओं वाला एक ओज़ोन अणु कार्बन मोनो–ऑक्साइड से क्रिया कर लेता है जिससे कार्बन डाइ–ऑक्साइड व ऑक्सीजन की उत्पत्ति होती है। कार्बन मोनो–ऑक्साइड अत्यधिक क्रियाशील गैस है जो वाहनों के धूम्र से अस्थिर अणु के रूप में व्युत्पन्न होती है। ऊपरी वायुमंडल में उपस्थिति ओज़ोन की सघन परत सूर्य से आने वाले घातक पराबैंगनी विकिरण को हर लेती है। इस प्रकार ओज़ोन की स्थूल (मोटी) परत पराबैंगनी विकिरण के मार्ग में प्राकृतिक निस्पंदक (नैचुरल फ़िल्टर) बनी रहती है। इस परत के कृश

टिप्पणी

(पतले) पड़ने अथवा इसमें छिद्र हो जाने से हम सुरक्षात्मक आवरण की रक्षा से वंचित हो जाएंगे। ओज़ोन गैस को कृत्रिम रूप से उपजाने की कोई विधि नहीं होती क्योंकि यह गैस अत्यधिक अस्थिर है एवं कार्बन मोनो–ऑक्साइड गैस से तत्काल क्रिया कर लेती है।

भारत की जनसंख्या का वितरण असमान है, कुछ क्षेत्रों का जनसंख्या–घनत्व अधिक तो कहीं का कम है। अंकगणितीय घनत्व का तात्पर्य किसी स्थान की प्रति इकाई में रहने वाले व्यक्तियों की औसत संख्या है फिर चाहे लोगों अथवा स्थान की गुणवत्ता जैसी भी हो। अंकगणितीय घनत्व में विभिन्न देशों की जनसांख्यिकीय स्थितियों का एक बाहरी व सर्वसाधारण विवरण ही मिल पाता है। अतः इसे उस स्थान/जनसंख्या के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक जीवन के अभिलक्षण के रूप में उपयोग नहीं किया जा सकता।

सन् 2001 की जनगणनानुसार भारत की जनसंख्या 102 करोड़ थी एवं चीनी जनसंख्या 128 करोड़ बतायी गयी। सन् 2050 तक भारत जनसंख्या के संदर्भ में चीन से भी आगे बढ़ सकता है। भारत विश्व के चार सर्वाधिक सघन जनसंख्या युक्त देशों में से एक है। वर्तमान में देशक की जनसंख्या का घनत्व 364 व्यक्ति प्रति वर्गकिलोमीटर है (सन् 2011 की जनगणनानुसार) जबकि सन् 1991 की जनगणनानुसार यह संख्या 269 थी।

विकसित देशों से तुलना की जाने पर भारतीय जनसंख्या की वृद्धि–दर अत्यधिक है किंतु विकासशील देशों अथवा अन्य एशियाई देशों की तुलना में उतनी अधिक नहीं है। नेपाल, पाकिस्तान, बर्मा एवं बांग्लादेश की वृद्धि–दर क्रमशः 2.3, 2.9, 2.4 व 2.7 जबकि भारत की जनसंख्या–वृद्धिदर 2.14 प्रतिशत है। सन् 1901 व सन् 1961 के मध्य नगरीय जनसंख्या की वृद्धि 11–18 प्रतिशत रही जबकि सन् 1961 से सन् 1976 की वृद्धि असामान्य थी। इस अवधि में नगरीय जनसंख्या की वृद्धि 75 प्रतिशत थी एवं ग्रामीण जनसंख्या की वृद्धि 205 प्रतिशत थी। भारतीय जनसंख्या की एक महत्तापूर्ण विशेषता भारतीय जनसंख्या के उस ढांचे में निहित थी जो कि विगत पचास वर्षों तक नियत (स्थिर) रहा। नगरीय जनसंख्या 20 प्रतिशत एवं ग्रामीण जनसंख्या 80 प्रतिशत थी।

समूचे विश्व की 35.6 प्रतिशत जनसंख्या 15 वर्ष के अल्प आयुवर्ग की है। विकसित देशों में यह प्रतिशत विकासशील देशों से कम हो सकता है। सांख्यिकी में स्पष्ट है कि विकसित देशों में 15 से अल्प आयुवर्ग के बच्चे कुल जनसंख्या का 20 प्रतिशत हैं तबकि विकासशील देशों में यह प्रतिशत 20 है। वयस्क ऐसे व्यक्तियों को कहा जाता है जो 15 से 59 वर्षायु के हों। समाज–विज्ञानियों के अनुसार यह आयुवर्ग सर्वाधिक उत्पादक है। वयस्कों को जैविकरूपेण प्रजननकारी, आर्थिकरूपेण उत्पादक एवं जनसांख्यिकीय रूप से सचल माना जाता है। यही वह आयुवर्ग है जो बच्चों व वृद्धों का दायित्व ग्रहण करता है।

भारतीय समाज में स्त्री–पुरुषों के शिक्षा–स्तर में स्पष्ट अंतर है। यह देश भांति–भांति के सामाजिक रिवाजों, धार्मिक पद्धतियों व परंपराओं का देश है जिनके परिणामस्वरूप स्त्रियों व पुरुषों की स्थिति में बड़ा अंतर बना रहता है, अर्थात् लिंग–भेदभाव के कारण समाज व परिवार में भी दोनों की स्थितियां विषम रहती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में मातृमृत्यु–दर विश्व में अत्यधिक है। वैश्विक परिदृश्य में सभी जीवित

टिप्पणी

जन्मों में से 19 प्रतिशत मृत्यु भारत में होती है एवं मातृमृत्यु के समस्त प्रकरणों में से 27 प्रतिशत प्रकरण भारत से होते हैं। यूएन वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार लिंगानुपात के संदर्भ में सबसे ख़राब राज्य पंजाब है जहां सन् 1991 में 875 की संख्या घटकर सन् 2001 में 798 हो गयी। राष्ट्र की राजधानी दिल्ली 47 बिंदु नीचे आ गयी जहां यह आंकड़ा 915 से गिरकर सन् 2001 में 868 हो गया। हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, चण्डीगढ़ एवं अन्य उत्तर भारतीय राज्यों में कन्याभ्रूण–हत्या व बालिका–हत्या अत्यधिक प्रचलित है।

2.8 मुख्य शब्दावली

- **उर्वरता** : उत्पन्न करने की योग्यता।
- **अ–कृषिगत** : जो खेती से संबंधित न हो।
- **वाणिज्य** : व्यवसाय।
- **एनीमिया** : खून की कमी से होने वाली बीमारी।
- **आधिक्य** : अधिकता।
- **रूपांतरित** : परिवर्तित।
- **प्रतिभा–पलायन** : प्रतिभा संपन्न लोगों का प्रवास।
- **प्रयोगक्षम** : प्रयोग करने में सक्षम।

2.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. पर्यावरणीय आपदा क्या है? इनका पर्यावरण पर क्या प्रभाव पड़ता है?
2. प्रदूषक के रूपों का उल्लेख करें।
3. प्रदूषण के प्रभावों के उदाहरण दें।
4. नाभिक संकट से आप क्या समझते हैं?
5. ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन के प्रभाव बताइए।
6. ध्रुव–गलन का तात्पर्य स्पष्ट कीजिए।
7. जनसंख्या वृद्धि से मानव व समूचे पर्यावरण का अहित किस प्रकार से होता है?
8. जनसंख्या आकलन की विधियों का नामोल्लेख करें।
9. भारत में जनसंख्या की दशकीय वृद्धि दर्शाइए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. पर्यावरणीय आपदाओं से संदर्भित विचारणीय स्थितियों का उल्लेख करते हुए इनके कारण एवं स्वरूपों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. पर्यावरण प्रदूषण के प्रकारों एवं उपचारात्मक उपायों पर प्रकाश डालें।

टिप्पणी

3. 'प्रदूषण नियंत्रण में स्थानीय एवं वैश्विक भूमिका' पर व्याख्यात्मक टिप्पणी लिखिए।
4. ग्रीन हाउस प्रभाव किसे कहते हैं? सौर विकिरण के स्वरूपों का उल्लेख कीजिए।
5. ओजोन परत का विलुप्तीकरण क्यों होता है? इसके क्या परिणाम सामने आते हैं? विस्तारपूर्वक बताइए।
6. जनसंख्या वृद्धि गतिकी की अवधारणा स्पष्ट करते हुए जनसंख्या वृद्धि के प्रतिरूपों पर प्रकाश डालें।
7. भारत में जनसंख्या का वितरण एवं घनत्व की स्थिति का आकलन कीजिए और बताइए कि जनसंख्या वृद्धि का दशकीय स्वरूप क्या है?
8. जनसंख्या संघटन क्या है? जनसंख्या एवं जनसांख्यिकीय आकलन पर टिप्पणी लिखिए।
9. जनसंख्या वृद्धि के प्रभावी कारकों का विश्लेषण कीजिए।

2.10 सहायक पाठ्य सामग्री

Allaby, M. Environment. York: Gareth Stevens Publishing, 2000.

Carson, R. Silent Spring. Boston: Houghton Miffin Harcourt, 1962.

Rajagopalan, R. Environmental Studies, 2nd edn. New Delhi: Oxford University Press.

Rangarajan M. and K. Sivaramakrishnan (eds). India's Environmental History-A Reader: (Vol. 1: From Ancient Times to the Colonial Period, Vol. 2: Colonialism, Modernity, and the Nation). New Delhi: Orient Blackswan Press, 2011.

Rangarajan, M (ed). Environmental Issues in India: A Reader. New Delhi: Pearson Longman, 2007.

WCED (World Commission on Environment and Development). Our Common Future. New York: Oxford University Press, 1987.

इकाई 3 प्राकृतिक संसाधन : समस्याएं तथा संरक्षण

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 प्राकृतिक संसाधन : स्वरूप एवं समस्याएं
- 3.2.1 जल संसाधन
- 3.2.2 खनिज संसाधन
- 3.2.3 वन संसाधन
- 3.2.4 भूमि संसाधन
- 3.2.5 खाद्य संसाधन
- 3.2.6 ऊर्जा संसाधन

3.3 प्राकृतिक संसाधन संरक्षण
3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.5 सारांश
3.6 मुख्य शब्दावली
3.7 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

प्रकृति ने हमें अनेक वस्तुएं और सेवाएं प्रदान की हैं, जिन्हें संसाधन कहते हैं। इन संसाधनों से ही धरती पर जीवन संभव हो पाया है। भोजन, पानी और आश्रय जैसे संसाधनों का प्रयोग सभी सजीव प्राणी करते हैं, परंतु मनुष्य इन सभी का उपयोग सबसे ज्यादा करता है। वह सांस लेने के लिए हवा, प्यास बुझाने के लिए पानी, रहने के लिए धरती, ऊर्जा के लिए कोयले व लकड़ी और वस्तुओं के निर्माण के लिए खनिजों और धातुओं का प्रयोग करता है।

विश्व की बढ़ती जनसंख्या (प्रतिवर्ष यह दो फीसदी की दर से बढ़ रही है) और उच्च जीवनशैली के कारण आज धरती के प्राकृतिक संसाधनों पर दबाव बहुत बढ़ गया है। धनवान बनने और बेहतर जीवनशैली पाने की लालसा में मनुष्य यह भूल गया है कि प्राकृतिक संसाधन असीम नहीं हैं। अगर हम इनका ज्यादा दोहन करेंगे तो ये समाप्त हो जाएंगे। प्राकृतिक संसाधनों को समाप्त होने से बचाने के लिए हमें उनका पुनर्चक्रण करना होगा, सौर और पवन ऊर्जा जैसे वैकल्पिक साधनों को अपनाना होगा और संसाधनों का प्रयोग न्यायोचित तरीके से करना होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो हमें संसाधनों का प्रयोग हमारी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, भावी पीढ़ी की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर करना होगा।

खाद्य और परिवहन तकनीकों के विकास ने मानवीय सीमाओं का दायरा बढ़ाया है और खाद्यान्न उत्पादन में भी इजाफा किया है। लेकिन तस्वीर का एक दूसरा पहलू खाद्य दंगों के रूप में सामने आया है। 2011 में कई देशों, खासकर अल्जीरिया और ट्यूनिशिया में इन दंगों ने खूनी रूप धारण कर लिया। करीब एक महीने तक चले दंगों में पुलिस के साथ झड़पों में अनेक नागरिक मारे गए। संयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्य अंतरराष्ट्रीय

टिप्पणी

संगठनों का मानना है कि अगर प्रतिकूल मौसम से फसलों को ऐसे ही नुकसान होता रहा तो ये दंगे संसार के अन्य हिस्सों में भी फैल सकते हैं।

भोजन का विषय अभिन्न रूप से ऊर्जा और भूमि संसाधनों के साथ जुड़ा हुआ है। संसार की जनसंख्या सात अरब हो चुकी है परंतु उपजाऊ भूमि का विस्तार नहीं हुआ है। पृथ्वी की केवल 11 प्रतिशत भूमि ही फसलें उगाने के लिए उपयुक्त है। बढ़ती जनसंख्या से इस पर दबाव बहुत बढ़ गया है। उपज बढ़ाने के लिए गहन कृषि तकनीकों को अपनाया गया है जिसमें भारी मात्रा में उर्वरक, कीटनाशक तथा जुताई, बोआई, रोपाई और कटाई के लिए भारी मशीनरी का प्रयोग होता है। सिंचाई के भी अत्याधुनिक यंत्र आ चुके हैं। हालांकि इन तकनीकों और मशीनों के प्रयोग से भूमि की उर्वरता भी घटती है जिसका प्रभाव फसल उत्पादन पर पड़ रहा है। ऐसा माना जाता है कि संसार की करीब 40 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि की उर्वरता बहुत कम हो चुकी है।

सन् 2050 तक विश्व की जनसंख्या के नौ अरब से भी ज्यादा होने का अनुमान है। विकासशील देशों में ही ज्यादातर जनसंख्या बढ़ेगी। खाद्य पदार्थों की तेज गति से बढ़ती मांग और ऊर्जा की कीमतों में होता इजाफा मिलकर भारत सहित अन्य देशों में खाद्य पदार्थों के मूल्य में बढ़ोतरी करेंगे। यह खाद्य सुरक्षा के लिए गंभीर खतरा है। विश्व आज खाद्य संकट की कगार पर है और अगर वैश्विक खाद्य उत्पादन में बढ़ोतरी नहीं हुई तो और ज्यादा खाद्य दंगे संसार भर में होंगे।

इस इकाई में विभिन्न प्राकृतिक संसाधनों से संबंधित समस्याओं तथा उनके संरक्षण पर विस्तृत विवेचना की गई है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- प्राकृतिक संसाधनों का आशय एवं उनके स्वरूप को समझ पाएंगे;
- जल, वन, भूमि, खाद्य एवं ऊर्जा जैसे प्राकृतिक संसाधनों के महत्व, उनके लाभों एवं उनसे जुड़ी समस्याओं का विश्लेषण कर पाएंगे;
- प्राकृतिक संसाधनों की संरक्षण प्रक्रिया से अवगत हो पाएंगे।

3.2 प्राकृतिक संसाधन : स्वरूप एवं समस्याएं

प्राकृतिक संसाधन प्रकृति के वे उपहार हैं, जो मानव की आवश्यकताओं को पूरा करने में उसकी सहायता करते हैं। पानी, मृदा, हवा, खनिज, कोयला, जंगल और वन्य जीवन प्राकृतिक संसाधनों के उदाहरण हैं। प्राकृतिक संसाधन आपस में संतुलन बनाए रखते हैं। केवल मानव ही वह जीव है जो इस संतुलन को बिगाड़ता है।

प्राकृतिक संसाधनों को कई तरह से वर्गीकृत किया जा सकता है। इनमें से कुछ प्रमुख वर्ग निम्नलिखित हैं–

नवीकरणीय संसाधन : ये ऐसे संसाधन हैं जो प्राकृतिक प्रक्रिया से अपनी पूर्ति जल्द ही कर लेते हैं। पानी, पेड़-पौधे और वन्य जीव इसके उदाहरण हैं। गौर करने वाली बात यह है कि नवीकरणीय संसाधनों की पूर्ति तभी संभव है जब इनके दोहन और इनके

पुन:आकार लेने में संतुलन हो। अगर इनके दोहन की गति इनके दोबारा पैदा होने से तेज है तो ये समाप्त भी हो सकते हैं। यह बात जंगल, पानी और मिट्टी के संबंध में बहुत प्रासंगिक है। कुछ पर्यावरणविदों का मत है कि पानी भी कुछ समय बाद नवीकरणीय संसाधन नहीं रहेगा क्योंकि ग्लोबल वार्मिंग से जल निकाय समाप्त हो रहे हैं। इसका प्रभाव हाइड्रोलॉजिकल चक्र पर भी पड़ रहा है।

यही बात जंगलों पर भी लागू होती है। धरती से जंगल समाप्त होते जा रहे हैं क्योंकि पेड़ों को लकड़ी के लिए जिस तेज गति से काटा जा रहा है उससे बहुत कम गति से पौधे दोबारा उग और बड़े हो रहे हैं। वन आवरण के समाप्त होने से न केवल लकड़ी बल्कि जंगल से प्राप्त होने वाले अन्य उत्पादों की उपलब्धता भी कम हो जाएगी। इसकी वजह से मानसून के समय में बाढ़ आएगी और साल के बाकी महीनों में नदियों का पानी सूख जाएगा।

अनवीकरणीय संसाधन : जो संसाधन लगातार दोहन के कारण समाप्त हो जाते हैं उनको अनवीकरणीय संसाधन कहते हैं। ये ऐसे संसाधन हैं जो अपने आप पुन: पैदा नहीं होते। उदाहरण के लिए तेल और खनिज अनवीकरणीय संसाधन हैं क्योंकि ये सीमित मात्रा में ही उपलब्ध हैं और प्रकृति इन्हें प्राकृतिक प्रक्रिया से दोबारा पैदा नहीं कर सकती। अगर हम भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखे बगैर इनका दोहन करेंगे तो ये एक दिन समाप्त हो जाएंगे। अनवीकरणीय संसाधनों में जीवाश्म ईंधन जैसे पेट्रोल, खनिज और धातुएं शामिल हैं। एक बार अगर ये समाप्त हो गए तो मानव को इनके बगैर ही गुजारा करना पड़ेगा या फिर इनका विकल्प खोजना होगा।

अनवीकरणीय संसाधनों को भी हम आगे दो भागों में बांट सकते हैं–

(क) पुनर्चक्रण योग्य संसाधन : जिन संसाधनों को एक बार प्रयोग करने के बाद दोबारा प्रयोग किया जा सकता हो, उन्हें पुनर्चक्रण योग्य संसाधन कहते हैं। खनिज संसाधन जैसे लोहा, एल्युमिनियम और तांबा तथा उर्वरक पोषक तत्व फास्फेट और पोटाशियम इसके उदाहरण हैं।

(ख) गैर पुनर्चक्रण योग्य संसाधन : इन संसाधनों का एक बार प्रयोग करने के बाद किसी भी हाल में दोबारा प्रयोग नहीं किया जा सकता। जीवाश्म ईंधन और यूरेनियम इसके उदाहरण हैं।

जैविक और अजैव संसाधन

ऐसे प्राकृतिक संसाधन जो स्वयं का पुनर्निर्माण कर लेते हैं उन्हें जैविक संसाधन कहते हैं। प्राय: ये जीवित प्राणी, वन्य जीव, पेड़-पौधे और जलीय जीव आदि होते हैं।

इसके विपरीत अजैव संसाधन, वे संसाधन हैं जो स्वयं का पुनर्निर्माण नहीं कर सकते। अगर उनका पुनर्निर्माण होता भी है तो यह इतनी धीमी गति से होता है कि ये मानव के किसी काम के नहीं रहते। कच्चा तेल और भूमि इसके उदाहरण हैं।

संसाधन और मंडल

प्राकृतिक संसाधन चार मंडलों में पाए जाते हैं। ये हैं- (क) वायुमंडल, (ख) जलमंडल, (ग) स्थलमंडल, (घ) जीव मंडल। इनका आगे विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

टिप्पणी

वायुमंडल

पृथ्वी के आसपास मौजूद गैसों के आवरण को वायुमंडल कहते हैं। यह कई परतों में बंटा होता है। पृथ्वी की सतह के सबसे करीब की परत को क्षोभमंडल कहते हैं। यह करीब 12 किलोमीटर चौड़ी है और यह इतनी ही गर्म है कि इसमें मानव जीवन संभव है। क्षोभमंडल से ऊपर समतापमंडल है जिसमें सल्फेट भरा है और यह बरसात के बनने में अहम भूमिका निभाता है। इसके अलावा इसमें ओजोन परत भी समाहित है जिसके बिना पृथ्वी पर जीवन संभव नहीं है। वायुमंडल को सूर्य समान रूप से गर्म नहीं करता है बल्कि यह पृथ्वी के अलग-अलग भागों में भिन्न-भिन्न होता है और यही कारण है कि मौसम, तापमान और वर्षा के प्रकार भी अलग-अलग होते हैं। वायुमंडल हमें सांस लेने के लिए ऑक्सीजन उपलब्ध कराता है।

जलमंडल

पृथ्वी की जलसतह इसका जलमंडल है। पृथ्वी का दो तिहाई हिस्सा पानी से ढका है। इसमें से ज्यादातर समुद्र का पानी है और कुछ हिस्सा ही स्वच्छ जल है। स्वच्छ जल वह जल है जो नदियों, झीलों, हिमनदियों और धरती के नीचे मौजूद जलभंडार से मिलता है।

जलमंडल हमें पीने, नहाने, खाना पकाने के साथ ही उद्योग और सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध कराता है। यह भोजन (मछली, समुद्री शैवाल, आदि) का भी स्रोत है और इससे बिजली भी बनाई जाती है। आज जलमंडल उद्योगों और सीवरेज से निकले कचरे के कारण प्रदूषित हो रहा है। इस कचरे को नदियों और समुद्रों में डाला जा रहा है जिससे पानी गंदा हो रहा है। यह हर जीवित प्राणी के स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचा रहा है क्योंकि सभी को स्वच्छ जल की आवश्यकता होती है।

स्थलमंडल

पृथ्वी के स्थलमंडल का निर्माण आज से करीब 4.5 अरब साल पहले हुआ था। आरंभ में यह अत्यंत गर्म था। इसी कारण इस पर तब जीवन संभव नहीं था। 3.2 अरब साल पहले यह ठंडा हुआ और इस पर जीवन की शुरुआत हुई। पृथ्वी की परत करीब सात किलोमीटर मोटी है और यह करीब 90 तत्वों से मिलकर बनी है। इनमें से ऑक्सीजन (47 प्रतिशत), सिलीकॉन (28 प्रतिशत), एल्युमिनियम (8 प्रतिशत) और लोहा (5 प्रतिशत) आदि कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व हैं। स्थलमंडल भूमि उपलब्ध कराता है जो चट्टानों के टूटने और आकार बदलने से बनी है। इसके अलावा यह पत्थर, बालू और बजरी भी प्रदान करता है जिनका प्रयोग निर्माण कार्यों में होता है। यह सूक्ष्म जीवों के उत्पन्न होने में भी मदद करता है। ये जीव मिट्टी को समृद्ध बनाते हैं। इसके अलावा स्थलमंडल तेल, कोयला और गैस जैसे खनिज और ऊर्जा के साधन भी हमें देता है।

जीवमंडल

वायुमंडल के पास की वह परत जिस पर जीवन पाया जाता है धरती का जीवमंडल है। यह अपेक्षाकृत एक पतली परत है। यह सभी जीवों को भोजन प्रदान करती है। इसके अलावा यह ऊर्जा के साधनों और निर्माण कार्य में प्रयोग होने वाले जैव ईंधन, लकड़ी और जैव पदार्थ भी उपलब्ध कराती है।

इन चारों क्षेत्रों के बीच एक मजबूत संबंध है और ये एक-दूसरे से जुड़े होने के बाद भी स्वतंत्र हैं। इससे एक संतुलन बना रहता है। एक भी क्षेत्र का संतुलन गड़बड़ाने का असर बाकी के तीन क्षेत्रों पर पड़ता है।

टिप्पणी

3.2.1 जल संसाधन

जल वह प्राकृतिक संसाधन है जो जीवन का मूल आधार है। पानी का उपयोग खेती करने, घरेलू कार्यों, उद्योग आदि में होता है। धरती का करीब 70 प्रतिशत भाग पानी से ढका है। इसमें से 97.5 प्रतिशत पानी नमकीन है और बाकि बचा 2.5 प्रतिशत पानी ही पीने के योग्य है। इस ढाई प्रतिशत में से भी करीब 70 प्रतिशत पानी ग्लेशियरों और ध्रुवीय बर्फ चोटियों में बर्फ के रूप में जमा हुआ है। तरल के रूप में उपलब्ध पानी का ज्यादातर हिस्सा हमें भू-जल के रूप में मिलता है और बहुत कम पानी ही जमीन की सतह से ऊपर है। विश्व में करीब 70 प्रतिशत पानी का प्रयोग खेती, 25 प्रतिशत उद्योगों और 5 प्रतिशत पानी का घरेलू कार्यों के लिए उपयोग होता है।

भारत में 90 प्रतिशत पानी का प्रयोग खेती, 7 प्रतिशत पानी उद्योग और केवल 3 प्रतिशत का प्रयोग घरेलू कामों में होता है। मीठा पानी एक नवीकरणीय संसाधन है परंतु बढ़ती जनसंख्या के कारण जल संसाधनों पर दबाव बहुत बढ़ गया है और धीरे-धीरे साफ पीने योग्य पानी की कमी होती जा रही है। विश्व के कई भागों में तो पानी की मांग बहुत ज्यादा बढ़ चुकी है और वहां हालात चिंताजनक हो गए हैं। अगर जनसंख्या ऐसे ही बढ़ती रही तो विश्व के कई भागों में पीने के लिए पानी कम पड़ जाएगा।

भूतल और भूमिगत जल

भूतल जल वह पानी है जो झीलों, नदियों और झरनों में पाया जाता है। इस तरह के पानी का पुनर्भरण प्राकृतिक रूप से तेजी से होता है और यह प्राकृतिक रूप जैसे, वाष्पीकरण, समुद्र में बहकर और निचले स्थानों की ओर जाकर, नष्ट भी होता है। ब्राजील में भूतल जल सबसे ज्यादा पाया जाता है। इसके बाद रूस और कनाडा में यह प्रचुर मात्रा में मिलता है। चीन और भारत में पानी की कमी है। इन दोनों देशों में प्रतिवर्ष करीब 2000 घन किलोलीटर पानी उपलब्ध होता है। भूमिगत जल वह पानी है जो धरती की सतह के नीचे पाया जाता है। यह सतह के नीचे मिट्टी या भूगर्भिक तह में मिलता है। धरती में बूंद-बूंद कर पानी समाता जाता है। इसमें से करीब 10 से 20 फीसदी के करीब ही पानी सतह के नीचे भूमिगत जल के भंडारों तक पहुंच पाता है। ऐसा माना जाता है कि 50 लाख घन किलोलीटर से ज्यादा मात्रा में भूमिगत जल धरती के नीचे है। इसमें से करीब 4 लाख घन किलोलीटर का प्रयोग किया जा चुका है। भारत में करीब 1090 घन किलोलीटर प्रयोग करने योग्य पानी भूतल और भूमिगत जल के रूप में मौजूद है।

जल संसाधनों का उपयोग और अति उपभोग : कारण और प्रभाव

मीठा पानी लाभकारी और हानिकारक दोनों ही तरह का हो सकता है और इसके भिन्न-भिन्न प्रयोग होते हैं। विश्व में 70 प्रतिशत मीठे पानी का प्रयोग खेती के लिए और 25 प्रतिशत पानी का प्रयोग उद्योगों में होता है। इस पानी के ज्यादातर हिस्से का उपयोग ऊर्जा संयंत्रों में, खासकर ऊर्जा स्रोतों को ठंडा करने, तेलशोधन कारखानों में रासायनिक प्रक्रिया के लिए और रसायन उद्योग में शोधक्षम के लिए प्रयोग किया जाता है। केवल 5 प्रतिशत पानी का ही उपयोग घरेलू कार्यों जैसे पीने, खाना बनाने, सफाई आदि में होता है।

पानी का प्रयोग मनोरंजन के लिए भी होता है जैसे नौकाविहार व तैराकी आदि। बढ़ती जनसंख्या के साथ ही पानी की मांग भी बहुत बढ़ गई है। ऐसे क्षेत्र जहां पानी के

टिप्पणी

संसाधन पर्याप्त नहीं हैं वहां अब पानी की मांग को पूरा नहीं किया जा सकता। वहीं दूसरी ओर कुछ जगहों पर पानी का अत्यधिक उपयोग किया जा रहा है। हम कई तरीकों से पानी को प्रदूषित भी कर रहे हैं। हम साबुन और डिटर्जेंट का प्रयोग करते हैं जिसमें फॉस्फोरस होता है। यह पानी के लिए बहुत घातक है। इसी तरह फसलों में भारी मात्रा में उर्वरक और कीटनाशक डाले जा रहे हैं जो भूतल और भूमिगत जल दोनों को ही दूषित कर रहे हैं। इसी तरह कारखानों और उद्योगों से निकलने वाले घातक कचरे को भी नदियों, नहरों और समुद्र में डाला जा रहा है जिससे विषैले पदार्थ पानी में मिल रहे हैं। ये सारे घटक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जल संकट में योगदान दे रहे हैं।

वर्ष 2011 में विश्व की जनसंख्या सात अरब से ज्यादा हो गई थी। और 2025 तक यह आंकड़ा आठ अरब को पार कर जाएगा। वर्तमान में पानी की मांग करीब सात हजार घन किलोलीटर है जो 2025 तक बढ़कर नौ हजार घन किलोलीटर हो जाने का अनुमान है। इसी कारण जल संसाधनों पर दबाव बहुत बढ़ जाएगा। आज 3800 घन किलोलीटर मीठे पानी का दोहन किया जा रहा है जो कि आज से पचास साल पहले के मुकाबले दोगुना है। एक व्यक्ति को प्रतिदिन 20 से 40 लीटर तक पानी पीने और सफाई के लिए चाहिए। हालांकि विश्व के करीब एक अरब लोगों को स्वच्छ पानी उपलब्ध नहीं हो रहा है। भारत में प्रति व्यक्ति पानी की उपलब्धता 1991 में 2300 घन किलोलीटर थी जो 2001 में 1900 घन किलोलीटर रह गई। ऐसा अनुमान है कि ये उपलब्धता 2025 में 1400 घन किलोलीटर और 2050 में 1200 घन किलोलीटर तक पहुंच जाएगी।

अंतरराष्ट्रीय नियमों के अनुसार जब किसी देश में प्रति व्यक्ति जल उपलब्धता 1700 घन किलोलीटर प्रतिवर्ष से कम होती है तो उस स्थिति को पानी की कमी वाली स्थिति और अगर प्रतिव्यक्ति उपलब्धता 1000 घन किलोलीटर से कम हो तो उसे जल दुर्लभता की स्थिति कहते हैं। इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि भारत पानी की कमी वाली स्थितियों के देशों की कतार में शामिल है।

ऐसी भविष्यवाणियां की गई हैं कि 2025 तक संसार की दो-तिहाई आबादी पानी की तंगी का सामना करेगी। आज करीब 31 देशों में पानी की कमी है। 2025 तक यह संख्या बढ़कर 50 होने का अनुमान है। इससे पानी के बंटवारे को लेकर देशों के बीच तनाव बढ़ेगा जो संघर्ष का रूप भी धारण करेगा। भारत में तो पानी के लिए संघर्ष कोई नई बात नहीं है। उदाहरण के लिए कर्नाटक और आंध्र प्रदेश कृष्णा नदी और तमिलनाडु और कर्नाटक कावेरी नदी के पानी के बंटवारे को लेकर झगड़ रहे हैं।

जल आपदाएं : बाढ़ और सूखा

मानवीय क्रियाकलापों से बड़े पैमाने पर निर्वनीकरण हो रहा है। इससे ग्रीनहाउस प्रभाव उत्पन्न हो रहे हैं और ये वायुमंडलीय संघटन को बदल रहे हैं। इसके अलावा बांधों के निर्माण से नदियां प्रभावित हो रही हैं। नदियों के बहाव को अप्राकृतिक ढंग से बदला जा रहा है। इससे नदियों, झीलों और धाराओं के पानी को नहरों के द्वारा अन्यत्र ले जाया जा रहा है। इन सब से वाष्पीकरण बढ़ रहा है। जलविज्ञान की परिस्थितियां मानवीय क्रियाकलापों से बुरी तरह प्रभावित हो रही हैं, जिससे बाढ़ और सूखा जैसी समस्याएं बढ़ रही हैं।

टिप्पणी

बाढ़

बाढ़ सदियों से एक पर्यावरणीय खतरा बनी हुई है। हर साल करीब आठ लाख हेक्टेयर क्षेत्र बाढ़ की चपेट में आता है। समय के साथ-साथ बाढ़ की भयावहता भी बढ़ी है। इससे बड़ी तादात में मानव और जानवरों की जान जाती है और फसलों और आवासों को भी बहुत नुकसान पहुंचता है।

भारत में आमतौर पर बाढ़ मानसून के समय (जून से सितंबर) आती है। भारी और लंबे समय तक बारिश होने से झीलों और नदियों का जलस्तर बढ़ जाता है जो बाढ़ और जलभराव का रूप धारण कर लेता है। इससे भूमि के पोषक तत्व बह जाते हैं और ऊपरी सतह कट जाती है।

भारत में बाढ़ के मुख्य कारण हैं- नदियों के तटों का कमजोर होना, तटों का कटाव, नदी के तल में गाद जमा होना, भूस्खलन (जिससे नदी के बहाव में अवरोध उत्पन्न होता है और नदी अपना रास्ता बदल लेती है), बाढ़ प्रभावित क्षेत्रों में जलनिकासी के अपर्याप्त प्रबंध तथा ग्लेशियरों में विस्फोट आदि।

बाढ़ के प्रभाव बहुत भयानक हैं। बाढ़ लोगों की जान लेने और उन्हें विस्थापित करने के अलावा फसलों को तबाह करती है, बीमारियां फैलाती है और घरों को तहस-नहस कर देती है। यह उपजाऊ भूमि को कीचड़ से भर देती है।

सूखा

भारत में करीब 50 लाख हेक्टेयर जमीन सूखा प्रभावित है। पर्याप्त मात्रा में या फिर लंबे समय तक बारिश न होने से सूखा उत्पन्न होता है। भारत में यह एक गंभीर समस्या है, खासकर शुष्क और अर्धशुष्क क्षेत्रों में। यह ऐसी जलवायु स्थिति है जिसका पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता। मानसून के एक या ज्यादा सालों तक बारिश न आने से यह पैदा होती है। सूखे को हम निम्नलिखित वर्गों में बांट सकते हैं-

- **मौसमी सूखा :** उच्च तापमान, कम आर्द्रता, तेज धूप और तेज हवा वाष्पीकरण और वाष्पोत्सर्जन को जन्म देती है और इससे मौसमी सूखे की स्थिति उत्पन्न होती है। पानी की अत्यधिक कमी हो जाती है और ये स्थितियां अंतस्पंदन, अपवाह, अंतस्त्रवण तथा भूमिगत जल के पुनर्भरण को कम कर देती हैं।
- **कृषिक सूखा :** बारिश की कमी से यह पैदा होता है। इससे मिट्टी में पानी की कमी हो जाती है। इससे कम पैदावार, पौधों का मुरझाना और जैव ईंधन की कमी जैसी समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।
- **जलविज्ञान संबंधी सूखा :** कम बारिश के कारण तलीय पानी की कमी होने से यह सूखा उत्पन्न होता है। इससे नदियों और धाराओं में पानी की कमी हो जाती है। यह झीलों और वन्यजीवों के आश्रयों को प्रभावित करता है।

पानी के लिए संघर्ष

शब्द 'जल संघर्ष' का प्रयोग देशों, राज्यों या समूहों के बीच जल संसाधनों के उपयोग को लेकर होने वाले संघर्षों के लिए किया जाता है। बढ़ती जनसंख्या और शहरीकरण के कारण पानी की मांग बहुत बढ़ गई है और अब पानी एक मूल्यवान वस्तु बनता जा रहा

टिप्पणी

है। पानी की वर्तमान उपलब्धता मांग को पूरा नहीं कर सकती। पानी का देशों के बीच असमान वितरण संघर्षों को बढ़ावा दे रहा है। पश्चिम एशिया और अफ्रीका सहित संसार के कई भागों में आज पानी को लेकर ही पड़ोसी देशों में तनाव बढ़ रहा है। सबसे बड़ा महाद्वीप एशिया गंभीर जलसंकट से जूझ रहा है। यहां आज पांच में से एक व्यक्ति को पीने के लिए साफ पानी नहीं मिल रहा है। दूसरे शब्दों में कहें तो करीब 70 करोड़ लोग स्वच्छ पानी से महरूम हैं। बढ़ता शहरीकरण, जनसंख्या विस्फोट और तेजी से हो रहा जलवायु परिवर्तन आगे इस संकट को और भी बढ़ाएगा।

दक्षिण एशिया में भारत, नेपाल और बांग्लादेश में ब्रह्मपुत्र नदी के पानी के बंटवारे को लेकर विवाद चल रहा है। भारत में ही कावेरी (कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल) और कृष्णा नदी (आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और महाराष्ट्र) के पानी को लेकर झगड़े हो रहे हैं।

बांध : लाभ और समस्याएं

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में करीब 300 बड़े बांध थे। सन् 2000 तक यह आंकड़ा 4000 तक जा पहुंचा। इनमें से आधे से भी ज्यादा बांधों का निर्माण 1971 से 1989 के बीच हुआ। बांध निर्माण के क्षेत्र में भारत का विश्व में तीसरा स्थान है। पहले स्थान पर अमेरिका और दूसरे पर चीन है। भारत में बांधों का निर्माण मुख्यत: सिंचाई के लिए पानी हेतु किया गया था। ये बांध बाढ़ नियंत्रण, पेयजल और पनबिजली उत्पादन के लिए भी काम आते हैं।

भारत में सिंचाई के लिए बनाए गए बांध मुख्यत: तटबंध बांध हैं जिनका निर्माण किसी नदी की घाटी के बीच में दीवार बनाकर किया गया है ताकि नदी की धारा के प्रतिकूल एक जलाशय बन जाए तथा दीवार के अधिप्लव मार्ग और गेटों से नदी के प्रवाह को भी बरकरार रखा जा सके। इसमें नहरों का जाल भी बिछाया जाता है जो नीचे के क्षेत्रों में सिंचाई के लिए पानी की आपूर्ति करता है। बांध एक बहुउद्देशीय परियोजना होती है जिसका निर्माण सिंचाई के अलावा और कई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। खेती के लिए पानी का भंडारण, बिजली उत्पादन, बाढ़ से बचाव और कैचमेंट एरिया का वनीकरण आदि बांध के लाभ हैं।

बांधों ने कृषि उत्पादन बढ़ाने में अहम योगदान दिया है। 1951 से 2000 के बीच भारत का अनाज उत्पादन चार गुना बढ़ गया था। पहले यह जहां 51 मिलियन टन था वह 2000 में बढ़कर 200 मिलियन टन हो गया। जहां पहले भारत अनाज का आयात करता था, वहीं अब उसके पास अतिरिक्त मात्रा में अनाज उपलब्ध है।

बांधों के जहां फायदे हैं वहीं ये पर्यावरण और समाज को हानि भी पहुंचाते हैं। जलग्रहण क्षेत्रों (कैचमैंट एरिया) में रहने वाले समुदायों का विस्थापन, बहूमूल्य खेती योग्य और वन भूमि का डूब जाना तथा आसपास के क्षेत्रों में जलभराव और लवणता आने से कृषि उत्पादन में गिरावट आ जाना आदि इसकी हानियां हैं। बड़े पैमाने पर पानी खड़ा रहने से जल जनित बीमारियां जैसे मलेरिया, फाइलेरिया रोग और अंधापन जैसी बीमारियां भी फैलती हैं। जो लोग बांधों से प्रभावित होते हैं वे प्राय: जनजातियों से संबंध रखने वाले

और गरीब किसान होते हैं। ऐसा देखने में आया है कि इनको पूरा मुआवजा नहीं दिया जाता और ये अपनी जमीन और आजीविका दोनों ही खो देते हैं।

टिप्पणी

सतत जल प्रबंधन

वैश्विक जल संकट को टालने के लिए संसार भर के लोगों को समस्या की गंभीरता से रूबरू कराना होगा और उन्हें जल संरक्षण तकनीकों की जानकारी देनी होगी। ये तकनीकें हैं–

- बड़ी परियोजनाओं की जगह छोटे जलाशयों का निर्माण किया जाए।
- जलग्रहण बांधों और झीलों का विकास किया जाए।
- वनीकरण को बढ़ावा दिया जाए ताकि भूमिगत जल का पुनर्भरण हो और बड़े बांध बनाने की नौबत ही न आए।
- शहरों से निकले सीवरेज तथा अन्य गंदे पानी का पुनर्चक्रण कर इसे खेती योग्य बनाया जाए।
- बांधों और नहरों में रिसाव न होने दिया जाए।
- शहरी क्षेत्रों में बारिश के पानी के संरक्षण को अनिवार्य किया जाए।
- टपक सिंचाई जैसी प्रभावी सिंचाई प्रणालियों को अपनाया जाए।
- जल उपयोग पर शुल्क को इस तरह लगाया जाए कि लोगों को इसके मूल्य का ज्ञान हो और वे समझदारी से इसका उपयोग करें।

3.2.2 खनिज संसाधन

खनिज धरती पर प्राकृतिक रूप से पैदा होते हैं और ये भौतिक गुणों के समानुरूप और विशिष्ट संग्रह होते हैं जैसे लोहा, मैंगनीज, बाक्साइट और सोना आदि। खनिज ईंधन में कोयला, तेल, प्राकृतिक गैस और रेडियोधर्मी खनिज शामिल हैं। मनुष्य लौहयुग से ही खनिजों का दोहन कर रहा है। उसी युग में मानव ने लोहे के औजार बनाने शुरू किए थे। औद्योगिक क्रांति के बाद से तो खनिजों के उपभोग की गति अत्यंत तीव्र हो चुकी है। खनिज बहुत से उद्योगों के लिए कच्चे माल का काम करते हैं। खनिजों की प्रचुरता किसी भी देश को औद्योगिक रूप से विकसित करने में बहुत सहायता करती है।

भारत खनिज संसाधनों के मामले में सम्पन्न देश है। यहां लौह अयस्क, तांबा अयस्क, क्रोमाइट, जस्ता, सोना, मैगनीज अयस्क, बॉक्साइट और चांदी जैसी धातुएं बड़ी मात्रा में मिलती हैं। वहीं गैर धातु खनिजों की बात करें तो यहां चूना पत्थर, मैग्नेटाइट, डोलामाइट, केओलिन, फास्फोराइट, स्टीटाइट और जिप्सम भी उपलब्ध हैं। भारत अभ्रक ब्लॉक और अभ्रक सप्लिटिंग्स का विश्व भर में बड़ा उत्पादक है।

विश्व में क्रोमाइट की बढ़ती मांग को देखते हुए भारत ने अब क्रोमाइट उत्पादन में विश्व में तीसरा स्थान पाने के लिए कदम बढ़ा दिए हैं। भारत कोयला और लिग्नाइट उत्पादन में तीसरे, लौह अयस्क उत्पादन में चौथे, बॉक्साइट और मैगनीज अयस्क के उत्पादन में छठे, एल्युमिनियम उत्पादन में दसवें और कच्चे इस्पात के उत्पादन में संसार में ग्यारहवें स्थान पर है।

टिप्पणी

***Figure** India's Mineral Wealth*

खनिज संसाधनों का अत्यधिक उपभोग

खनिज अनवीकरणीय संसाधन हैं। इनके भंडार सीमित हैं और अगर ये एक बार समाप्त हो गए तो फिर दोबारा पैदा नहीं होंगे। तेजी से बढ़ती जनसंख्या और तीव्र औद्योगिकीकरण के कारण खनिज और खनिज तेलों की खपत बड़ी तेज गति से हो रही है। प्रायः खनिजों का उपभोग असतत तरीके से हो रहा है जो चिंता को और बढ़ाता है। यह स्थिति संसाधनों को पूर्णतया समाप्त होने की ओर अग्रसर कर रही है। अगर खनिज संसाधन खत्म हो गए तो मानव जीवन के अस्तित्व पर ही संकट के बादल मंडरा जाएंगे।

खनिज संसाधनों के अति उपभोग के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं–

- नवीनतम परिष्कृत तकनीकों से संसाधनों का दोहन बहुत तेज गति और बड़े पैमाने पर हो रहा है।
- बढ़ती जनसंख्या के कारण खनिजों की मांग बहुत ज्यादा बढ़ गई है।
- उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण लोग ऐसी चीजों का उपभोग भी बहुत ज्यादा कर रहे हैं, जिनका उपयोग अनिवार्य नहीं है, जैसे गहने और सौंदर्य प्रसाधन। उदाहरण के लिए अमेरिका का औसत व्यक्ति विश्व के अन्य व्यक्तियों के मुकाबले पांच गुना ज्यादा ऊर्जा खर्च करता है। वह चीन के व्यक्ति से 10 गुना और किसी

टिप्पणी

भारतीय से 20 गुना ज्यादा ऊर्जा का उपयोग करता है। ये आंकड़े वर्ल्डवॉच इंस्टिट्यूट की स्टेट ऑफ द वर्ल्ड रिपोर्ट में प्रकाशित हुए हैं।

- खनिज संसाधनों के अत्यधिक उपभोग का पर्यावरण पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। वस्तुओं और कच्चे माल की बढ़ती मांग के कारण खनन कार्य दस गुना बढ़ गया है। अगर खनिजों का उपयोग इसी तेज गति से होता रहा तो उनके भंडार जल्द ही खत्म हो जाएंगे।
- औद्योगिकीकरण और शहरीकरण के कारण ऊर्जा की खपत में बढ़ोतरी हो रही है। इससे जीवाश्म ईंधन जैसे कोयला, पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस आदि की खपत बहुत बढ़ गई है। जीवाश्म ईंधन की तेजी से हो रही खपत से न केवल इनके भंडारों के खाली होने का खतरा बढ़ गया है बल्कि इससे प्रदूषण ज्यादा हो गया है और वायुमंडल में कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा भी ज्यादा हो रही है। यह ग्रीनहाउस प्रभावों और ग्लोबल वार्मिंग का मुख्य कारण है।

खदान सुरक्षा

खनन एक बहुत ही दुष्कर और खतरनाक व्यवसाय है। खदान श्रमिकों की सुरक्षा खान मालिकों के लिए एक चुनौती भरा कार्य है। खतरे का स्तर एक खदान से दूसरी खदान में अलग-अलग होता है। आमतौर पर तल का खनन भूमिगत खनन से कम खतरनाक होता है। इसी तरह धातु खनन कार्य कोयले के खनन से ज्यादा सुरक्षित है।

भूमिगत खदानों में दुर्घटनाएं खदान की छत ढहने, पहाड़ गिरने, जलभराव, अपर्याप्त वायुसंचार और विस्फोट के कारण होती हैं। इसके अलावा खदान श्रमिकों को कई गंभीर बीमारियां लगने का भी खतरा रहता है। काम करते समय श्रमिकों के शरीर में खनिज और धूल के कण जाते हैं। इससे उनके फेफड़े प्रभावित होते हैं। इस कारण उन्हें क्लोमगोलाणुरुग्णता नामक रोग हो जाता है जिसे आमतौर पर ब्लैक लंग भी कहा जाता है। यूरेनियम की खदानों में काम करने वाले श्रमिकों को विकिरण का खतरा रहता है। इसी तरह कोयले की खदान में काम करने वाले मजदूर प्राय: मिथेन गैस की चपेट में आ जाते हैं। इसके अलावा पत्थर तोड़ने के लिए प्रयोग में लाया जाने वाला डायनामाइट भी श्रमिकों को नुकसान पहुंचाता है।

खनन की पर्यावरणीय समस्याएं

पर्यावरणविद खनन को पारिस्थितिकी के लिए सबसे घातक मानते हैं। ज्यादातर खनिज और धातु की खदानें घने वन क्षेत्रों में मिलती हैं। इनकी खुदाई के लिए वनों को काटा जाता है जो बड़े क्षेत्र में निर्वनीकरण को जन्म देता है। खदानों से निकला कचरा भूमि, पानी और हवा को प्रदूषित करता है और खदान श्रमिकों तथा खदानों के आसपास रहने वाले लोगों के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

3.2.3 वन संसाधन

धरती के किसी भी हिस्से पर पेड़-पौधों, जड़ी-बूटियों, लताओं आदि के घने विकास को वन कहते हैं। वन पेड़-पौधों और जीवों की बहुत सी प्रजातियों का घर है और लकड़ी और अन्य उत्पादों का एक बड़ा गोदाम। वन धरती के फेफड़े के रूप में भी काम करता है। प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया से पौधे सौर ऊर्जा को अवशोषित कर लेते हैं और कार्बन डाईऑक्साइड का प्रयोग अपना भोजन बनाने के लिए करते हैं। इस प्रक्रिया में जहां कार्बन

डाईऑक्साइड को अवशोषित किया जाता है वहीं ऑक्सीजन को छोड़ा जाता है जो जीवों के जीवन के लिए अति आवश्यक है। अगर वनों को काट दिया जाए तो वायुमंडल में कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाएगी।

टिप्पणी

कार्बन डाईऑक्साइड एक ग्रीनहाउस गैस है, जो वायुमंडल में गर्मी बढ़ाती है, जिससे पृथ्वी का तापमान बढ़ता है। उष्णकटिबंधीय वनों के पेड़-पौधे और भूमि विश्वभर की करीब 450-600 अरब मीट्रिक टन कार्बन डाईऑक्साइड अपने में समेटे हैं।

वनों के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं-

- **सुरक्षा :** बाढ़, सूखा और भूमि कटाव को रोकते हैं तथा ऑक्सीजन उपलब्ध कराते हैं और कार्बन डाइआक्साइड को सोखते हैं।
- **उत्पादक :** लकड़ी, दवाइयां, लुगदी और कागज सहित कई वस्तुए मुहैया कराते हैं।
- **सहायक :** मनोरंजन और विश्राम में सहायक तथा विविध वन्य जीवों का आश्रय स्थल।

वनों का उपयोग

वन एक अत्यंत महत्वपूर्ण नवीकरणीय प्राकृतिक संसाधन है। वन कई तरीकों से मनुष्यों के काम आते हैं।

लकड़ी : लकड़ी वनों का एक महत्वपूर्ण उत्पाद है। यह निर्माण कार्यों और फर्नीचर बनाने में काम आती है।

ईंधन : वनों से प्राप्त लकड़ी का प्रयोग आग जलाने और खाना पकाने के लिए किया जाता है। इसके अलावा लकड़ी से चारकोल, कोल गैस और कोयला भी मिलता है, जिनका प्रयोग ईंधन के रूप में होता है।

आवास : वन पक्षियों, कीड़ों और स्तनधारियों की लाखों प्रजातियों को आवास भी उपलब्ध कराते हैं।

भोजन : फल, बीज, पत्ते, मेवे और पेड़-पौधों की जड़ें भी हमें वनों से मिलती हैं जिनका प्रयोग खाने के लिए किया जाता है।

कागज : बांस और लकड़ी की लुगदी का प्रयोग कागज बनाने के लिए किया जाता है।

वन उत्पाद : शहद, गोंद, मसाले और जड़ी-बूटियां आदि अन्य उत्पाद भी हमें वनों से मिलते हैं।

पर्यावरण में वनों की भूमिका

वन न केवल बहुमूल्य उत्पाद ही मनुष्य को उपलब्ध कराते है बल्कि ये पर्यावरण को स्वच्छ रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

जल संरक्षण : वन जल संरक्षण में भी सहायक हैं। ये बारिश लाते हैं और वाष्पीकरण के द्वारा बाढ़ को रोकते हैं। इसके अलावा ये भू-जलभंडारों का पुनर्भरण करते हैं।

भू-संरक्षण : वन भूमि की संरचना और रासायनिक गुणों को प्रभावित करते हैं। ये पानी और हवा के वेग को रोककर भूमि का कटाव रोकते हैं। पेड़-पौधों की जड़ें मिट्टी के कणों को कसकर बांध देती है, जिससे भूमि कटाव नहीं होता।

टिप्पणी

ग्रीनहाउस प्रभावों पर नियंत्रण : पौधों की हरी पत्तियां वायुमंडल से कार्बन डाईऑक्साइड को सोख लेती हैं और ग्रीनहाउस प्रभावों को नियंत्रित रखती हैं।

जलवायु नियंत्रण : पौधे विकृत ऊर्जा को सोखकर, पौधों के जैव ईंधन के रूप में रूपांतरित कर देते हैं, कार्बन डाईऑक्साइड, पानी और खनिजों को अपने में समेटते हैं और ऑक्सीजन छोड़ते हैं। इससे जलवायु नियंत्रित रहती है।

प्रदूषण नियंत्रण : वन भूमि और वनस्पति हानिकारण प्रदूषकों के अवशोषक का काम भी करते हैं। ये इनको सोख लेते हैं और इससे पर्यावरण में प्रदूषण कम होता है।

वनों के अति उपभोग से अभिप्राय वनों के पुनर्वनारोपण की गति से कई गुना ज्यादा कटाव से है। जब किसी नवीकरणीय संसाधन की कटाई इस स्तर पर की जाती है कि उसके सदा के लिए समाप्त होने का ही खतरा उत्पन्न हो जाए तो उस स्थिति को भी अति उपभोग कहा जाता है।

वनों के अति उपभोग का एक बड़ा कारण लकड़ी की बढ़ती हुई मांग है। इसके अलावा कागज के लिए लकड़ी की मांग में हो रहा लगातार इजाफा भी इसके लिए उत्तरदायी है। कई देशों में ईंधन के लिए भी लकड़ी का बड़े पैमाने पर प्रयोग होता है। एक अनुमान के अनुसार विकासशील देशों में करीब तीन अरब लोग आग और खाना पकाने के लिए लकड़ी पर ही आश्रित हैं। वनों का अति उपभोग वनोन्मूलन या निर्वनीकरण की ओर ले जा रहा है।

निर्वनीकरण और इसके प्रभाव

वनों को समाप्त कर वन भूमि को अन्य किसी कार्य के लिए प्रयोग करने को ही निर्वनीकरण या वन कटाई कहते हैं। भारत में यह समस्या अत्यंत गंभीर हो गई है। भारत में एक अरब से ज्यादा लोग बसते हैं परंतु यहां का वन क्षेत्र विश्व का केवल 1.8 प्रतिशत ही है। प्रति व्यक्ति वन भूमि भारत में 0.8 हेक्टेयर है जबकि विश्व का यह औसतन 0.64 हेक्टयर है। भारत की कुल भूमि में से 33 फीसदी पर वन होने चाहिए लेकिन आंकड़ों के अनुसार वन यहां केवल 23 प्रतिशत भूमि पर ही हैं। भारत में उष्णकटिबंधीय वन आवरण तो अब केवल दो ही क्षेत्रों तक सीमित रह गया है। ये क्षेत्र हैं पश्चिमी घाट की पहाड़ियां (करीब 1 लाख 35 हजार वर्ग किलोमीटर) और उत्तर-पूर्व क्षेत्र (करीब 34 हजार 500 किलोमीटर)।

निर्वनीकरण के कुछ मूल कारण निम्नलिखित हैं-

कृषि : वनों के कटान का मुख्य कारण खेती है। खेती के लिए जमीन प्राप्त करने के लिए वनों को काटा जा रहा है।

खनन, बांधों और सड़कों का निर्माण : बड़े पैमाने पर हो रहे खनन कार्यों के लिए भी वनों को काटा जा रहा है। इसके अलावा पहाड़ी क्षेत्रों में सड़कों के निर्माण के लिए भी पेड़ काटे जा रहे हैं। यही नहीं, बिजली और सिंचाई के पानी के लिए बांधों का हो रहा निर्माण भी वनों को कम करने में योगदान दे रहा है।

व्यावसायिक उपयोग : वन उत्पादों का व्यापार भी वनों के तेजी से कटने का एक कारण है। वन उत्पाद जैसे लकड़ी और लुगदी आदि के लिए पेड़ों को बड़े पैमाने पर काटा जा रहा है।

टिप्पणी

जंगल की आग : हर साल प्राकृतिक और अप्राकृतिक कारणों से जंगलों में आग लगती है। इससे भी वन खत्म हो रहे हैं। कई बार लोग कृषि के लिए भूमि जुटाने या फिर अवैध कटाई को छुपाने के लिए वनों में आग लगा देते हैं तो कई बार ज्यादा गर्मी या फिर सूखे के कारण आग लग जाती है।

जनसंख्या वृद्धि : बढ़ती जनसंख्या भी वनों की बड़े पैमाने पर कटाई का एक कारण है। भोजन और लकड़ी के लिए लोग वनों को धड़ाधड़ काट रहे हैं। भारत में ही करीब 200 मिलियन टन जलाऊ लकड़ी की खपत हर साल होती है।

निर्वनीकरण के परिणाम

- वनों में रहने वाले जनजातीय समुदाय, जो भोजन, ईंधन और अपनी आजीविका के लिए वनों पर निर्भर है, के लिए जीवित रहना ही मुश्किल हो जाएगा।
- मधुमखी, तितली आदि कीट-पतंगों की संख्या बहुत कम हो जाएगी। इससे फसलों और फल वाले पेड़-पौधों पर परागण कम होगा जिससे फसलों और फलों के उत्पादन में गिरावट आएगी।
- भूमि कटाव से कृषि भूमि की उर्वरता घट जाएगी।
- वन पारिस्थितिकी संतुलन बनाए रखते हैं। अगर ये समाप्त हो गए तो यह संतुलन बदल जाएगा और बाढ़ और सूखे की समस्या विकराल रूप धारण कर लेगी।
- वन बहुत सी जीवों की शरण-स्थली हैं। वनों के खत्म होने से बहुत सी प्रजातियां विलुप्त हो जाएंगी और इससे जैव विविधता भी समाप्त हो जाएगी।
- वन कार्बन डाइऑक्साइड को अवशोषित करते हैं। अगर ये समाप्त हो गए तो वैश्विक तापमान में वृद्धि होगी जो ग्लोबल वार्मिंग को बढ़ावा देगी।
- वन भूमि और वनस्पति बड़ी मात्रा में प्रदूषकों को सोखते हैं। वनों के समाप्त होने से प्रदूषण की मात्रा बढ़ जाएगी।

वनों पर खनन और बांधों का प्रभाव

भूमि से खनिजों और धातुओं को निकालने की प्रक्रिया को खनन कहते हैं। खनन के लिए बहुत बड़े क्षेत्र को साफ करने की आवश्यकता होती है ताकि खनिजों को निकालने के लिए भूमि की खुदाई की जा सके। इसी कारण खनन क्षेत्र में वनों की कटाई होती है। खनन क्षेत्र के साथ लगते क्षेत्रों पर मौजूद वनस्पति को सड़कें और खनन कार्य में लगे लोगों के लिए घर बनाने हेतु काटा जाता है। इस प्रक्रिया में वनों में रहने वाली जनजातियों का विस्थापन किया जाता है। इसके अलावा अन्य बहुत से जीवों का भी आश्रय छिन जाता है। इस कारण बहुत से जीव तो विलुप्त होने की कगार पर पहुंच जाते हैं।

बांध भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से निर्वनीकरण का कारण हैं। विश्वभर में करीब 40 हजार बड़े बांध हैं। इनके जलाशयों के कारण लाखों हेक्टेयर वन जलमग्न हो गए हैं। नदियों के बहाव में बांध बाधा उत्पन्न करते हैं इससे पारिस्थितिकी संतुलन भी गड़बड़ाता है। बांध से नदियों में गाद जमा हो जाती है और नदी के जल में मूल्यवान पोषक तत्वों का बहाव रुकता है। वहीं दूसरी ओर बांध से आगे गाद कम होने से तटीय कटाव की समस्या उत्पन्न होती है। चिल्ली, जिम्बाब्वे और ग्रीस जैसे देशों में बांधों से अत्यधिक पानी लेने के कारण ही भूकंप एक सामान्य घटना बन गई है।

टिप्पणी

इसके अलावा बांधों से उत्पन्न बिजली से चलने वाले उद्योग भी पर्यावरण प्रदूषण का मुख्य कारण बन गए हैं। वनों और उपजाऊ भूमि को जलमग्न करने के अलावा बांध पर्यावरण में भी परिवर्तन लाते हैं क्योंकि इनसे नदियों की वनस्पतियां और जीव समाप्त होते हैं। इससे उन लोगों के जीवन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है जो अपनी आजीविका के लिए नदियों पर निर्भर हैं। बांधों के कारण हजारों स्थानीय लोगों जैसे जनजातियों को अपनी जमीन से हाथ धोकर दूसरे क्षेत्रों में बसना पड़ा। इस प्रक्रिया में वे अपनी संस्कृति और जीवन पद्धति को खो बैठे।

3.2.4 भूमि संसाधन

धरती के कुल भाग का 20 प्रतिशत भूमि के रूप में है और यह 13 हजार हेक्टेयर क्षेत्र पर फैली है। भूमि एक मुख्य प्राकृतिक संसाधन है जो सभी जीवों और पेड़-पौधों को जीवन प्रदान करती है। इसके अलावा यह सभी प्रमुख उत्पादन प्रणालियों, जैसे सड़क, उद्योग और खेती का आधार भी है। यह भूतल और भूमिगत जल के लिए भंडार उपलब्ध कराती है। मिट्टी का प्रकार उसकी सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता का निर्धारण करता है। भूमि के एक तिहाई हिस्से पर घरों, सड़कों और फैक्ट्रियों का निर्माण किया गया है। एक तिहाई हिस्से पर वन हैं। शेष बची भूमि का प्रयोग खेती और चारागाह के रूप में हो रहा है।

अगर न्यायोचित ढंग और सावधानी से भूमि का प्रयोग किया जाए तो यह एक नवीकरणीय संसाधन है। अगर वनों को काटा जाए, चारागाहों को ज्यादा चराई कराकर खत्म कर दिया जाए, अत्यधिक सिंचाई की जाए और जहरीले पदार्थ इसमें दबाए जाएं तो यह बंजर हो जाएगी और एक अनवीकरणीय संसाधन में बदल जाएगी।

भूमि अवक्रमण

भूमि के अवक्रमण से अभिप्राय भूमि से छेड़छाड़ और अवांछनीय परिवर्तनों के कारण भूमि के खराब होने से है। भूमि का अवक्रमण मनुष्य के क्रियाकलापों जैसे वनस्पतियों की कटाई, अतिचारण, खनन और उत्खनन, गहन खेती आदि से होता है। इन कारणों से जमीन या तो पूरी तरह बंजर हो जाती है या फिर उसकी उर्वरा शक्ति बहुत कम हो जाती है, जिसका असर फसल उत्पादन पर पड़ता है।

जनसंख्या वृद्धि भी अप्रत्यक्ष रूप से भूमि अवक्रमण का कारण है। इसके कारण भूमि पर दबाव बढ़ रहा है और ज्यादा भूमि की जरूरत खेती करने के लिए पड़ रही है। अच्छी खेती योग्य भूमि का बहुत ज्यादा दोहन हो रहा है जो मृदा बांझपन को जन्म दे रहा है। ज्यादा खेती से पानी की मांग भी बढ़ गई है। इससे भूमिगत जल का ज्यादा दोहन होता है। इससे न केवल भूमिगत जल की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है बल्कि उसकी गुणवत्ता भी प्रभावित होती है जो खारेपन या लवणता को जन्म देती है। भूमि अवक्रमण उत्पादकता में कमी लाता है। कम उत्पादन का प्रतिकूल प्रभाव किसी भी देश के खाद्यान्न भंडारों पर पड़ता है। भूमि अवक्रमण के कुछ कारण निम्नलिखित हैं-

- अतिचारण (35 प्रतिशत)
- कृषि कार्य (28 प्रतिशत)
- अनिर्वनीकरण (30 प्रतिशत)

टिप्पणी

- ईधन के लिए लकड़ी उत्पादन हेतु जमीन का अति उपभोग (7 प्रतिशत)
- औद्योगीकीकरण (4 प्रतिशत)

मानव-उत्प्रेरित भूस्खलन

भूस्खलन एक भूवैज्ञानिक घटना है। इसमें कई भूगर्भीय घटनाएं शामिल हैं, जैसे गुरुत्वाकर्षण के कारण चट्टानों, ढलानों और वनस्पति और मिट्टी का खिसकना आदि। भूस्खलन प्राकृतिक और पर्यावरण में मानव प्रदत्त बदलावों, दोनों के कारण ही हो सकता है। चट्टान या भूमि की संरचना में कमजोरी आने, भारी बारिश, भूमिगत जलस्तर में परिवर्तन और भूकंपी गतिविधि आदि वे प्राकृतिक कारण हैं जिनसे भूस्खलन होता है। जनसंख्या वृद्धि के कारण पहाड़ी क्षेत्रों का तेजी से शहरीकरण हो रहा है और पहाड़ों पर बड़ी संख्या में निर्माण और खेती कार्य होने लगे हैं। इन क्रियाकलापों ने मानव-प्रेरित भूस्खलन के खतरे को बढ़ावा दिया है। ढलानों को खेती व भवन निर्माण के लिए समतल करने, खनन कार्यों और पानी का प्रयोग खेती और पीने के लिए करने को पहाड़ों को काटने जैसे कार्य ने भूस्खलन को बढ़ावा दिया है।

उदाहरण के लिए चीन में तेजी से आर्थिक और औद्योगिक विकास हो रहा है। इससे वहां पर बड़े पैमाने पर एक्सप्रेसवे, रेलवे लाइनें, पनबिजली परियोजनाएं और भूमिगत सुरंगें बनाई जा रही हैं। इनमें से बहुत सी परियोजनाएं जैसे तीन घाटी बांध आदि तो अभियांत्रिकी के अद्‌भुत नमूने हैं। यह बांध दुनिया का सबसे बड़ा बांध है। हालांकि इन मानवीय क्रियाकलापों से भूमि की सतह में बदलाव आ रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप अब भूस्खलन और मलबा प्रवाह ज्यादा हो रहे हैं। ये जान और माल को भारी नुकसान पहुंचाते हैं।

भूस्खलन के मुख्य मानवीय कारण हैं- उत्खनन, भूमि उपयोग में बदलाव, कमजोर जल प्रबंधन, लदान, खनन, पानी रिसाव, निर्वनीकरण।

भूमि कटाव

भूमि कटाव या भू-क्षरण पानी या हवा द्वारा भूमि हटाव की एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। धरती के निर्माण से ही प्राकृतिक भूमि कटाव जारी है। इस तरह का कटाव बहुत धीरे-धीरे होता है और जो मिट्टी हटती है उसका स्थान नई मिट्टी ले लेती है। परंतु अब मानवीय क्रियाकलापों से भूमि का कटाव भूमि निर्माण होने की गति से बहुत तेज हो रहा है। यह सब अतिचारण या फिर गलत कृषि पद्धतियों के कारण हो रहा है। वास्तव में ऐसा कोई भी मानवीय कार्य जो भूमि को अनावृत करता है (जैसे खेती) और जिससे भूमि खुली पड़ी रहती है वह भू-कटाव को न्यौता देता है। इससे जब भारी बारिश होती है या फिर तेज हवा चलती है तो ऊपरी मिट्टी बहकर या उड़कर बहुत दूर चली जाती है।

भू-क्षरण न केवल उस क्षेत्र को प्रभावित करता है जहां से भूमि कटाव हुआ है बल्कि यह उस जगह को भी नुकसान पहुंचाता है जहां पर मिट्टी जाकर गिरती है। वहां गाद जैसी समस्या पैदा होती है। कई स्थानों पर खेती कार्यों के लिए भारी मशीनरी के प्रयोग से भारी मात्रा में भू-क्षरण होता है। इसे जुताई कटाव कहा जाता है। भूमि कटाव विश्व में एक बहुत बड़ी पर्यावरणीय समस्या है। विश्व की कुल खेती योग्य भूमि के एक तिहाई हिस्से का ऊपरी कटाव बहुत तेजी से हो रहा है। यह गंभीर चिंता का विषय है

क्योंकि इसका निर्माण हजारों वर्षों में हुआ है और अगर यह एक बार समाप्त हो गई तो फिर इसका पुनर्भरण संभव नहीं होगा।

टिप्पणी

जिन संरक्षणात्मक पद्धतियों को अपनाकर भूमि कटाव को रोका जा सकता है, वे हैं– सीढ़ीनुमा खेत, समोच्य खेती, पट्टेदार खेती, खेत में हवा अवरोधक बनाकर,जलानुवेधन करके।

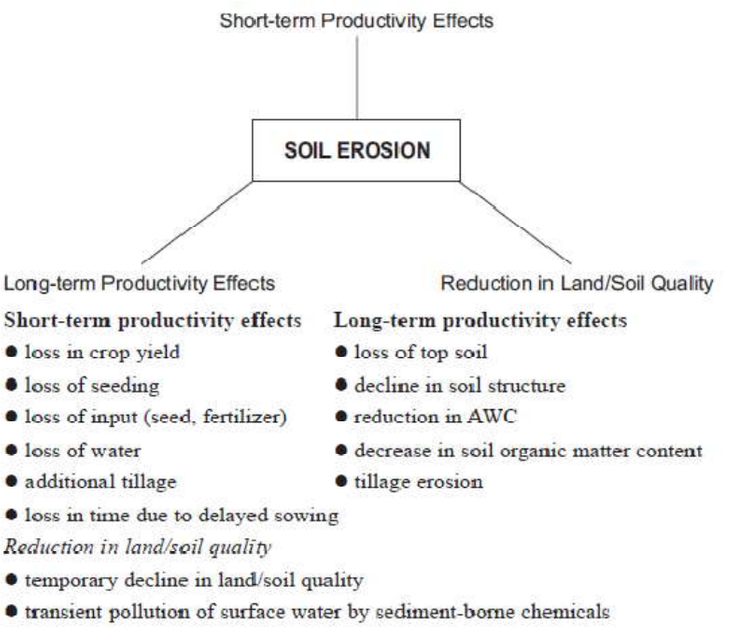

***Figure** Consequences of Soil Erosion*

मरुस्थलीकरण

मरुस्थलीकरण शुष्क और अर्ध–शुष्क क्षेत्रों में भूमि का अवक्रमण है। यह प्राय: मानवीय क्रियाकलापों और जलवायु विविधताओं के कारण होता है। मरुस्थलीकरण का अर्थ वर्तमान मरुस्थलों के विस्तार से नहीं है। यह शुष्कभूमि, जो कि विश्व के कुल धरती क्षेत्र का एक तिहाई है, के पारिस्थितिकी तंत्र के अत्यंत कमजोर हो जाने के कारण पैदा होता है। पारिस्थितिकी तंत्र के कमजोर होने का कारण भूमि का अत्यधिक उपभोग और अनुचित प्रयोग है। पानी की कमी से शुष्क भूमि में फसलों, चारे और अन्य ऐसी वस्तुओं जो पारिस्थितिकी तंत्र ने मानव को मुहैया कराई हैं, का उत्पादन कम हो जाता है। इस तरह शुष्क भूमि जनसंख्या दबाव और जलवायु परिवर्तनशीलता के कारण अत्यंत असुरक्षित हो जाती है।

गरीबी, राजनीतिक असुरक्षा, निर्वनीकरण, अत्यधिक चराई और गलत सिंचाई पद्धतियाँ आदि जमीन की उर्वरता को तेजी से घटा रहे हैं। मरुस्थलीकरण से करीब 250 मिलियन लोग प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुए हैं क्योंकि इसने उनकी आजीविका पर प्रतिकूल असर डाला है। इसके अलावा 100 देशों के करीब एक अरब लोग ऐसे हैं जिन पर मरुस्थलीकरण का खतरा मंडरा रहा है। ये लोग बेहद गरीब, सामाजिक रूप से हाशिए पर पहुंचे हुए और राजनीतिक रूप से बेहद कमजोर हैं।

टिप्पणी

3.2.5 खाद्य संसाधन

मानव, भोजन के लिए वनस्पति और जानवरों पर निर्भर है। वह पेड़-पौधों के विभिन्न अंगों जैसे जड़, पत्तों, फूलों और फलों का प्रयोग अनाज, सब्जियों, मसालों और फलों के रूप में करता है। इसके अलावा वह जानवरों से दूध, दही, अंडे और मांस जैसी वस्तुएं प्राप्त करता है जो मानव के भोजन का अभिन्न अंग हैं। पौधे भोजन का मुख्य स्रोत हैं। इसलिए यह जरूरी है कि बढ़ती जनसंख्या का पेट भरने के लिए फसलों का उत्पादन बढ़ाया जाए।

खेती वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से जानवरों और वनस्पतियों का बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है। इसमें भूमि पर खेती करना और फसलों को उगाना व प्रबंधन तथा पशुपालन शामिल है। प्रमुख खाद्य संसाधनों में गेहूं, मक्का, आलू, जौ, जई आदि तथा फल एवं सब्जियां, दूध, मांस, मछली तथा समुद्री जीव सम्मिलित हैं।

विश्व खाद्य समस्याएं

एक अनुमान के अनुसार संसारभर में प्रतिवर्ष करीब एक करोड़ अस्सी लाख बच्चे भुखमरी या कुपोषण से मर जाते हैं। बहुत से विकासशील देशों में खाद्य सुरक्षा आज एक गंभीर संकट बन चुकी है क्योंकि वहां की बढ़ती जनसंख्या की खाद्य जरूरतों के अनुरूप उत्पादन नहीं हो रहा है। 105 में से 64 विकासशील देशों में जनसंख्या वृद्धि की गति से कम खाद्य उत्पादन हो रहा है। भारत विश्व का तीसरा मुख्य फसलें उगाने वाला देश है परंतु फिर भी यहां के करीब तीस करोड़ नागरिक अल्पपोषित हैं। भारत के पास अमेरिका से करीब 50 प्रतिशत कम खेती योग्य जमीन है जबकि उसे अमेरिका से तीन गुना ज्यादा लोगों का पेट भरना होता है, इसलिए भारत को खाद्य उत्पादन बढ़ाने और इसके समान वितरण के प्रबंध करने की आवश्यकता है। इसके अलावा जनसंख्या वृद्धि पर लगाम लगाने की भी जरूरत है।

वर्तमान में करीब एक अरब लोग भूख का सामना कर रहे हैं। वे अपनी भोज्य ऊर्जा की मूल आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं कर सकते । इसके अलावा करीब दो अरब लोग गरीबी के कारण अपनी खाद्य सुरक्षा कर पाने में असमर्थ हैं। भारत में 1990 तक करीब तीन करोड़ लोग भुखमरी के शिकार थे और 46 प्रतिशत बच्चों का वजन कम था। हर साल करीब छह लाख बच्चे भूख से मरते हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का अनुमान है कि विश्व की आबादी जो अब तक करीब सात अरब हो चुकी है, से बढ़कर 2050 तक 9.1 अरब हो जाएगी। खाद्य एवं कृषि संगठन (एफएओ) के अनुसार इस बड़ी, ज्यादा शहरी और धनी जनसंख्या का पेट भरने के लिए खाद्य उत्पादन में 70 फीसदी की बढ़ोतरी करने की आवश्यकता होगी। अनाजों का उत्पादन वर्तमान के 2.1 अरब टन से बढ़ाकर तीन अरब करना होगा। इसी तरह मांस का उत्पादन भी 200 मिलियन की जगह 470 मिलियन करना होगा। विकासशील देशों में इस बढ़ी हुई मांग का 80 प्रतिशत हिस्सा फसल उत्पादन के बढ़ने से आएगा और केवल 20 प्रतिशत ही खेती योग्य भूमि के विस्तार से पूरा होगा। भले ही उत्पादन में बढ़ोतरी होगी परंतु यह मांग के मुकाबले काफी कम होगी, जिससे सभी लोगों का पेट भरना संभव नहीं होगा।

वर्तमान परिदृश्य में यह पूछना उचित ही है कि क्या भविष्य में संसार के सभी नागरिकों की भूख मिटाने के लिए पर्याप्त भूमि और अन्य संसाधन हैं। खाद्य पदार्थों की

टिप्पणी

अनुमानित मांग को पूरा करने के लिए वैश्विक खाद्य उत्पादन में पर्याप्त बढ़ोतरी की आवश्यकता होगी। यद्यपि, दुनियाभर में प्रतिवर्ष कृषि योग्य भूमि का ह्रास हो रहा है और भूमि का बड़ा हिस्सा बंजर हो रहा है। इसके अलावा मीठे पानी के भंडार भी रिक्त होते जा रहे हैं।

आधुनिक कृषि के प्रभाव

एफएओ के अनुसार विश्व में खेती के लिए 38 प्रतिशत जमीन का उपयोग होता है। बढ़ती जनसंख्या से खाद्यान्नों की मांग भी बढ़ी है। इससे खेती के लिए अतिरिक्त जमीन की आवश्यकता हुई है, निर्वनीकरण, भू-कटाव आदि को जन्म दिया है, ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन हुआ है और जैव विविधता को नुकसान पहुंचा है।

खेती योग्य भूमि की उत्पादन क्षमता भी सीमित है क्योंकि ज्यादातर कृषि योग्य भूमि से पहले ही बहुत ज्यादा पैदावार ली जा रही है। दूसरे शब्दो में कहें तो खाद्य उत्पादन को उसी जमीन से बढ़ाया गया है। यह नई तकनीकों के बिना संभव नहीं था। 1960 के बाद भारत में बहुत सी वैज्ञानिक पद्धतियों और तकनीकों का प्रयोग कृषि के क्षेत्र में हुआ। इसके परिणामस्वरूप खाद्य उत्पादन में खेती योग्य जमीन को बढ़ाए बिना भी बहुत विकास हुआ। भारत की जनसंख्या 1961 से 1998 के बीच 117 प्रतिशत की दर से बढ़ी और खाद्य पदार्थों की आपूर्ति भी प्रतिव्यक्ति 19 प्रतिशत हो गई। भारत अनाज का निर्यात करने लगा। इस दौरान फसल बिजाई के क्षेत्र में मात्र 5 प्रतिशत की ही बढ़ोतरी हुई (एफएओ 2001)।

खाद्यान्न उत्पादन में बढ़ोतरी के पीछे निम्नलिखित तत्वों का अहम योगदान रहा:

संकर किस्म के बीज : संकर किस्म के उन्नत बीजों ने विश्वभर में अनाज उत्पादन बढ़ाने में अहम भूमिका अदा की। अनाज 45 फीसदी कृषि योग्य भूमि पर बोए जाते हैं। अनाजों का उत्पादन 1961 से 1998 के बीच 126 प्रतिशत की दर से बढ़ा (एफएओ 2001)।

सिंचाई : सिंचाई में भी सुधार हुआ। कुल सिंचित भूमि की संख्या भी बढ़ी। इसने भी खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाने में मदद की।

रासायनिक उर्वरक : रासायनिक उर्वरकों से फसलों का उत्पादन लगभग दोगुना हो गया।

कृषि यंत्र : खेत जुताई के लिए ट्रैक्टर के प्रयोग से मानव और पशुओं की इस काम के लिए आवश्यकता नहीं रही और इससे खर्च में भी कटौती हुई। इसने भूसे के लिए अलग से जमीन बोने की परंपरा को भी घटा दिया।

कीटनाशक : कीटनाशकों के प्रयोग से फसलों के बर्बाद होने की दर में कमी आई और उत्पादन बढ़ा।

इस तरह रासायनिक उर्वरक और कीटनाशकों जैसे उत्पादों का प्रयोग करके की गई आधुनिक खेती अत्यधिक लाभप्रद साबित हुई। हालांकि इन तकनीकों के कारण बहुत सी आर्थिक, पर्यावरणीय और सामाजिक समस्याएं भी उत्पन्न हुईं। नदियों और धाराओं के रुख को खेती के लिए बदला गया जिससे कई जलीय प्रजातियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उर्वरकों, नाइट्रोजन और फॉस्फोरस के अत्यधिक प्रयोग से ये पानी और भूमि में घुल गए और विभिन्न पारितंत्रों को प्रभावित किया। करीब 99 प्रतिशत कीटनाशक बेकार हो जाते

टिप्पणी

हैं जो भूमि, पानी और हवा को प्रदूषित करते हैं। मशीनीकरण ने जीवाश्म ईंधन पर निर्भरता बढ़ाई और खेती में भी ऊर्जा का प्रयोग होने लगा।

आधुनिक कृषि में केवल एक ही विशेष फसल के उत्पादन का भी बड़ा चलन है बजाय विविध फसलों के उत्पादन को अपनाने के। इसके अलावा इसमें फसल-चक्र को भी कोई महत्व नहीं दिया गया है जिससे जमीन उपजाऊ रहती है। केवल एक ही फसल की बीजाई ने कीटों के हमले या कम बारिश होने पर फसल के पूरी तरह बर्बाद होने के खतरे को बढ़ाया है। इस खतरे को कम करने के लिए किसान ज्यादा रासायनिक कीटनाशकों का प्रयोग करते हैं और सिंचाई भी अधिक करनी पड़ती है। इसके अलावा भूमि का उपजाऊपन बरकरार रखने के लिए रासायनिक उर्वरकों का भी अधिक प्रयोग किया जाता है।

उर्वरक-कीटनाशक समस्या

हालांकि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों ने फसल उत्पादन बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, परंतु इनका पर्यावरण पर भी बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। इनमें से कुछ प्रभाव तो तत्काल सामने आ जाते हैं जबकि कुछ के प्रकट होने में कई साल लगते हैं। उर्वरक और कीटनाशक दोनों ही भूमि, पानी और मानव को प्रभावित करते हैं। रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के बहुत से दीर्घकालीन प्रभावों को प्रभावी ढंग से समझना अभी बाकी है।

उर्वरकों में नाइट्रोजन और फास्फोरस की अत्यधिक मात्रा से जहां फसलों में बढ़ोतरी होती है वहीं ये जल पारितंत्र के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। ये तत्व प्राकृतिक रूप से भी विद्यमान होते हैं और प्रकृति में इनके बीच गजब का संतुलन होता है और ये पर्यावरण को हानि नहीं पहुंचाते। परंतु जब ये ही तत्व अप्राकृतिक रूप से पानी में मिलते हैं तो ये आक्रमणकारी गैर-देशी प्रजातीय पौधों को जन्म देते हैं। गैर देशीय पौधे देशीय पौधों को नष्ट कर देते हैं और इस तरह जलीय जीवन के लिए जरूरी खाद्य संसाधन समाप्त हो जाते हैं। जैसे ही पौधे समाप्त होते हैं तो विघटन पानी से ऑक्सीजन समाप्त कर देता है जिससे मछलियां मर जाती हैं।

कीटनाशक प्रायः भूतल और भूमिगत जल में मिल जाता है और जलीय जीव-जन्तुओं को प्रभावित करता है। कीटनाशकों के जलीय प्रणालियों का संदूषण करने के कारण ही बड़े पैमाने पर मछलियों और अन्य जलीय जीवों के मरने के मामले सामने आए हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि खेतों में प्रयोग हुआ कीटनाशकयुक्त पानी या फिर उद्योगों से निकला कीटनाशकयुक्त पानी अन्य जलस्रोतों में मिल जाता है। कीटनाशक अनाज और अन्य फसलें खाने वाले पक्षियों, जानवरों और कीड़ों की भी जान ले लेता है। कीड़े खाने वाले पक्षियों की तादात भी लगातार इसलिए घट रही है क्योंकि कीटनाशकों के कारण कीड़े मर रहे हैं जो कि पक्षियों का मुख्य भोजन थे।

पेयजल में कीटनाशकों का मिलना भी एक गंभीर समस्या बन गया है क्योंकि कीटनाशकों के थोड़े से अवशेष भी मानव स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं। आमतौर पर धड़ल्ले से प्रयोग होने वाले 27 में से 15 कीटनाशकों से कैंसर होने का खतरा है। रसायन मछलियों के शरीर में भी पहुंच जाते हैं और इस तरह मानव की खाद्य शृंखला में शामिल हो जाते हैं। पिछले पंद्रह सालों में कीटनाशकों के कारण बहुत सी मानवीय बीमारियां

टिप्पणी

सामने आई हैं और कीटनाशकों के संपर्क में आने से बड़ी संख्या में मौतें भी हुई हैं। भोपाल में एक कीटनाशक फैक्ट्री में से हुए मिथाइल गैस के रिसाव ने तो हजारों लोगों की जान ले ली थी।

सतत कृषि और खाद्य सुरक्षा

खाद्य एवं कृषि संगठन (एफएओ) के अनुसार सतत खेती से अभिप्राय उस खेती से है जो भूमि, जल व पौधों का संरक्षण करती है, पर्यावरण संरक्षण में सहायक है, आर्थिक रूप से लाभप्रद है और जिसकी सामाजिक स्वीकार्यता है। नीचे दिए गए उपायों की सहायता से हम खाद्य सुरक्षा और पर्यावरण संरक्षण दोनों ही कर सकते हैं। ये उपाय हैं-

समेकित फसल प्रबंधन : अनेक प्रकार की फसलें उगाकर पूर्णत: फसल बर्बाद होने की समस्या को रोका जा सकता है। जैविक खादों और कीटनाशकों के प्रयोग से भी फसल उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। इनका पर्यावरण पर भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।

एकीकृत कीट नियंत्रण : इसमें कीट प्रतिरोधी बीज और रासायनिक उर्वरकों का कम से कम प्रयोग शामिल है ताकि मित्र कीटों (ऐसे कीट जो फसलों को नुकसान पहुंचाने वाले कीटों को खाते हैं) की रक्षा की जा सके।

वैकल्पिक खाद्य संसाधन : पारंपरिक खेती से भोजन पैदा करने की समीक्षा करने का समय अब आ गया है। जंगल से मिलने वाले गैर-लकड़ी उत्पाद जैसे मशरूम, रस, गोंद और जड़ें आदि और समुद्री शैवाल पोषक तत्वों से भरे हैं और ये खाद्य संसाधनों के विकल्प हो सकते हैं।

शिक्षा : भोजन खरीदने और पकाने का काम आमतौर पर महिलाएं ही करती हैं, इसलिए उन्हें पोषक तत्वों के बारे में शिक्षित करने के अलावा भोजन का अपव्यय रोकने के उपाय बताने चाहिए और उन्हें स्थानीय मौसमी फल एवं संब्जियों की खरीदारी के लाभ भी बताने चाहिए।

3.2.6 ऊर्जा संसाधन

21वीं सदी में ऊर्जा और पर्यावरण की कई वैज्ञानिक और तकनीकी चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। ऊर्जा का किसी भी देश के आर्थिक विकास से घनिष्ठ संबंध है। वहीं, उसी समय में जीवन स्तर भी ऊर्जा उत्पादन और उसके उपयोग के पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों पर निर्भर करता है। इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसी तकनीक को अपनाया जाए जिससे हम ज्यादा ऊर्जा भी प्राप्त कर लें और पर्यावरण पर भी कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। उदाहरण के लिए जब हम धरती में गहरे दबे कोयला, तेल, गैस या यूरेनियम को निकालते हैं तो हम स्थानीय पारिस्थितिक तंत्र को नुकसान पहुंचाते हैं और जल प्रदूषण बढ़ाते हैं व वन्य जीवन को नुकसान पहुंचाते हैं।

तेल टैंकरों से आमतौर पर समुद्रों में तेल का रिसाव हो जाता है। बिजली की तारें बिछाने के लिए जंगलों को काटा जाता है। जीवाश्म ईंधन के ज्यादा प्रयोग से वायुमंडल में कार्बन डाईऑक्साइड फैलती है जो दीर्घकालीन जलवायु परिवर्तन और ग्लोबल वार्मिंग को जन्म देती है। कोयले से चलने वाले ऊर्जा संयंत्र जो ज्यादातर बिजली का उत्पादन करते हैं, बड़ी मात्रा में कार्बन डाईऑक्साइड का उत्सर्जन करते हैं। परमाणु ऊर्जा के अपशिष्ट पदार्थ अत्यंत खतरनाक होते हैं जो पर्यावरण के लिए गंभीर खतरा हैं।

टिप्पणी

ऊर्जा की बढ़ती मांग

पिछले कुछ दशकों में ऊर्जा की मांग में अत्यधिक उछाल आया है। ऐसा बढ़ती जनसंख्या और आर्थिक विकास के कारण हुआ है। केवल एक ही पीढ़ी के दौरान विश्व की जनसंख्या करीब दो अरब बढ़ गई। यह बढ़ोतरी 33 प्रतिशत की दर से हुई है। विकासशील देशों में ही इस बढ़ी जनसंख्या का ज्यादातर हिस्सा रहता है। करीब 2 अरब लोग अब भी व्यावसायिक ऊर्जा के प्रयोग से वंचित हैं। वर्ल्ड एनर्जी काउंसिल के अनुसार 1990 से 2020 के बीच विश्व में ऊर्जा की खपत में 50 प्रतिशत का इजाफा होगा। बिजली की खपत तो दोगुनी होने का अनुमान है।

आज विश्व में ऊर्जा के लिए जीवाश्म ईंधन जैसे कोयला, तेल और गैस का ही ज्यादा प्रयोग हो रहा है। परिवहन के ज्यादातर साधन जीवाश्म ईंधन से ही चल रहे हैं और संसार में कुल बिजली उत्पादन का 60 प्रतिशत उत्पादन भी जीवाश्म ईंधन से होता है। जीवाश्म ईंधन के बढ़ते उपयोग से दो समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं। पहली, ईंधन के भंडार सीमित हैं (कोयला 250 सालों तक, तेल 40 सालों तक और गैस 70 सालों तक के लिए ही मौजूद हैं) जो तेजी से खत्म होते जा रहे हैं। दूसरी, जीवाश्म ईंधन के दहन से भारी मात्रा में ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन हो रहा है जिससे जलवायु परिवर्तन और ग्लोबल वार्मिंग जैसी समस्याएं खड़ी हो गई हैं। 1992 में रियो में हुई संयुक्त राष्ट्रसंघ की पर्यावरण और सतत विकास कान्फ्रेन्स के बाद से अब तक कार्बन डाईऑक्साइड का उत्सर्जन हर साल 100 मिलियन टन प्रतिवर्ष की दर से हो रहा है।

इस समस्या का समाधान ऊर्जा के नवीकरणीय संसाधनों जैसे- सौर, जल, पवन और जैव आदि के विकास से ही संभव है। इनके अलावा परमाणु ऊर्जा भी एक अच्छा विकल्प है जो बिना ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन किए बड़े पैमाने पर विद्युत उत्पादन कर सकता है। यूरोप में परमाणु ऊर्जा अब बिजली उत्पादन की मुख्य पद्धति बन गई है। वहां कुल विद्युत उत्पादन का 35 फीसदी उत्पादन इसी से होता है।

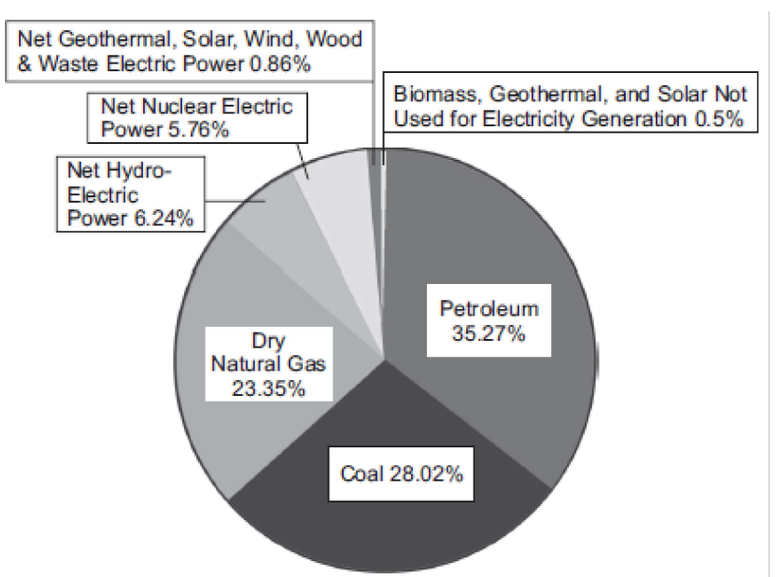

Figure *Worldwide Consumption of Energy (2006)*

टिप्पणी

ऊर्जा के नवीकरणीय और अनवीकरणीय संसाधन

ऊर्जा संसाधनों को हम 2 वर्गों, नवीकरणीय और अनवीकरणीय संसाधनों में बांट सकते हैं-

अनवीकरणीय ऊर्जा संसाधन : अनवीकरणीय संसाधन वे प्राकृतिक संसाधन हैं जो सीमित मात्रा में उपलब्ध हैं। इनका पुन:उत्पादन, उगाव और पुन:प्रयोग नहीं किया जा सकता। अगर ये एक बार समाप्त हो गए तो भविष्य के लिए ये उपलब्ध नहीं होंगे। जीवाश्म ईंधन परमाणु ऊर्जा (यूरेनियम) और कुछ जलीय जलवाही स्तर अनवीकरणीय ऊर्जा के उदाहरण हैं। वर्तमान समय में मानव द्वारा जीवाश्म ईंधन जैसे कोयला, तेल और गैस जैसे अनवीकरणीय संसाधनों का ही ज्यादा प्रयोग किया जा रहा है। इनका निर्माण धरती के गर्भ में हजारों सालों में पौधों और पशुओं के क्षय से अत्यधिक दबाव के कारण हुआ है। 17वीं शताब्दी में दहन इंजन के आविष्कार के बाद से ही इन संसाधनों का निरंतर प्रयोग हो रहा है और इनकी अब भी बहुत मांग है। इन संसाधनों को प्राप्त करना अब बहुत महंगा हो गया है और मानव को ऊर्जा के अन्य संसाधनों की खोज करने की आवश्यकता है।

नवीकरणीय ऊर्जा संसाधन : नवीकरणीय ऊर्जा संसाधन वे संसाधन हैं जो पुनर्भरण की क्षमता रखते हैं। ऐसे संसाधन स्वयं को बार-बार प्रयोग के लिए दोबारा उत्पन्न कर लेते हैं। सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, जैव ईंधन और भूतापीय ऊर्जा नवीकरणीय ऊर्जा के उदाहरण हैं।

लाभ और हानियां

नवीकरणीय ऊर्जा को स्वच्छ ऊर्जा माना जाता है क्योंकि यह विषाक्त पदार्थों और प्रदूषकों का उत्सर्जन नहीं करती है। इसीलिए नवीकरणीय ऊर्जा को हरित ऊर्जा भी कहा जाता है। आज विश्व में विद्युत उत्पादन के लिए नवीकरणीय ऊर्जा संसाधनों का उपयोग बड़े पैमाने पर किया जा रहा है क्योंकि इनके प्रयोग से पर्यावरण को कोई हानि नहीं पहुंचती। नवीकरणीय ऊर्जा प्रयोग के निम्नलिखित लाभ हैं-

- नवीकरणीय ऊर्जा के साधन जैसे धूप, पानी और हवा असीमित और नि:शुल्क उपलब्ध हैं।
- ये संसाधन कम कार्बन उत्सर्जन करते हैं जिस कारण ये पर्यावरण के मित्र हैं।
- अगर हम आने वाले समय की बात करें तो नवीकरणीय साधनों से उत्पन्न बिजली सस्ती होगी। बिजली की कीमतों में लगातार इजाफा हो रहा है क्योंकि इसे पैदा करने में कच्चे तेल की खपत होती है। इसलिए दीर्घकाल में नवीकरणीय साधन आर्थिक बचत में भी सहायक होंगे।
- नवीकरणीय साधन अर्थव्यवस्था को मजबूत करने और रोजगार पैदा करने में सहायता करेंगे। इनके उपयोग के लिए बुनियादी सुविधाओं का विकास करना होगा और इनका रखरखाव करना होगा जो रोजगार पैदा करेंगे।
- नवीकरणीय संसाधन ऊर्जा सुरक्षा भी मुहैया कराएंगे क्योंकि इनके विकास के बाद दूसरे देशों से बिजली का आयात नहीं करना पड़ेगा।

नवीकरणीय साधनों के बड़े पैमाने पर प्रयोग में कुछ बाधाएं हैं, जो निम्नलिखित हैं-

- नवीकरणीय ऊर्जा संयंत्रों की स्थापना करना बहुत महंगा है।

टिप्पणी

- पवन ऊर्जा को पैदा करने के लिए बहुत बड़ा खाली क्षेत्र चाहिए जहां तेज हवा चलती हो। इसके अलावा इनके टर्बाइन पक्षियों की जनसंख्या को भी प्रभावित कर सकते हैं।
- सौर ऊर्जा को केवल दिन में प्राप्त किया जा सकता है, रात या बरसात के समय में नहीं।
- जलविद्युत हालांकि ऊर्जा का एक गैर प्रदूषणकारी रूप है परंतु इसे प्राप्त करने के लिए नदियों में बांध बनाने पड़ते हैं। इसमें बहुत सारा धन खर्च होता है और इससे पर्यावरण पर भी प्रतिकूल असर पड़ता है।

वैकल्पिक ऊर्जा संसाधन

सौर ऊर्जा : सौर ऊर्जा वह ऊर्जा है जिसे सूर्य से सौर विकिरणों के रूप में प्राप्त किया जाता है। सूरज एक घंटे में इतनी ऊर्जा का उत्सर्जन करता है जितनी ऊर्जा हम साल भर में खर्च करते हैं। इसलिए अगर हम इस ऊर्जा को संरक्षित करने का सही और सस्ता तरीका ढूंढ लें तो ऊर्जा की कमी की समस्या से हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाए। सौर तकनीकें दो तरह की होती हैं- निष्क्रिय और सक्रिय। इन्हें सौर ऊर्जा पकड़ने, परिवर्तित और वितरण करने के आधार पर निम्न वर्गों में बांटा गया है-

पनबिजली : पनबिजली बहते हुए पानी की ऊर्जा है जिसका प्रयोग विद्युत उत्पादन के लिए किया जाता है। विश्व में 2005 में पनबिजली की खपत 820 गिगावॉट थी। भारत, चीन और ब्राजील में पनबिजली से विद्युत उत्पादन तेजी से किया जा रहा है। एक नवीकरणीय संसाधन होने, कम लागत और बांधों का लंबे समय तक काम में आना आदि वे कारण हैं जिनसे पनबिजली की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है।

पवन ऊर्जा : यह गतिजन्य ऊर्जा है जिसे वायुमंडलीय हवा के हरकत करने से प्राप्त किया जाता है। डेनमार्क और कैलिफोर्निया में बड़े पवन फार्मों की स्थापना की गई है जो बिजली उत्पादन करते हैं। भारत में तमिलनाडु 850 मेगावाट पवन बिजली का उत्पादन करता है। भारत विश्व का तीसरा पवन ऊर्जा का सबसे बड़ा उत्पादक देश है। पवन ऊर्जा स्वच्छ ऊर्जा है क्योंकि इससे किसी भी प्रकार के अपशिष्ट नहीं निकलते। पक्षियों की मौत, शोर और टेलीविजन सिग्नलों का बाधित होना, इसके नुकसान हैं।

जैव ईंधन : जैव ईंधन वे जैव पदार्थ हैं जो रासायनिक ऊर्जा के रूप में सूर्य की किरणों को संग्रहित करते हैं। जैव ईंधन में लकड़ी, भूसा, गन्ने का अपशिष्ट आदि शामिल हैं। जब इनको जलाया जाता है तो रासायनिक ऊर्जा गर्मी के रूप में निकलती है। जैव ईंधन खाना पकाने और घरों को गर्म रखने का प्रमुख साधन है। विश्वभर में जैव ईंधन से करीब 264 गिगावाट ऊर्जा की खपत होती है। 2005 में बायोइथेनोल का उत्पादन 33 बिलियन लीटर और बायोडीजल का उत्पादन लगभग 4 बिलियन लीटर था।

परमाणु ऊर्जा : परमाणु ऊर्जा को यूरेनियम नामक धातु से पैदा किया जाता है। यूरेनियम की थोड़ी सी मात्रा से भारी मात्रा में ऊर्जा का उत्पादन किया जा सकता है। इससे प्रदूषण भी नहीं फैलता। एक ग्राम यूरेनियम से प्राप्त ऊर्जा तीन टन कोयले से प्राप्त ऊर्जा के बराबर होती है। पहला बड़ा परमाणु बिजली संयंत्र 1956 में इंग्लैंड के कॉम्बरीया में लगाया गया था।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. इनमें से कौन-सा प्राकृतिक संसाधन नहीं है?
   (क) पानी (ख) हवा
   (ग) वन (घ) सड़कें
2. स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में 300 बड़े बांध थे। सन् 2000 तक यह संख्या लगभग कितनी हो चुकी थी?
   (क) 3000 (ख) 4000
   (ग) 5000 (घ) 6000

3.3 प्राकृतिक संसाधन संरक्षण

संसाधनों के ह्रास का मुख्य कारण मानव स्तर पर बरती जाने वाली लापरवाही और लालच है। इन संसाधनों के इस्तेमाल की दर कम करके हम प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण कर सकते हैं, ताकि ये आने वाली पीढ़ियों के लिए भी बचे रहें।

प्राकृतिक संसाधनों के दुरुपयोग और सतत विकास के लिए उनके सोचे-समझे इस्तेमाल के जरिये हम लोग पर्यावरण संरक्षण कर सकते हैं। शिक्षा लोगों को पर्यावरण और इससे जुड़ी समस्याओं के प्रति जागरूक कर सकती है। शिक्षकों और अभिभावकों को यह सुनिश्चित करना होगा कि आने वाली पीढ़ी में बचपन से ही सही मूल्य भरे जाएं।

कम उपयोग, पुनःप्रयोग, पुनर्चक्रण

पृथ्वी और इसके संसाधनों को बचाने के सामूहिक प्रयासों में प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका महत्वपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण में अपना योगदान दे और दूसरों को भी ऐसा करने के लिए प्रेरित करे। कम प्रयोग, पुनःप्रयोग, पुनर्चक्रण के सिद्धांत को आज अपनाने की आवश्यकता है। इसके लिए लोगों को अपना रवैया बदलना होगा और प्रयोग करो और फेंको की विचारधारा की जगह पर्यावरण हितैषी जीवन पद्धति को अपनाना होगा। कुछ ऐसे कदम जो एक व्यक्ति उठा सकता है, वे निम्नलिखित हैं-

- **कम उपयोग**

कोई भी वस्तु खरीदने से से पहले गंभीरता से विचार करें। इस बात का पता लगाएं कि क्या इस वस्तु को खरीदने की वास्तव में ही आवश्यकता है। ऐसा करना इसलिए जरूरी है क्योंकि किसी भी वस्तु के निर्माण में कोई न कोई संसाधन का प्रयोग होता है जिसका असर पर्यावरण पर पड़ता है। इसके अलावा जब हम उस वस्तु को कुछ दिन बाद प्रयोग करना छोड़ देते हैं तो वह एक अपशिष्ट बन जाती है और उसका निस्तारण भी पर्यावरण पर प्रभाव डालता है। बहुत से उत्पाद जैसे इलेक्ट्रॉनिक्स उपकरण और बैटरियों आदि में जहरीले रसायन होते हैं जो पर्यावरण और मानव जीवन के लिए घातक हैं।

त्याज्य (डिस्पोज़एबल) वस्तुओं का उपयोग बंद करना : स्टायरोफोम से बने कप-प्लेट जैसे उत्पादों, यूज्ड एंड थ्रो पेन व रेजर, कागज और नैपकिन आदि का प्रयोग

टिप्पणी

न करें। इनकी बजाय पुन:प्रयोग आने वाले उत्पादों का उपयोग करें। ये न केवल पर्यावरण को कम प्रदूषित करते हैं बल्कि पैसा भी बचाते हैं।

पुराने उत्पादों की खरीद-बिक्री : प्रयोग किए गए पुराने उत्पाद जैसे किताबें, फर्नीचर, बिजली का सामान आदि को बेचने और खरीदने से भी प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण होता है और उपभोक्ता को आर्थिक बचत होती है।

कम से कम कूड़ा-करकट : ऐसा अत्यंत आवश्यक वस्तुओं की खरीदारी करके किया जा सकता है। इसके अलावा हमें ऐसे उत्पादों की खरीदारी भी नहीं करनी चाहिए जिनकी पैकिंग बहुत भारी है या फिर जो केवल एक बार प्रयोग के लिए बने हैं। थोक में खरीदारी की प्रवृति को छोड़कर भी कूड़ा-करकट को घटाया जा सकता है।

प्लास्टिक की थैलियों का प्रयोग बंद करना : जब भी बाजार जाएं तो अपने साथ थैला जरूर ले जाएं। प्लास्टिक की थैलियां विश्व में कचरे का प्रमुख स्रोत हैं। प्रतिवर्ष संसार में 500 अरब प्लास्टिक थैलियों का प्रयोग होता है। इनमें से केवल एक फीसदी के करीब का ही पुनर्चक्रण हो पाता है। कचरे के रूप में ये थैलियां पानी के स्रोतों जैसे नदियों, नहरों और झीलों में चली जाती हैं। पशु इन्हें भोजन के भुलावे में खा लेते हैं जिससे उनकी मौत भी हो जाती है। प्लास्टिक की थैलियों के कारण ही बहुत से समुद्री जीव जैसे व्हेल, डॉल्फिन और कछुओं की मौत हर साल होती है।

घर-ऑफिस में ऊर्जा का कम से कम प्रयोग : जब प्रयोग में न हो तो बिजली के उपकरणों को बंद कर दें। एलईडी तथा सीएफएल बल्बों का प्रयोग करें जो ऊर्जा बचाते हैं। जब भी कोई विद्युत उपकरण खरीदें तो उस पर एनर्जी स्टार रेटिंग जरूर देखें। दिन में बल्ब की जगह प्राकृतिक प्रकाश का प्रयोग करें। सर्दियों में विद्युत यंत्र से गर्मी उत्पन्न करने की बजाय गर्म कपड़े पहनें। गर्मियों में भी एयर कंडीशनर चलाने की बजाय खिड़कियां और दरवाजे खोलकर ठंडी हवा का आनंद लें। सोलर कुकरों का प्रयोग करें।

तेल की बचत : थोड़ी दूर जाने के लिए कार आदि का प्रयोग न करें। जितना संभव हो उतना ज्यादा सार्वजनिक परिवहन का उपयोग करें। कार्यालय, स्कूल या कॉलेज जाने के लिए मिलकर कार आदि का प्रबंध करें। साइकिल की सवारी भी तेल बचाने में सहायक है।

पानी के प्रयोग और बर्बादी में कमी लाना : फव्वारे के नीचे नहाने की बजाय बाल्टी में पानी डालकर नहाएं। जब भी नहाएं, धोएं, दांत साफ करें या कोई अन्य ऐसा ही कार्य करें तो नल को खुला न छोड़ें। धीमे फ्लश वाले शौचालयों का प्रयोग करें। पानी के पाइपों को रिसने न दें।

- **पुन:प्रयोग**

बहुत से ऐसे उत्पाद होते हैं जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दोबारा प्रयोग किया जा सकता है परंतु हम उन्हें केवल एक बार प्रयोग करने के बाद ही फेंक देते हैं। उदाहरण के लिए हम प्लास्टिक के डिब्बों को फेंक देते हैं जबकि इनका प्रयोग वस्तुएं रखने के लिए किया जा सकता है और प्लास्टिक की बोतल में पानी रखा जा सकता है। इसी तरह पुराने कपड़ों को दान में दिया जा सकता है या फिर इनसे थैले आदि बनाए जा सकते हैं। बिजली के उपकरणों को भी कबाड़ में फेंकने की बजाय उनकी मरम्मत कर दोबारा प्रयोग करना बेहतर रहता है। इसके अलावा उन्हें किसी जरूरतमंद को दिया भी जा सकता है।

टिप्पणी

पुन: प्रयोग के कुछ तरीके निम्नलिखित हैं-

- प्रयोग किए गए कपड़ों, फर्नीचर, उपकरणों आदि को दान करें या खरीदें।
- पुरानी किताबों और पत्रिकाओं को किसी पुस्तकालय को दान कर दें या उन्हें किसी से पढ़ने के लिए खरीदें।
- कई गैर सरकारी संगठन विवाह व पार्टियों में बचे खाने को एकत्रित करते हैं। इन संगठनों को बचा खाना दें।
- स्थायी और टिकाऊ सामान ही खरीदें।
- जब जरूरी हो तभी कागज पर लिखें या मुद्रित करें। कागज के दोनों ओर लिखें। डायरी के साफ पन्नों को फाड़कर नई डायरी भी बनाई जा सकती है।

- **पुनर्चक्रण**
  - रसोई की सामग्री जैसे फल और सब्जियों के छिलके, बगीचे के पौधों के पत्तों आदि को गलाकर जैविक खाद बनाई जा सकती है।
  - मोबाइल जैसे उपकरणों का पुनर्चक्रण करें। बहुत सी कंपनियां पुराने मोबाइल लेकर नए मोबाइल देने या फिर आपके घर से खराब मोबाइल ले जाने की सुविधाएं प्रदान करती हैं। इनका प्रयोग करें।

ये कुछ ऐसे उत्पाद हैं जिनका पुनर्चक्रण किया जा सकता है-

- कांच
- कागज के उत्पाद
- प्लास्टिक के डिब्बे
- एल्यूमिनियम और टीन के डिब्बे
- गत्ता
- स्क्रैप धातुएं
- स्याही के खाली डिब्बे
- घरेलू वस्तुएं जैसे फ्रिज, कंप्यूटर के उपकरण आदि
- टायर

निम्नलिखित खतरनाक उत्पादों का भी सावधानी से पुनर्चक्रण या निबटारा करना चाहिए-

- रंग, रोगन और थिनर
- इंजन तेल, ब्रेक तेल, केरोसीन, तेल फिल्टर आदि
- घरेलू उपयोग में आने वाले रासायनिक उत्पाद जैसे दाग हटाने और स्नानघर की सफाई में प्रयोग होने वाली वस्तुएं, मच्छर मार दवाएं, कीटनाशक, बैटरियां और तेजाब
- बगीचे में काम आने वाले कीटनाशक व रासायनिक खाद आदि
- जल का पुन:प्रयोग : बारिश के पानी का भंडारण करके इसे पौधों की सिंचाई और कार आदि की सफाई के लिए प्रयोग किया जा सकता है। इसी तरह कपड़े धोने की मशीन से निकले पानी का प्रयोग फर्श और कार धोने के लिए हो सकता है।

टिप्पणी

सतत विकास के लिए संसाधनों का न्यायोचित विकास

सतत विकास से अभिप्राय वर्तमान की जरूरतों के लिए संसाधनों का उपयोग इस विधि से करने से है कि भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त संसाधन बचे रहें। इसके लिए आवश्यक है कि वर्तमान खपत स्तर ऐसा होना चाहिए कि इससे पृथ्वी की वहन क्षमता पर आंच न आए। यह मूल्यांकन करना कि किसी विशिष्ट वातावरण में अपने संसाधनों को नष्ट किए बिना और अपने भविष्य के लिए खतरा उत्पन्न किए बिना कितने जीव सतत जीवन जी सकते हैं, वहन क्षमता कहलाता है।

तेजी से बढ़ती जनसंख्या और सीमित संसाधनों के कारण आज विश्व की जनसंख्या की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी दूभर हो गया है। इसलिए आज धरती की मानव वहन क्षमता एक महत्वपूर्ण विषय बन गया है। हमारा ग्रह और भी बहुत से लोगों का भार उठा सकता था, अगर विश्वभर की जीवन पद्धति अमेरिका के किसी शहर की बजाय अफ्रीका के किसी गांव जैसी होती।

खपत के सतत या टिकाऊ स्तर को मापने की एक अन्य पद्धति मानव पारिस्थितिकी पदचिन्ह या फुटप्रिंट हैं। इन्हें पर्यावरण पदचिन्ह भी कहते हैं। इन्हें किसी विशेष जनसंख्या द्वारा प्रकृति पर डाले गए दबाव के मूल्यांकन के रूप में परिभाषित किया जाता है। नीचे दी गई तालिका में कुछ देशों की पारिस्थितिकी पदचिन्ह (फुटप्रिंट) और प्रतिव्यक्ति पारिस्थितिकी उत्पाद स्थानों को दर्शाया गया है। नीचे दिए गए आंकड़ों से स्पष्ट है कि प्रतिव्यक्ति पारिस्थितिकी फुटप्रिंट उपलब्धता से 35 प्रतिशत ज्यादा हैं। इसका अर्थ है कि वर्तमान में मानव न केवल अपने हिस्से के संसाधनों का प्रयोग कर रहा है बल्कि वह आने वाली पीढ़ी के हिस्से का भी उपयोग कर रहा है।

Country	Footprint in hectares
USA	10.3 ha
Sweden	5.9 ha
South Africa	3.2 ha
China	1.2 ha
India	0.8 ha
Bangladesh	0.5 ha
World availability	1.7 ha
World average footprint	2.85 ha

Source: World Resources Institute

उपरोक्त आंकड़ों से स्पष्ट है कि विकसित और अल्प विकसित देशों में भारी अंतर है। विकसित देशों में संसार की केवल 22 प्रतिशत आबादी ही रहती है। ये देश 88 प्रतिशत प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग करते हैं। वे कुल उपलब्ध ऊर्जा में से 73 प्रतिशत का उपयोग करते हैं। ये देश भारी मात्रा में कार्बन और प्रदूषकों का उत्सर्जन करते हैं। वहीं दूसरी ओर अल्प विकसित देशों में संसार की 78 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है और ये देश कुल उपलब्ध संसाधनों में से केवल 12 प्रतिशत का ही प्रयोग करते हैं। ये केवल 27 प्रतिशत ऊर्जा का उपयोग करते हैं। उदाहरण के लिए स्वीडन की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय उतनी है जितनी कि अफ्रीका के 23 गरीब देशों की कुल मिलाकर है। इसी तरह

टिप्पणी

अगर अफ्रीका के 35 गरीब देशों की वार्षिक प्रति व्यक्ति आय को मिलाया जाए तो वह अमेरिका के बराबर होती है। इस असमानता के दो कारण हैं-

1. गरीब देशों में ज्यादा जनसंख्या
2. विकसित देशों द्वारा संसाधनों का अत्यधिक उपभोग

सीमित मात्रा में ही लोग अत्यधिक धन और विलासिता का आनंद उठा रहे हैं जबकि करीब 2.8 अरब लोग घोर गरीबी में जीवन-यापन कर रहे हैं। ये लोग एक दिन में केवल दो अमेरिकी डालर ही बड़ी मुश्किल से कमा पाते हैं। कई लोग चिरकालिक भुखमरी का शिकार हैं और भूख से 45 हजार लोगों की मौत हर दिन होती है। यह असमानता विकसित और विकासशील देशों के बीच विद्यमान है। विश्व की जनसंख्या बढ़ रही है और साथ ही अल्प विकसित देशों में विकास और शहरीकरण को भी बढ़ावा मिल रहा है। इन देशों में बढ़ती जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा विकसित देशों की जीवन पद्धति अपना रहा है। पारिस्थितिकी रूप से यह न तो टिकाऊ है और न ही सही। इस बात के संकेत मिलने शुरू हो गए हैं कि मानव धरती की वहन क्षमता को पार कर चुका है।

यह घोर निर्धनता, आवश्यक प्राकृतिक संसाधनों के अभाव और विशेष रूप से प्रतिव्यक्ति खाद्य उत्पादन में हो रही कमी के रूप में प्रतिबिंबित हो रहा है। इन सब के परिणामस्वरूप ही एशिया और अफ्रीका के कई अल्प विकसित देशों में सशस्त्र संघर्ष भी हो चुके हैं और हो रहे हैं। इनमें से ज्यादातर संघर्ष प्राकृतिक संसाधनों जैसे खेती योग्य भूमि, खनिजों, जीवाश्म ईंधन और पानी पर नियंत्रण को लेकर हुए हैं।

धनी देशों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने खपत स्तर को कम करें और अल्पविकसित देशों के गरीब लोगों की सहायता उनकी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने में करें। धनी और गरीब देशों में संसाधनों का निष्पक्ष बंटवारा समय की मांग है ताकि सतत विकास की धारणा को अमली-जामा पहनाया जा सके।

अपनी प्रगति जांचिए

3. निम्न में से किस उत्पाद के पुनर्चक्रण में सावधानी बरतनी चाहिए?
   (क) टायर (ख) गत्ता
   (ग) कीटनाशक (घ) कांच
2. अल्पविकसित देशों में रहने वाली विश्व की 78 प्रतिशत आबादी कुल उपलब्ध संसाधनों के कितने प्रतिशत का उपयोग करती है?
   (क) 18 (ख) 12
   (ग) 14 (घ) 16

3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (ख)
3. (ग)
4. (ख)

टिप्पणी

3.5 सारांश

खाद्य सुरक्षा किसी भी स्थायी समाज के लिए एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। मानव, भोजन के लिए पेड़-पौधों, फसलों व जीवों पर निर्भर है। इसलिए बढ़ती जनसंख्या की खाद्य मांग को पूरा करने के लिए फसल उत्पादन बढ़ाना आवश्यक हो गया है। एक अनुमान के अनुसार विश्व की जनसंख्या 34 प्रतिशत की दर से बढ़ी है। इस बढ़ी जनसंख्या की खाद्य मांग को पूरा करने के लिए खाद्यान्न उत्पादन में 70 प्रतिशत की बढ़ोतरी होना जरूरी है। भूमि का एक बड़ा हिस्सा अब भूमि अवक्रमण, पोषक तत्वों की कमी, मरुस्थलीकरण तथा पानी की कमी की मार झेल रहा है।

1960 और इसके बाद के सालों में कई वैज्ञानिक पद्धतियों और तकनीकों का विकास हुआ जिनकी सहायता से खाद्य उत्पादन में जोरदार उछाल आया, वह भी खेती योग्य भूमि का विस्तार किए बिना। इन तकनीकों, रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के पर्यावरण पर भी कई प्रतिकूल प्रभाव पड़े।

बढ़ती जनसंख्या और उभरती अर्थव्यवस्थाओं में तीव्र विकास के कारण पिछले कुछ दशकों में ऊर्जा की मांग में बहुत ज्यादा बढ़ोतरी हुई है। जीवाश्म ईंधन ऊर्जा के मुख्य संसाधन हैं। ऊर्जा के ये संसाधन न केवल सीमित हैं बल्कि इनके अत्यधिक प्रयोग से ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन भी बड़े पैमाने पर हो रहा है जिससे ग्लोबल वार्मिंग और जलवायु परिवर्तन जैसी समस्याओं को बढ़ावा मिल रहा है।

ऊर्जा संसाधन दो तरह के होते हैं– अनवीकरणीय (जैसे जीवाश्म ईंधन) संसाधन और नवीकरणीय (सौर, पवन ऊर्जा आदि) संसाधन।

कृषि भूमि एक महत्वपूर्ण संसाधन है। इसने पृथ्वी का 20 प्रतिशत क्षेत्र घेर रखा है। मानव विकास से संबंधित क्रियाकलापों, निर्वनीकरण, जलाऊ लकड़ी के लिए अधिक उपभोग, कृषि कार्य के लिए भूमि के अत्यधिक दोहन और औद्योगीकरण के कारण भूमि के बड़े हिस्से का अवक्रमण हो रहा है। भूमि कटाव भूमि अवक्रमण का एक रूप है जिसमें ऊपरी हिस्सा अपने मूल स्थान से पानी या हवा के कारण हट जाता है। तीव्र गति से हो रहा भूमि कटाव या भू-क्षरण अतिचारण या अनुपयुक्त जुताई पद्धतियों जैसे मानवीय क्रियाकलापों की देन है। भूमि अवक्रमण का एक अन्य रूप मरुस्थलीकरण है। भारत के शुष्क और अर्ध-शुष्क क्षेत्रों में भूमि का यही अवक्रमण रूप देखने को मिलता है। यह मानव के कार्यों और जलवायु परिवर्तन के कारण होता है। पृथ्वी और इसके संसाधनों को बचाने के सामूहिक प्रयासों में प्रत्येक व्यक्ति का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। संसाधनों का न्यायोचित और थोड़ा प्रयोग करके हम भावी पीढ़ी के लिए भी पर्याप्त संसाधन छोड़ सकते हैं और ऐसा करके भी हम संसाधन संरक्षण कर सकते हैं। धरती पर बढ़ती जनसंख्या और सीमित संसाधनों के कारण धरती की वहन क्षमता आज एक ज्वलंत मुद्दा बन गया है। प्राकृतिक संसाधनों के बंटवारे में भी विकसित और विकासशील देशों में भारी अंतर है। एक देश के अंदर भी संसाधनों का बंटवारा समान रूप से नहीं है।

टिप्पणी

3.6 मुख्य शब्दावली

- **जैव ईंधन :** यह वह ईंधन है जिसका उत्पादन किसी जैविक नवीकरणीय संसाधन जैसे पौधे के अपशिष्ट या औद्योगिक अपशिष्ट से होता है, जैसे मिथेन।
- **वहन क्षमता :** यह मूल्यांकन करना कि किसी विशिष्ट वातावरण में अपने संसाधनों को नष्ट किए बिना और अपने भविष्य के लिए खतरा उत्पन्न किए बिना कितने जीव सतत जीवन जी सकते हैं, वहन क्षमता कहलाता है।
- **मरुस्थलीकरण :** यह वह प्रक्रिया है जिसमें उपजाऊ जमीन मरुस्थल का रूप धारण कर लेती है। यह सूखे, निर्वनीकरण और अनुपयुक्त खेती करने से होता है।
- **पारिस्थितिक पदचिह्न :** इसे किसी विशेष जनसंख्या द्वारा प्रकृति पर डाले गए दबाव के मूल्यांकन के रूप में परिभाषित किया जाता है। यह धरती की सतह के उस क्षेत्र का प्रतीक होता है जो संसाधनों की खपत के सतत स्तर और जनसंख्या द्वारा निस्तारित अपशिष्ट पदार्थों के लिए आवश्यक होता है।
- **एकल फसल :** किसी देश, क्षेत्र या खेत में केवल एक ही फसल की खेती करना एकल फसल कहलाता है।
- **भूमि कटाव या भू-क्षरण :** प्राकृतिक, मानवीय या पशुओं के क्रियाकलापों की वजह से भूमि की ऊपरी सतह का उसके पुनर्निर्माण से तेज गति से हटने को भूमि कटाव कहते हैं।

3.7 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. नवीकरणीय एवं अनवीकरणीय संसाधनों में क्या अंतर है?
2. प्राकृतिक संसाधन किन-किन मंडलों में पाये जाते हैं? उदाहरण दीजिए।
3. भूतल या भूमिगत जल का आशय स्पष्ट कीजिए।
4. जल संसाधनों के अतिशय उपभोग का प्रभाव बताइए।
5. पानी के लिये संघर्ष से क्या अभिप्राय है?
6. निर्वनीकरण के मुख्य प्रभाव बताइए।
7. मरुस्थलीकरण क्या है?
8. सतत कृषि का अभिप्राय स्पष्ट कीजिए।
9. ऊर्जा के वैकल्पिक संसाधनों के नाम लिखिए।
10. उत्पादों के पुनः प्रयोग के तरीके बताइए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. प्राकृतिक संसाधन का आशय एवं स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

टिप्पणी

2. जल संसाधन का अर्थ बताते हुए उसके अत्यधिक उपभोग के प्रभावों का आकलन कीजिए।
3. पर्यावरण में वनों की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए निर्वनीकरण के प्रभाव बताइए।
4. भूमि के अवक्रमण और मरुस्थलीकरण पर विस्तृत टिप्पणी लिखिए।
5. खाद्य समस्या पर प्रकाश डालते हुए खाद्य सुरक्षा के उपाय बताइए।
6. ऊर्जा की बढ़ती मांग को देखते हुए वैकल्पिक ऊर्जा-संसाधनों का परिचय दीजिए।
7. प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण एवं सतत विकास पर निबंध लिखिए।

3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

Allaby, M. Environment. York: Gareth Stevens Publishing, 2000.

Carson, R. Silent Spring. Boston: Houghton Miffin Harcourt, 1962.

Rajagopalan, R. Environmental Studies, 2nd edn. New Delhi: Oxford University Press.

Rangarajan M. and K. Sivaramakrishnan (eds). India's Environmental History-A Reader: (Vol. 1: From Ancient Times to the Colonial Period, Vol. 2: Colonialism, Modernity, and the Nation). New Delhi: Orient Blackswan Press, 2011.

Rangarajan, M (ed). Environmental Issues in India: A Reader. New Delhi: Pearson Longman, 2007.

WCED (World Commission on Environment and Development). Our Common Future. New York: Oxford University Press, 1987.

इकाई 4 जैव विविधता और उसका संरक्षण

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 जैव विविधता की प्रस्तावना, प्रकार एवं उसके मूल्य
  4.2.1 आनुवंशिक जैव–वैविध्य
  4.2.2 प्रजातीय जैव–वैविध्य
  4.2.3 पारिस्थितिक जैव–वैविध्य
  4.2.4 जैव विविधता के नैतिक मूल्य
  4.2.5 सामाजिक एवं सौन्दर्यगत मूल्य
4.3 राष्ट्रीय तथा स्थानीय स्तर पर जैव विविधता तथा उससे संबंधित खतरे
  4.3.1 राष्ट्रीय स्तर पर जैव विविधता और भारत
  4.3.2 आवासीय हानि तथा जैव विविधता के अन्य खतरे
  4.3.3 वन्य जीवन में अनाधिकार घुसपैठ और मानव–वन्यजीव संघर्ष
  4.3.4 भारत के प्रमुख राष्ट्रीय उद्यान, वन्य जीव अभयारण्य तथा बायोस्फीयर रिजर्व
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

जैव विविधता जीवन की विविधता के स्तर का मापन है। इसके अनेक रूप हो सकते हैं– आनुवंशिक भिन्नता, प्रजातीय भिन्नता अथवा किसी क्षेत्र/जीवमंडल अथवा ग्रह की पारितंत्र भिन्नता। विषुवत रेखा के निकट स्थलीय जैव–वैविध्य सर्वाधिक पाया जाता है क्योंकि वहां जलवायु उष्ण व वर्षण अधिक होने से उत्पादकता (प्राथमिक उत्पादक अर्थात वनस्पति) अधिक रहती है। पश्चिमी प्रशांत क्षेत्र में महासागर–तटों के निकट महासागरीय जैव–वैविध्य (जलीय जैव–वैविध्य) सर्वाधिक पाया गया है क्योंकि वहां महासागर की सतह व समस्त महासागरों में मध्य–अक्षांशीय कटिबंध का तापक्रम सर्वाधिक रहता है। जैव–वैविध्य साधारणतया घटता–बढ़ता रहता है तथा कुछ स्थानों का जैव–वैविध्य लगभग चिरस्थायी–सा प्रतीत होता है (उदाहरणार्थ अभयारण्य व राष्ट्रीय उद्यान)।

'जैविक विविधता' शब्द–समूह का प्रयोग सर्वप्रथम वन्य जीवविज्ञानी व संरक्षणविद् रेमंड एफ डॅस्मेन द्वारा सन् 1968 में अपनी पुस्तक 'संरक्षण के समर्थन में भिन्न प्रकार के देश' में किया गया था। इस शब्द–समूह को व्यापक रूप से एक दशक से भी अधिक अवधि के बाद तब अपनाया जाने लगा जब 1980 के दशक में विज्ञान व पर्यावरणीय नीतियों में इसे प्रयोग किया जाने लगा। वास्तव में प्राचीन भारत की आर्यपरंपरा में अरण्य–संस्कृति के रूप में इसका उद्‌गम है।

इस इकाई में हम जैव–वैविध्य के विविध पहलुओं का अध्ययन करते हुए पर्यावरण विघटन संबंधी समस्याओं एवं उनके समाधानात्मक आयामों पर चर्चा करेंगे

और साथ ही इस तथ्य पर प्रकाश डालेंगे कि प्रकृति के साथ तादात्म्यपूर्ण जीवन जीना आवश्यक प्राथमिकता है।

टिप्पणी

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- जैव विविधता के अभिप्राय, प्रकार एवं उसमें निहित मूल्यों को समझ पाएंगे;
- आनुवंशिक जैव–वैविध्य सहित जैव–वैविध्य के विविध स्वरूपों एवं उनके संरक्षण के उपायों का वर्णन कर पाएंगे;
- जैव विविधता के नैतिक, सामाजिक एवं सौन्दर्यगत मूल्यों से अवगत हो पाएंगे;
- जैव विविधता पर उत्पन्न खतरों के कारणों एवं बचाव के तरीकों का वर्णन कर पाएंगे;
- 'प्रकृति के साथ तादात्म्यपूर्ण जीवन जीना आवश्यक प्राथमिकता क्यों है' इसका अवलोकन कर पाएंगे।

4.2 जैव विविधता की प्रस्तावना, प्रकार एवं उसके मूल्य

जीवविज्ञानी बहुधा जैव–वैविध्य को 'अंचल के पारितंत्रों, प्रजातियों व अनुवंशकों (जीन्स) की संपूर्णता' के रूप में परिभाषित करते हैं। इस परिभाषा से लाभ यह है कि इसमें अधिकांश परिस्थितियों का विवेचन मिल जाता है एवं उन पारंपरिक तीनों स्तरों का एकीकृत स्वरूप सामने आ जाता है जिन पर जैविक भिन्नता की पहचान की गयी है। ये स्तर हैं–

- प्रजातीय वैविध्य,
- पारितंत्र–वैविध्य,
- आनुवंशिक वैविध्य।

सन् 1992 में आयोजित की गयी 'यूनाइटेड नेशन्स अर्थ समिट' में 'जैविक विविधता' को सभी स्रोतों के सजीवों में भिन्नताओं के रूप में परिभाषित किया गया है जिनमें "परस्पर संबंधी स्थलीय, समुद्री एवं अन्य जलीय पारितंत्रों सहित ऐसे पारिस्थितिक संकुल सम्मिलित हैं जिनमें कि ये भाग हैं– इसमें प्रजातियों एवं पारितंत्रों में व इनके मध्य की विविधता समाहित है।" इस परिभाषा का प्रयोग यूनाइटेड नेशन्स कन्ज़र्वेशन ऑन बायोलॉजिकल डायवर्सिटी में किया गया है।

वितरण

जैव–वैविध्य का वितरण एक समान नहीं है। संपूर्ण पृथ्वी के भिन्न–भिन्न स्थानों में यह भिन्न है। समस्त सजीवों की विविधता अन्य कारकों के अतिरिक्त तापक्रम, वर्षण, अक्षांश, मृदा, भूगोल व अन्य प्रजातियों की उपस्थिति पर भी निर्भर होती है। जीवों, प्रजातियों एवं पारिस्थितिक तंत्रों के स्थान–वितरण का अध्ययन विज्ञान की शाखा 'जैव–भूगोल' में किया जाता है।

टिप्पणी

साधारणतया ध्रुवीय क्षेत्रों, शीतोष्ण कटिबंधों की अपेक्षा उष्णकटिबंधीय अंचलों में अधिक जैव–वैविध्य होता है। वर्षावनों में प्रायः आर्द्र जलवायु होती है, जैसे कि इक्वेडोर के यसुनी राष्ट्रीय उद्यान में। इस कारण यहां का भूभाग जैव–वैविध्य में अधिक संपन्न रहता है।

महासागरीय जैव–वैविध्य से तुलना में स्थलीय जैव–वैविध्य कई गुना अधिक है। नवीनतम आकलनों के अनुसार पृथ्वी पर 87 लाख प्रजातियां होंगी जिनमें से 21 लाख महासागरों में वास करती हैं (वैसे ये इन आकलनों में सूक्ष्मजीवों के वैविध्य का विस्तार नहीं दिखता क्योंकि इनका वैविध्य इस संख्या से अत्यधिक हो सकता है)।

अक्षांशीय प्रवणता

साधारणतया ध्रुवों से विषुवत् रेखा की ओर बढ़ने पर जैव–वैविध्य में अभिवृद्धि होती जाती है। इस प्रकार जो स्थान भूमध्यरेखा से जितने समीपवर्ती हैं वहां दूरवर्ती स्थानों की अपेक्षा अधिक प्रजातियां हैं। इसे बहुधा प्रजातीय वैविध्य में अक्षांशीय प्रवणता कहा जाता है। इस प्रवणता में अनेक पारिस्थितिक क्रियाविधियों का योगदान हो सकता है परंतु सबसे मुख्य कारक यही होता है कि विषुवत्/भूमध्यरेखा का माध्य तापक्रम ध्रुवों के माध्य तापक्रम से बहुत अधिक रहता है।

भले ही भूमध्यरेखा से ध्रुवों की दिशा में बढ़ने के सापेक्ष स्थलीय जैव–वैविध्य घटता जाता हो किंतु कुछ अध्ययनों में यह दावा किया गया है कि जलीय पारितंत्रों में यह अभिलक्षण प्रामाणिक नहीं रहता, विशेषतया समुद्री पारितंत्रों में। परजीवियों का अक्षांशीय वितरण इस धारणा के अनुकूल नहीं है।

जैव–वैविध्य केंद्र

जैव–वैविध्य केंद्र ऐसे स्थलों को कहा जाता है जहां ऐसी देशज (एंडमिक) प्रजातियां बाहुल्य में हों जिन्हें मानवों से खतरा है। यद्यपि जैव–वैविध्य केंद्र संपूर्ण विश्व में हैं परंतु अधिकांश जैव–वैविध्य केंद्र उष्णकटिबंधीय वनों में हैं।

ब्राजील का अटलाण्टिक वन ऐसा ही एक जैव–वैविध्य केंद्र माना जाता है जहां अनुमानतः 20,000 पादप–प्रजातियां, 1350 कशेरुकी–प्रजातियां एवं लाखों कीट–प्रजातियां तो ऐसी हैं जिनमें से लगभग आधी प्रजातियां अन्यत्र नहीं पायी जातीं।

इस परिप्रेक्ष्य में मेडागास्कर द्वीप विशेष उल्लेखनीय है। कोलम्बिया को अपने संपन्न जैव–वैविध्य के कारण जाना जाता है जहां क्षेत्र इकाई के संदर्भ में प्रजातियों की दर विश्व में सर्वाधिक है। यहां देशज प्रजातियों (ऐसी प्रजातियां जो अन्यत्र प्राकृतिक रूप में नहीं हैं) की संख्या किसी भी अन्य देश से अधिक है। कोलम्बिया में पृथ्वी की 10 प्रतिशत प्रजातियों का वास है जिनमें 1900 प्रजातियों के पक्षी सम्मिलित हैं (पक्षी–प्रजातियों की यह संख्या यूरोप व उत्तर अमेरिका की संयुक्त पक्षी–प्रजाति संख्या से अधिक है)। कोलम्बिया में विश्व की 10 प्रतिशत स्तनपायी प्रजातियां रहती हैं। विश्व की 14 प्रतिशत उभयचर (एम्फ़ीबियन) व 18 प्रतिशत पक्षी प्रजातियों ने कोलम्बिया को अपना निवास–स्थान बनाया है।

जैव–वैविध्य में अंतरों का सटीक मापन दुष्कर हो सकता है क्योंकि विभिन्न अनुसंधाताओं के अनुभवजन्य निष्कर्ष भिन्न–भिन्न होते हैं तथा समस्त वैज्ञानिक कार्यकलाप एक साथ करने पर भी समस्त प्रजातियों को खोज लेने का दावा नहीं किया

टिप्पणी

जा सकता। प्रकृति के कण–कण में भांति–भांति के प्राणी निवास करते हैं। खोज के दौरान प्रत्येक प्रजाति तक पहुंच पाना मानवीय सीमा से परे है।

4.2.1 आनुवंशिक जैव–वैविध्य

जैव–वैविध्य का मूलभूत स्रोत अनुवंशक (जीन्स) हैं। जीवों में पाये जाने वाले अनुवंशक विविधतापूर्ण संयोजनों में विद्यमान रहते हैं जिनमें से प्रत्येक संयोजन के कारण कोई भिन्नता प्रकट होती है। आनुवंशिक सूचनाओं की आधारभूत इकाई अनुवंशक हैं। इन्हीं अनुवंशकों के माध्यम से आनुवंशिक सूचनाओं का प्रवाह भावी पीढ़ियों में होता रहता है। जब किसी प्रजाति में अनुवंशकों द्वारा (नवीन संयोजनों के कारण) भिन्न रूपांतर दर्शाया जाता है तो इसे आनुवंशिक भिन्नता कहते हैं। उदाहरण हेतु चावल की समस्त किस्में ऑराइज़ा सैटाइवा प्रजाति से संबंध रखती हैं परंतु वन्य एवं फसलीय किस्मों की ऐसी सहस्त्रों चावल–प्रजातियां हैं जो आनुवंशिक स्तर पर भिन्नता लिए हुए हैं। यह भिन्नता वर्ण, आकार, आकृति, सुगंध एवं दाने के पोषक संघटन के रूप में छलकती है। इस प्रकार यह चावल का आनुवंशिक जैव–वैविध्य हुआ।

आनुवंशिक जैव–वैविध्य का आशय प्रजाति के भीतर अनुवंशकों के भिन्नता से है। प्रजाति विशेष में प्रत्येक किस्म के अपने अनुवंशक होते हैं अर्थात उनकी अपनी भिन्न आनुवंशिक बुनावट होती है। प्रजाति में अनुवंशकों की विविधता होने से ये किस्में रोग, प्रदूषण व पर्यावरण में अन्य परिवर्तनों से प्रतिरोधी रहती हैं अर्थात् अपने अस्तित्व के लिए इनकी अनुकूलन क्षमता में वृद्धि होती है। यदि प्रजाति की कोई किस्म/नस्ल नष्ट हो जाती है तो आनुवंशिक वैविध्य घट जाता है।

आनुवंशिक जैव–वैविध्य के संरक्षण की युक्तियां

विशिष्ट संरक्षण मुद्दों व समग्र जीवसंख्या ढांचे के संबंध में प्रजातियों के जिनोम्स का मूल्यांकन करने के लिए विशिष्ट आनुवंशिक युक्तियां प्रयोग की जाती हैं।

जीवों व जीवसंख्याओं के मध्य अंतरों का विश्लेषण करने के लिए अपनायी जाने वाली युक्तियों में निम्नांकित सम्मिलित हैं–

1. एलोएन्ज़ाइम्स
2. 'यादृच्छिक विखंड लम्बाई बहुरूपताएं' (रैण्डम फ्रेग्मेण्ट लेन्थ पॉलिमॉर्फ़िज़्म्स)।
3. 'आवर्द्धित विखंड लम्बाई बहुरूपताएं' (एंप्लिफ़ाइड फ्रेग्मेण्ट लेन्थ पॉलिमॉर्फ़िज़्म्स)।
4. बहुरूपी DNA का यादृच्छिक आवर्द्धन।
5. 'एकल–रज्जुक संरूपण बहुरूपता' (सिंगल–स्ट्रैंड कॉन्फ़ोर्मेशन पॉलिमॉर्फ़िज़्म)।
6. मिनिसैटेलाइट्स।
7. माइक्रोसैटेलाइट्स।
8. सिंगल–न्यूक्लियोटाइड पॉलिमॉर्फ़िज़्म्स।
9. 'अनुक्रम विश्लेषण' (सिक्वेन्स एनालिसिस)।
10. DNA फिंगर–प्रिंटिंग।

इन भिन्न–भिन्न युक्तियों में जंतुओं व पादपों के जीनोम्स के विभिन्न भिन्नतापूर्ण क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। युक्तियों के चयन में यह विशिष्ट जानकारी होनी

टिप्पणी

आवश्यक है कि जिनोम के किस भाग का विश्लेषण किया जाना है एवं किस युक्ति को आज़माना अधिक उपयुक्त हो सकता है। उदाहरण के लिए जंतुओं में सूत्रकणिकीय (मायटोकॉण्ड्रियल) DNA की प्रतिस्थापन (सब्स्टिट्यूशन)–दर अधिक होती है जिससे इसके माध्यम से विभिन्न जीवों के मध्य के अंतरों को पहचान पाना सरल है। वैसे यह मादाओं में ही वंशानुगत होता है एवं सूत्रकणिका का जिनोम तुलनात्मक रूप से लघु होता है। पादपों में सूत्रकणिकीय DNA में संरचनात्मक उत्परिवर्तनों की दर अत्यधिक होती है अतः 'आनुवंशिक चिह्नकों' (जेनेटिक मार्कर्स) के रूप में इसका प्रयोग कम ही किया जाता है क्योंकि इसके स्थान पर 'हरित लवक' (क्लोरोप्लास्ट) के जिनोम का प्रयोग किया जा सकता है। जिनोम में उच्च उत्परिवर्तन–दरों वाले अन्य स्थानों (यथा मेजर हिस्टोकॉपेटिबिलिटी कॉम्प्लेक्स, माइक्रोसेटेलाइट्स व मिनीसेटेलाइट्स) का भी अधिक प्रयोग किया जाता है।

इन युक्तियों द्वारा उपलब्ध होने वाली सूचनाएं आनुवंशिक वैविध्य के दीर्घकालिक संरक्षण के लिए उपयोगी हो सकती हैं एवं जीवसंख्यात्मक व पारिस्थितिकीय विषयों का स्पष्टीकरण करती हैं, जैसे कि वर्गिकी का।

ऐतिहासिक DNA का प्रयोग एक और ऐसी युक्ति है जिसके द्वारा आनुवंशिक विश्लेषण किया जाता है। ऐतिहासिक DNA महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे आनुवंशिकीविद् समझ पाते हैं कि प्रजातियों ने अतीत में परिवर्तनों व परिस्थितियों से किस प्रकार प्रतिक्रिया की। इससे भविष्य में उस प्रजाति की संभावित प्रतिक्रियाओं को समझने में तनिक सरलता हो जाती है।

ऐतिहासिक DNA के प्रयोग वाली युक्तियों में संग्रहालय एवं गुफाओं में स्थित अवशेषों को प्रयोगशाला में लाया जाता है। संग्रहालय उपयोगी इसलिए हैं क्योंकि यहां समूचे विश्व के वैज्ञानिकों को बहुसंख्य प्रजातियां उपलब्ध हो जाती हैं। संग्रहालयों का प्रयोग करने में एक समस्या यह है कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों को अलग से समझना पड़ता है क्योंकि इनसे जो परिणाम आएंगे उनका संबंध अतीत की परिस्थितियों से प्रजातियों की प्रतिक्रियाओं से होगा जिन्हें भविष्य में इन प्रजातियों की पारिस्थितिक प्रतिक्रियाओं के पूर्वानुमान में प्रयोग किया जा सकता है। गुफाओं में मिले साक्ष्यों में विस्तृत परिप्रेक्ष्य का विवेचन मिलता है व जंतुओं को बाधा नहीं पहुंचती।

जीव की विशिष्ट आनुवंशिकी का अध्ययन करने में उपयोगी एक अन्य युक्ति 'अनाक्रमणकारी निगरानी' (नॉन–इन्वेसिव मॉनिटरिंग) है जिसमें ऐसे मृत पदार्थों से निष्कर्षित DNA का प्रयोग किया जाता है जिनमें जीव के वैज्ञानिक रूप से महत्वपूर्ण अवशेष मिल सकते हैं, उदाहरणार्थ पंख। इसमें भी जंतुओं का जीवन मानवीय हस्तक्षेप से अप्रभावित रहता है तथा इस युक्ति द्वारा जीव के लिंग, गति, संबंध व आहार की जानकारियां मिल सकती हैं।

अन्य अधिक साधारण युक्तियों का प्रयोग करके ऐसे आनुवंशिक कारकों में सुधार लाया जा सकता है जो प्रजाति को लुप्ति की ओर ढकेलते हैं। उदाहरण के लिए अंतर्प्रजनन (कुटुम्ब के सदस्यों/रक्तसम्बन्धियों में प्रजनन–संबंध जो कि आनुवंशिक वैविध्य के लिए हानिकर है) को न्यूनतम करते हुए व आनुवंशिक भिन्नता बढ़ाते हुए प्रजाति के अस्तित्व को बचाने के प्रयास किये जा सकते हैं। उत्प्रवास के माध्यम से विषमयुग्मकता में वृद्धि, शीत–परिरक्षण के द्वारा पीढ़ीगत अंतराल में वृद्धि अथवा वृद्ध

टिप्पणी

जंतुओं से अभिजनन एवं परिवार आकार के समतुल्यीकरण के माध्यम से प्रभावी जीवसंख्या आकार बढ़ाने से अंतर्प्रजनन व इसके प्रभावों को न्यूनतम करने में सहायता होती है। वैसे उत्परिवर्तन के माध्यम से 'क्षयकारी युग्म–विकल्पी' (डिलीटोरियस एलील्स) उत्पन्न हो जाते हैं जिनमें से कुछ अक्रिय (रिसेसिव) युग्म–विकल्पी अंतर्प्रजनन के कारण अधिक प्रधान भूमिका में आ सकते हैं। क्षयकारी उत्परिवर्तन अंतर्प्रजनन से उपजे ऐसे उत्परिवर्तनों को कहा जाता है जिन्हें प्राकृतिक वरण द्वारा दूर किया जा सकता है। वन्यजीवन में वापस छोड़ देने के प्रयोजन से बंधन–अवस्था (केप्टिविटी) में अभिजनन करायी गयी जीवसंख्या को वनक्षेत्र में वापस छोड़ दिए जाने से यह जीवसंख्या बंधन–अवस्था में अपना लिए गए अनुकूलनों से वनक्षेत्र में जूझती है।

बंधन–अवस्था में अंतर्प्रजनन कराने/होने देने, आनुवंशिक वैविध्य को क्षति एवं आनुवंशिक अनुकूलन वनजीवन के लिए हानिकारक होते हैं तथा इन मुद्दों में से कई का संबंध उपरोक्त युक्तियों से हो सकता है जिनका लक्ष्य विषमयुग्मकीयता को बढ़ाना है। बंधन–अवस्था में कोई अनुकूलन हो जाने को रोकने के लिए बंधन–अवस्था में ऐसा परिवेश तैयार किया जा सकता है जो लगभग पूर्णतः वनजीवन के समकक्ष हो।

प्रजाति को विलुप्ति की कगार तक ले जाने वाले कारकों को अल्पतम करने के लिए अपनाये गए उपाय अतिव्यापी (एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ना) हो जाते हैं क्योंकि कारक स्वयं भी परस्पर अतिव्यापी होते हैं। उदाहरणार्थ क्षयकारी उत्परिवर्तन 'उत्परिवर्तन' के द्वारा जीवसंख्या में आ जाते हैं परंतु संरक्षण–जैविकीविदों की चिंता यह होती है कि ये क्षयकारी उत्परिवर्तन अंतर्प्रजनन द्वारा भी आ सकते हैं। यहां अंतर्प्रजनन घटाने के लिए प्रयोग की गयी युक्तियां क्षयकारी उत्परिवर्तनों के संचयन को रोकने में भी सहायक हो सकती हैं।

संरक्षण की युक्तियों के अनुप्रयोग

संरक्षण की युक्तियों का प्रयोग व्यापक स्तर पर किया जा रहा है। इन विशिष्ट आणविक युक्तियों द्वारा एक मत्स्य–कुल साल्मोनिड्स की प्रजातियों व उप–प्रजातियों को स्पष्टतया पहचान लिया गया है। साल्मोनिड्स में संकरण का विशेष महत्व है एवं इसके संरक्षण, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक निहितार्थ बहुत हैं। Cutthroat Troutmt DNA एवं एलोएन्ज़ाइम विश्लेषण में मूलज (नेटिव) व अ–मूलज (नॉन–नेटिव) प्रजातियों के मध्य के संकरण को ऐसे प्रमुख कारक के रूप में देखा गया जो इनकी जीवसंख्या घटने के लिए उत्तरदायी है। इसलिए कुछ संकरित जीवसंख्या को हटाने के प्रयास किये गए ताकि मूलज जीवसंख्याएं अधिक तीव्रता से अभिजनन कर पायें। इस जैसे प्रकरणों का प्रभाव स्थानीय मछुवारों से लेकर बड़ी कंपनियों (उदाहरण–इमारती लकड़ी) तक की अर्थव्यवस्था पर भी पड़ता है। विशिष्ट आणविक युक्तियों के कारण वर्गीकीय (टॅक्सोनॉमिक) संबंधों का गहन विश्लेषण संभव हो पाता है, इस कारक को समझना आवश्यक है ताकि प्रजाति को विलुप्ति से बचाया जा सके।

उपयोगिता

संरक्षण–आनुवंशिकी में नवीन प्रौद्योगिकी की उपयोगिता अत्यधिक है जो कि संरक्षण–जीवविज्ञान के भविष्य के लिए आशा उत्पन्न करती है। आणविक स्तर पर नवीन प्रौद्योगिकियां उन्नत होती जा रही हैं। MHC व मिनिसेटेलाइट्स का विश्लेषण

टिप्पणी

ऐसी युक्तियों में सम्मिलित हैं। वर्गिकीय संबंधों को स्पष्ट रूप से समझने में ये आणविक युक्तियां महत्तापूर्ण हैं क्योंकि जैसा कि पूर्ववर्ती उदाहरण में ज्ञात होता है कि प्रजाति के जीवों के पारस्परिक संबंधों को निर्धारित करते हुए अभिजनन कराकर श्रेष्ठ जीवों को वापस वनजीवन में भेजकर नैसर्गिक जीवसंख्या को बढ़ाया जा सकता है। इन परिणामों के प्रभाव दूरगामी होते हैं। प्रजातियों का संरक्षण मानवजाति के आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक पहलुओं में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। जैविक परिदृश्य में बढ़ी हुई जिनोटाइपिक विविधता पारिस्थितिक–तंत्र के जीर्णोद्धार में सहायक सिद्ध हुई है जैसा कि घासों के एक समुदाय में दिखा है।

संरक्षण–आनुवंशिकीविदों के लिए अनुसंधान–विषयों के अंतर्गत निम्नलिखित सम्मिलित हैं–

1. प्रजातियों, उप–प्रजातियों, भौगोलिक नस्लों एवं जीवसंख्याओं का जातिवृत्त (फ़ाइलोजेनेटिक)–वर्गीकरण करने में तथा जातिवृत्त–विविधता व अद्वितीयता के मापन में।
2. संकर प्रजातियों को पहचानने, प्राकृतिक जीवसंख्याओं में संकरण कराने तथा प्रजातियों के मध्य इंट्रोग्रेशन के विस्तार के इतिहास के आकलन में।
3. प्राकृतिक व प्रबन्धित जीवसंख्याओं के 'जीवसंख्या आनुवंशिक ढांचा' के अध्ययन में जिसमें संरक्षण के लिए 'उद्वैकासिकरूपेण महत्तापूर्ण इकाइयों' (Evolutionary Significant Units- ESUs) व प्रबंधन इकाइयों की पहचान सम्मिलित हैं।
4. प्रजाति अथवा जीवसंख्या में आनुवंशिक भिन्नता का मूल्यांकन करना जिसमें छोटी अथवा विलुप्तप्राय जीवसंख्याओं के साथ 'प्रभावी जीवसंख्या आकार'(Ne) जैसे प्राक्कल सम्मिलित हैं।
5. अंतर्प्रजनन व बहिःप्रजनन दुष्प्रभावों का मूल्यांकन करना एवं विषमयुग्मकीयता के संबंध को जानना तथा अनुकूलता का मापन (देखें: प्राकृतिक वरण का फ़िशर आधारभूत प्रमेय)।
6. विघ्नित जीवसंख्याओं में विच्छिन्न साथी–चयन व प्रजननात्मक रणनीति का साक्ष्य।
7. अपराध–विज्ञानी (फ़ोरेन्सिक) अनुप्रयोग, विशेषतः विलुप्तप्राय प्रजातियों के व्यापार के नियंत्रण के लिए।
8. 'बंधन–अवस्था अभिजनन कार्यक्रमों' (केप्टिव ब्रीडिंग प्रोग्राम्स– जैव विविधता) व वन–प्रवेश (रि–इंट्रोडक्शन) योजनाओं के दौरान आनुवंशिक वैविध्य को अधिकतम करने एवं निगरानी की प्रायोगिक विधियां जिनमें गणितीय प्रतिरूप व प्रकरण–अध्ययन सम्मिलित हैं।
9. आनुवंशिकतया रूपांतरित जीवों को पर्यावरण में लाने संबंधी संरक्षण–मुद्दे।
10. पर्यावरणीय संदूषकों व जैविकी एवं जीव के स्वास्थ्य के मध्य के अन्योन्य क्रियण जिनमें उत्परिवर्तन–दरों में परिवर्तन एवं पर्यावरण में स्थानीय परिवर्तनों के प्रति अनुकूलन सम्मिलित है (यथा– औद्योगिक अतिकृष्णता)।
11. अनाक्रमणकारी जिनोटाइपिंग के लिए नवीन युक्तियां।

Exhibit 4.1 संरक्षण–जैविकी में आनुवंशिकी के सुस्पष्ट मुद्दे।

टिप्पणी

- प्रजनन एवं उत्तरजीविता पर अंतर्प्रजनन के क्षयकारी प्रभाव (अंतर्प्रजनन दुष्प्रभाव)
- आनुवंशिक वैविध्य का ह्रास एवं पर्यावरणीय परिवर्तन के प्रति अनुक्रिया में रह पाने की क्षमता।
- जीवसंख्याओं में विखंडन होना एवं अनुवंशिक–प्रवाह (जीन–फ्लो) में कमी।
- प्रमुख उद्वैकासिक बल के रूप में अतिप्रभावी प्राकृतिक वरणः यादृच्छिक प्रक्रियाएं (आनुवंशिक संवाहन)।
- क्षयकारी कारकों का संचयन एवं ह्रास (निकासी)।
- बंधन–अवस्था में आनुवंशिक अनुकूलन एवं वन–प्रवेश (री–इंट्रोडक्शन) सफलता पर इसके प्रतिकूल प्रभाव।
- वर्गिकी अनिश्चितताओं का समाधान।
- प्रजाति में प्रबंधन–इकाइयों को परिभाषित करना।
- अपराध–विज्ञान में आनुवंशिक विश्लेषणों का उपयोग।
- प्रजातीय जैविकी के पहलुओं को समझने के लिए आणविक आनुवंशिक विश्लेषणों का उपयोग।
- ऐसी अनुकूलता के क्षयकारी प्रभाव जो कभी–कभी आउट–क्रॉसिंग (आउटब्रीडिंग डिप्रेशन) के परिणामस्वरूप सामने आता है।

आनुवंशिक वैविध्य की महत्ता

यदि प्रजाति के कई अनुवंशकों में आनुवंशिक विविधता कम हो जाए तो वह प्रजाति जोख़िम की दिशा में बढ़ने लगती है। इसके सभी अनुवंशकों अथवा लगभग सभी अनुवंशकों की आनुवंशिक सूचनाएं भावी पीढ़ी तक पहुंचनी अनिवार्य है जिस कारण इसकी प्रत्येक किस्म/नस्ल के सभी जीव परस्पर लगभग एक–से होते हैं। यदि कोई नवीन प्रतिबल (यथा पर्यावरणीय विपदा) पड़ता है तो उच्च आनुवंशिक वैविध्य वाली नस्लें/किस्में अर्थात् उपजातियों में कुछ जीव तो अवश्य बचे रह पायेंगे, ऐसी संभावना बनी रहती है क्योंकि आनुवंशिक विविधतासंपन्न ये जीव ही आगे अपने समकक्ष आनुवंशिक विविधता संपन्न जीवसंख्या को जन्म देंगे जो प्रतिकूल पारिवेशिक परिस्थितियों में भी जीवन–निर्वाह कर सकेंगे परंतु वर्तमान जीवसंख्या में आनुवंशिक विविधता कम होने से दो हानियां हैंः ये पर्यावरणीय प्रतिकूलताओं में स्वयं को ढाल पाने में अक्षम पड़ सकते हैं एवं इनमें स्वयं की आनुवंशिक विविधता कम है इसलिए ये अधिक नवीन आनुवंशिक संयोजनों का सृजन नहीं कर पायेंगे। आनुवंशिक विविधता जितनी निम्न होगी उस प्रजाति/उपजाति के जीव विपरीत स्थितियों में स्वयं को संभाल पाने में उतने ही विफल रहेंगे क्योंकि इन विविधतापूर्ण अभिलक्षणों के अभाव में पूरी की पूरी प्रजाति अकस्मात् लुप्त हो सकती है।

प्रजाति का आनुवंशिक वैविध्य परिवर्तनशील होता है। वर्तमान में किस प्रजाति की किस उपजाति में अनुवंशक के कितने प्रभेद (वैरियेंट्स) उपस्थित हैं, इस तथ्य से अधिक महत्वपूर्ण यह तथ्य है कि कुछ ही प्रभेद भावी पीढ़ी में जा सकेंगे व भविष्य में प्रजातीय वैविध्य का शृंगार करेंगे। यदि किसी अनुवंशक का एक प्रभेद भी समाप्त हो गया तो उस प्रभेद को पुनर्प्राप्त नहीं किया जा सकता।

संरक्षण–आनुवंशिकी के दो लक्ष्य होते हैं–

- आनुवंशिक वैविध्य को अधिकाधिक स्तरों पर बनाये रखना अर्थात अनुरक्षण।
- जीवसंख्या की निगरानी व मूल्यांकन के लिए साधन उपलब्ध कराना।

टिप्पणी

4.2.2 प्रजातीय जैव–वैविध्य

यह ऐसी भिन्नता है जो प्रजाति की जीवसंख्या में अथवा समुदाय की भिन्न–भिन्न प्रजातियों के मध्य पायी जाती है। इसमें प्रजातीय समृद्धि एवं समुदाय में उनकी विपुलता स्पष्ट होती है।

अब तक 15 लाख जीवित व तीन लाख जीवाश्म प्रजातियों का वास्तविक विवेचन किया जा चुका है एवं उन्हें वैज्ञानिक नाम भी दिए जा चुके हैं। ऐसी प्रबल संभावना है कि वर्तमान प्रजातियों में से बहुत–सी प्रजातियां तो खोजी जाने व सूचीबद्ध किये जाने से पूर्व ही विलुप्त हो सकती हैं (सूचीबद्ध करने का कार्य आरंभ करने से लेकर अब तक कई प्रजातियां सूचीबद्ध किये जाने के बाद लुप्त हो गयीं)।

प्रजातीय जैव–वैविध्य का आशय अंचल में भांति–भांति की प्रजातियां होने से है। अंचल में प्रजातियों के आधार पर इस वैविध्य का मापन किया जा सकता है। प्रजातीय वैविध्य जितना अधिक होगा जैविक संपदा भी उतनी ही अधिक होगी।

4.2.3 पारिस्थितिक जैव–वैविध्य

यह पारिस्थितिक जटिलता का वैविध्य है जिसमें पारिस्थितिक निकेत, कटिबंधीय संरचना, खाद्य–जालों, पोषक–चक्र इत्यादि में व्याप्त भिन्नता सम्मिलित है। पारितंत्रों में आर्द्रता, तापक्रम, देशांतर (एल्टीट्यूड) एवं वर्षण जैसी भौतिक कसौटियों के संदर्भ में भिन्नता भी दिखायी देती हैं। इस प्रकार इन प्रवणताओं (ग्रेडियेंट्स) के कारण पारितंत्रों में प्रचुर वैविध्य होता है।

हम प्रमुखतः वन–पारितंत्र के वैविध्य का विचार करते हैं जहां वृक्षों की प्रधानता रहती है। उष्णकटिबंधीय वर्षावन, उष्णकटिबंधीय पर्णपाती वन, शीतोष्ण पर्णपाती वनों में देखे जाने वाले वैविध्य अत्यधिक हैं एवं इनमें से अधिकांश तो इन्हीं भौतिक कारकों की उपस्थिति से होते हैं।

पारितंत्र–वैविध्य का महत्व अत्यधिक है जिसे अक्षुण्ण रखा जाना चाहिए। यह वैविध्य उद्विकास के करोड़ों वर्षों में विकसित हुआ है। यदि हम इस वैविध्य का नाश कर दें तो समग्र पारिस्थितिक संतुलन ध्वस्त हो जाएगा। एक पारितंत्र के वैविध्य को दूसरे पारितंत्र के वैविध्य से प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता। उष्णकटिबंधीय पर्णपाती वन–वृक्षों का स्थान शंकुधारी वृक्ष नहीं ले सकते। पारिस्थितिक विविधता का विकास पारितंत्र की पारिवेशिक स्थितियों में सुविनियमित पारितंत्र–संतुलन के साथ हुआ है।

पारितंत्र जैव–वैविध्य का तात्पर्य किसी अंचल अथवा प्रक्षेत्रविशेष में पारितंत्र की विविधता है। उदाहरणार्थ वन, आर्द्रभूमि, अर्द्धशुष्क प्रक्षेत्र एवं मरुस्थल भिन्न–भिन्न प्रकार के पारितंत्र हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना–अपना विशिष्ट वनस्पतिजगत् व जंतुजगत् होता है, अर्थात् अपना भिन्न एक जैव–वैविध्य होता है।

टिप्पणी

जैव–वैविध्य का महत्व

अपनी वाणिज्यिक उपयोगिता, पारिस्थितिक सेवा, सामाजिक व सौंदर्यात्मक मूल्य के संदर्भों में जैव–वैविध्य अत्यधिक महत्वपूर्ण है। हम अन्य प्रजातियों से बहुसंख्य प्रकारों में लाभान्वित होते रहते हैं। कभी–कभी तो प्रजातियों का महत्व हमें उनकी विलुप्ति के बाद पता चलता है। महत्वहीन (गौण) व अनुपयोगी–सी लगने वाली प्रजातियां पारितंत्र के पारिस्थितिक संतुलन में निर्णायक भूमिका वाली हो सकती हैं; ये अभी असाध्य समझे जाने वाले एक्वायर्ड इम्यूनो डेफ़िशियन्सी सिंड्रोम व कैंसर जैसे रोगों के लिए अनमोल औषधियों के भंडार का कार्य कर सकती हैं। जैव–वैविध्य के बहु–आयामी उपयोगों का वर्गीकरण नीचे किया जा रहा है–

(अ) उपभोगात्मक प्रयोग–मूल्य

इनमें प्रत्यक्ष प्रयोग मूल्य सम्मिलित हैं जहां जैव–वैविध्य के उत्पादों का दोहन व प्रयोग प्रत्यक्ष रूप में किया जाता है, यथा– ईंधन, खाद्य, औषधियां एवं रेशे।

खाद्यः भांति–भांति के वन्य पादपों व पादपोत्पादों का सेवन मानवों द्वारा आहार के रूप में किया जाता है। लगभग 80000 खाद्य पादप–प्रजातियों का उद्‌गम वन्य अवस्था से हुआ रिपोर्ट किया गया है। वर्तमान में खाद्य–फसलों के रूप में अपनायी जा रही पादप–प्रजातियों में से लगभग 90 प्रतिशत प्रजातियां वन्य उष्णकटिबंधीय पादपों का कृष्य रूप हैं। अब भी हमारे कृषि–वैज्ञानिक पादपों की वन्य प्रजातियों को उपयोग में लाकर फसलों के रूप में विकसित करने के प्रयास कर रहे हैं ताकि नवीन प्रतिरोधी विभेद खेतों में उपयोग में लाये जा सकें। फसलीय पादपों के वन्य सम्बन्धियों में सहनशीलता व अनुकूलनशीलता प्रायः अधिक रहती है। बहुत–से वन्य पशु भी खाद्य–शृंखला के माध्यम से हमारे कृषि–उत्पादन व वनोपज की वृद्धि में महत्तापूर्ण प्रत्यक्ष भूमिका निभाते हैं।

औषधि–भंडार : विश्व की 75 प्रतिशत जनसंख्या औषधियों के लिए पादपों अथवा इनसे प्राप्त उत्पादों पर आश्रित है। प्रतिजैविक के रूप में प्रयोग की जाने वाली पेनिसिलीन नामक संकटहारी औषधि भी पेनिसिलियम नामक कवक से व्युत्पन्न है। इसी प्रकार हमें टेट्रासायक्लिन की प्राप्ति एक जीवाणु से होती है। कुनैन (मलेरिया की औषधि) सिन्कोना पेड़ की छाल से तैयार की जाती है जबकि फ़ोक्सग्लोव (डिजिटेलिस) से डिजिटेलिन को प्राप्त किया जाता है जो कि हृदय–दौर्बल्य के प्रभावी उपचार में उपयोगी है। हाल ही में पेरिविंकल (केटेरेन्थस) पादप से विनब्लास्टिन व विनक्रिस्टीन नामक दो कैंसर–रोधी औषधियां प्राप्त की गयी हैं जिनमें कैंसर का प्रतिकार करने वाले क्षाराभ (एल्केलॉयड्स) पाये जाते हैं। कई समुद्री जंतुओं के उत्पादों में भी कैंसर–रोधी गुणधर्म पाये गए हैं जिनका मानवीय ज्ञान अब तक अधूरा है।

ईंधन : प्राचीनकाल से जलाऊ लकड़ी के लिए वन महत्वपूर्ण रहे हैं। वर्तमान में जीवाश्म ईंधनोंः पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस व कोयला को भी जीवाश्मीभूत जैव–वैविध्य से ही प्राप्त किया गया है। जलाऊ लकड़ी को बाजार में प्रायः नहीं बेचा जाता वरन् आदिवासियों व स्थानीय ग्रामीणों द्वारा प्रत्यक्ष प्रयोग किया जाता है।

(ब) उत्पादक प्रयोग–मूल्य

ये वाणिज्यिक रूप से उपलब्ध मूल्य हैं जहां उत्पादों को बाजार में लाकर बेचा जाता है। इनके अंतर्गत व्यावसायिक दोहन वाली लकड़ियां एवं वन्य अनुवंशक (जीन)

टिप्पणी

संसाधन सम्मिलित हो सकते हैं जिनका व्यापार वैज्ञानिकों के प्रयोजनों के लिए किया जाता है ताकि फसलों व पालतू पशुओं में वांछित लक्षणों का समावेश किया जा सके। इस श्रेणी में ऐसे जंतु–उत्पाद भी सम्मिलित माने जा सकते हैंः गजदंत, कस्तूरी, रेशम, ऊन, पशुओं के रोएं एवं पेड़ों पर कीटों से प्राप्त किया जाने वाला लाख; ये सभी बेचे जाते हैं। कई उद्योग जैव–वैविध्य के मूल्यों के उत्पादक प्रयोग पर निर्भर हैं, उदाहरणार्थः कागज़ व लुगदी उद्योग, प्लाएवुड उद्योग, रैलवे स्लीपर उद्योग, रेशम व अन्य कपड़ा उद्योग, गजदंत–उत्पाद, चर्म उद्योग एवं मोती उद्योग इत्यादि।

विलुप्तप्राय प्रजातियों के उत्पादों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिबंध के बावजूद रोएं, चर्म, सींगें, गजदंत व जीवित प्रतिमान इत्यादि को प्रतिवर्ष लाखों डॉलर्स में बेचा जाना जारी है। लॅटिन अमेरिका, अफ्रीका व एशिया के विकासशील देशों में समृद्धतम जैव–वैविध्य केंद्र हैं एवं यहां से वन्यजीव उत्पादों की भारी तस्करी व बिक्री संपन्न पाश्चात्य देशों की ओर की जाती है। प्राच्य भाग में चीन व हॉन्ग कॉन्ग में तो पशु–त्वचा व सर्प–त्वचा के निर्यात को एक उभरते व्यापार के रूप में देखा जा रहा है।

(स) सामाजिक मूल्य

ये ऐसे मूल्य होते हैं जिनका संबंध लोगों के सामाजिक जीवन, रीति–रिवाजों, धर्म व सामुदायिक धारणाओं से है। हमारे देश में बहुत सारे पादप पवित्र माने जाते हैं, उदाहरणार्थ तुलसी (हॉली बेसिल), पीपल, आम, कमल व बेल। 28 बुद्धों, 27 नक्षत्रों, 24 जैन–तीर्थंकरों, 12 राशियों, 10 सिक्ख–गुरुओं एवं 9 ग्रहों में से प्रत्येक का एक–एक प्रतीक–वृक्ष माना गया है जिसे धार्मिक व साम्प्रदायिक रूप से विशेष पूजनीय माना गया है। ऐसी अनेक प्रजातियां भारत में हैं जिनके पुष्पों, फलों अथवा पत्तों का प्रयोग पूजन में किया जाता है। आदिवासी लोग वन–जीवन से प्रत्यक्षतः जुड़े होते हैं। इनके सामाजिक जीवन, गीतों, नृत्यों एवं परंपराओं के केंद्र में वन्यजीवन होता है। गाय, सर्प, सांड़, मोर एवं उलूक जैसे अनेक जंतु भारतीय जनमानस में रचे–बसे हैं। इस प्रकार इनका सामाजिक महत्व विभिन्न देशों, समुदायों व स्थानों में अत्यधिक है।

(द) नैतिक मूल्य

इसे कभी–कभी अस्तित्व मूल्य भी कहा जाता है। इसमें 'समस्त जीवन प्रकारों को परिरक्षित रखा जाना चाहिए' जैसे नैतिक मुद्दे सम्मिलित हैं। यह 'जिओ व जीने दो' की अवधारणा पर आधारित है। यदि हम अपनी मानव नस्ल को जीवित रखना चाहते हैं तो हमें संपूर्ण जैव–वैविध्य को सुरक्षित रखना होगा क्योंकि जैव–वैविध्य अमूल्य है।

नैतिक मूल्य का तात्पर्य यह है कि हम प्रजातियों का उपयोग करें अथवा न करें परंतु हमें सदा ध्यान में रखना चाहिए कि प्रकृति में ये सभी प्रजातियां हमारे की समान सम्मान व अन्य कारकों की अधिकारिणी हैं। ये हमसे पहले से इस पृथ्वी पर विद्यमान् हैं। इनकी पारस्परिक क्रियाओं से ही मानवीय उत्पत्ति संभव हुई है। ये एक प्रकार से हमारे जीवित पूर्वज हैं जिनके प्रति हमारे मन में कृतज्ञता का भाव होना चाहिए। संदेशवाहक कबूतर अथवा डोडो की विलुप्ति का विषय आने पर हम सभी को लज्जानुभव होता है। हमें नीलगाय, भालू, बाघ, सिंह से कुछ भी प्रत्यक्षतया प्राप्त नहीं होता किंतु हमारी हार्दिक इच्छा है कि ये प्रजातियां धरती पर होनी ही चाहिए। इसका अर्थ हुआ कि प्रत्येक प्रजाति से नैतिक मूल्य अथवा अस्तित्व मूल्य जुड़ा हुआ है।

टिप्पणी

(य) सौंदर्यात्मक मूल्य

जैव–वैविध्य का सौंदर्यात्मक मूल्य भी अत्यधिक है। हममें से कोई भी मरुभूमि के सूने माहौल में घूमने जाना नहीं चाहेगा जहां जीवन की उपस्थिति न हो। देसी व विदेशी पर्यटक वन–क्षेत्रों में भ्रमण के लिए भारी मुद्रा व्यय करके हरे–भरे वातावरण में ठहरने को लालायित रहते हैं। जैव–वैविध्य के इस सौंदर्यात्मक मूल्य का आनंद प्राप्त करने के लिए पर्यटन करने को आजकल पारि–पर्यटन कहा जा रहा है। इस प्रकार पारि–पर्यटन के लिए 'भुगतान करने की इच्छाशीलता' अवधारणा से हम जैव–वैविध्य के सौंदर्यात्मक मूल्य का मौद्रिक आकलन कर पाते हैं। पारि–पर्यटन से हमें 120 लाख रुपयों के राजस्व की वार्षिक प्राप्ति होने का अनुमान है। इससे जैव–वैविध्य के सौंदर्यात्मक मूल्य का कुछ भान हो जाता है।

(र) अज्ञात (ऑप्शन) मूल्य

इन मूल्यों में जैव–वैविध्य की वे संभावनाएं सम्मिलित हैं जो वर्तमान में अज्ञात हैं एवं खोजे जाने की आवश्यकता है। ऐसी संभावना है कि एड्स व कैन्सर जैसे असाध्य माने जाने वाले रोगों का उपचार वास्तव में संभव है जो कि समुद्र की गहनता अथवा उष्णकटिबंधीय वर्षावन में सन्निहित हो सकता है।

इस प्रकार अज्ञात मूल्य पृथ्वी के जीवमंडल का वह ज्ञान है जो हमें अभी ज्ञात नहीं है, भविष्य में जब भी यह ज्ञात होगा तब मानवसमाज विभिन्न प्रजातियों के मूल्य (जो अभी अज्ञात हैं) का भी विदोहन कर सकेगा। जैव–वैविध्य का अज्ञात मूल्य हमें सुझाता है कि कई प्रजातियां भविष्य में कभी भी हमारे लिए चमत्कारी सिद्ध हो सकती हैं। जैव–वैविध्य वास्तव में ईश्वर द्वारा हमें सौंपा गया एक अमूल्य प्राकृतिक उपादान है। हमें चाहिए कि हम ऐसे किसी भी ज्ञात/अज्ञात प्राकृतिक उपादान को खोने की मूर्खता कदापि न करें।

अज्ञात मूल्यों में ऐसे स्थानों की यात्रा को भी सम्मिलित किया जा सकता है जहां हमारी यात्रा के दौरान कोई ऐसी प्रजाति दिख जाए जिसके वहां होने को अब तक संबंधित विभागों (जैसे कि वनविभाग) ने दर्ज नहीं किया है। उदाहरणार्थ मूषक–मृग (माउस–डियर) लगभग दो किलोग्राम्स भार का ऐसा अत्यंत प्यारा पशु है जो मूषक(चूहा) व हिरण दोनों के समान दिखायी देता है; अमरकण्टक 'जैवसंरक्षित क्षेत्र' (बायोस्फ़ियर रिज़र्व) में इसकी उपस्थिति दर्ज की गयी है परंतु मध्यभारत में अन्य अभयारण्यों व राष्ट्रीय उद्यानों में भी इस पशु को कभी–कभी अनेक पर्यटकों द्वारा देखा जा चुका है।

(ल) पारितंत्र सेवा मूल्य

हाल ही में पारितंत्र के स्व–अनुरक्षण से संबंधित गैर–उपभोग प्रयोग–मूल्य एवं विभिन्न महत्तापूर्ण पारितंत्र सेवाओं की पहचान की जा चुकी है। इसका अभिप्राय ऐसी सेवाओं से है जो पारिस्थितिक तंत्रों द्वारा प्रदान की जाती हैं, यथाः मृदा–अपरदन से बचाव, बाढ़ से रक्षा, मृदा–उर्वरता का अनुरक्षण, पोषक–चक्रण, नाइट्रोजन–स्थिरीकरण, जल–चक्र, कार्बन–अवशोषक के रूप में इसकी भूमिका, प्रदूषक–अवशोषण, वैश्विक तापोन्नयन के खतरे के कम करते रहना इत्यादि।

टिप्पणी

जैव–वैविध्य मूल्य के विविध वर्गों से स्पष्ट होता है कि पारितंत्र, प्रजातीय व आनुवंशिक वैविध्य सबमें अकूत संभावनाएं निहित हैं तथा जैव–वैविध्य में तनिक भी कमी आने से ऐसे भारी आर्थिक, पारिस्थितिकीय व सामाजिक–सांस्कृतिक घाटे होंगे जिनसे जूझना हमने आरंभ भी कर दिया है।

जैव–वैविध्य का ह्रास

उष्णकटिबंधीय वनों का विनाश खतरे की दर पर जारी रखा जा रहा है, जैव–वैविध्य को भयंकर हानि पहुंचायी जा रही है। जीवाश्म ईंधनों के दहन एवं उष्णकटिबंधीय वनों के नाश से पृथ्वी के वायुमंडल में कार्बन डाइ–ऑक्साइड बढ़ जाती है जिससे औसत वैश्विक तापक्रम बढ़ता ही जा रहा है। उष्णकटिबंधीय वर्षावनों को विश्व में पादपों, जंतुओं व कीटों की आधी से अधिक प्रजातियों का वास माना जाता है तथा इनके विनाश से प्रजातियों की विलुप्ति–दर अनर्थकारी स्तर पर आ पहुंची है।

उष्णकटिबंधीय वर्षावनों का विपुल जैव–वैविध्य इनकी स्थिरता की देन है। उत्तरी वन तो हिमयुगों से प्रभावित होते रहे हैं परंतु उष्णकटिबंधीय वन करोड़ों वर्षों से अपना अस्तित्व निर्बाध रूप से बनाये हुए हैं। परिणामस्वरूप जटिल व भंगुर पारितंत्र विकसित होते चले गए। प्रोफ़ेसर विल्सन ने इसे इस रूप में प्रस्तुत किया है–

वर्तमान में हम जिन प्रजातियों का उपयोग घरेलू/पालतू अथवा औषधीय रूप में करते हैं उनकी संख्या उन प्रजातियों की संख्या से बहुत कम है जो उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं एवं विश्व के उष्णकटिबंधीय वर्षावनों में मानव–दृष्टि से छुपी हुई हैं। यदि इन्हें नष्ट किया गया तो हमारा भविष्य क्षतिग्रस्त हो जाएगा। प्रतिवर्ष सहस्त्रों प्रजातियों की लुप्ति को हमें एक आपदा के रूप में समझना चाहिए, मात्र इसलिए नहीं कि जैविक वैविध्य मानव–समाज के लिए एक महत्तापूर्ण संपदा है अपितु इसलिए भी क्योंकि जीवन का प्रत्येक रूप हमारे सम्मान व सुरक्षा का अधिकारी है।

प्रतिवर्ष एक लाख वर्ग किलोमीटर से अधिक क्षेत्रफल में वर्षावन जलाकर अथवा पेड़ों की कटाई द्वारा उजाड़ दिए जाते हैं, यह क्षेत्रफल स्विट्जरलैण्ड व नीदरलैण्ड के संयुक्त क्षेत्रफल के समतुल्य हुआ। विश्व के उष्णकटिबंधीय वर्षावनों का लगभग आधा भाग पहले ही उजाड़ा जा चुका है। इस प्रकार की भूमि कुछ ही वर्षों में कृषि के लिए भी अनुपयुक्त हो जाती है।

उष्णकटिबंधीय मृदा तभी उर्वर (उपजाऊ) रह सकती है जब उस पर सघन वनावरण हो परंतु यह मृदा पोषक तत्वों में प्रायः हीन होती है क्योंकि मूसलाधार वर्षा के कारण ये समस्त तत्व रिसकर दूर चले जाते हैं। जो पोषक–तत्व बचते भी हैं वे वानस्पतिक रूपों में होते हैं तथा जब वनावरण को जलाया अथवा काटा जाता है तो इन पोषक–तत्वों की भी निकासी हो जाती है। बहुधा इस प्रकार बची भूमि में एल्युमीनियम ऑक्साइड व आयरन ऑक्साइड का बाहुल्य होता है। जब यह मृदा ऑक्सीजन व तपती धूप के संपर्क में आती है तो शैल (चट्टान) समान एक पदार्थ बनने लगता है जिसे लेटराइट कहते हैं। कंबोडिया में अंकोरवाट के मंदिर लेटराइट के बने हैं तथा ऐसा माना जाता है कि जिस खमेर सभ्यता द्वारा सहस्त्रों वर्ष पूर्व इन मंदिरों का निर्माण किया गया था वह सभ्यता मृदा के लेटराइज़ेशन के कारण लुप्त हो गयी।

टिप्पणी

भारत का जैव–भौगोलिक वर्गीकरण

भारत के विभिन्न भागों में भांति–भांति की जलवायु एवं स्थलाकृतियां हैं। इन भौगोलिक व अन्य विविधताओं के कारण यहां विपुल वानस्पतिक भण्डार हैं। भारत में जैव–वैविध्य में संपन्न कई धरोहरें हैं तथा विश्व के पादप–समृद्ध राष्ट्रों की सूची में यह राष्ट्र दसवें स्थान पर है।

पादपों व जंतुओं के पर्यावरणीय संबंधों, प्रकीर्णन, उद्विकास एवं वितरण का अध्ययन समय व स्थान के संदर्भ में किया जाना अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारत के दस जैव–भौगोलिक पर्यावास निम्नांकित हैं–

1. हिमालय–पारः ऊपरी अंचल
2. हिमालयीः उत्तर–पश्चिम हिमालय, पश्चिम, केंद्रीय व पूर्वी हिमालय
3. मरुस्थलः कच्छ, थार व लद्दाख
4. अर्द्धशुष्कः मध्य भारत, गुजरात–रजवाड़ा
5. पश्चिमी घाटः मालाबार समुद्रतट, पश्चिमी घाट पर्वत
6. दक्कन प्रायद्वीपः दक्कन पठार दक्षिण, केंद्रीय, पूर्वी, छोटा नागपुर
7. गांगेय मैदानः ऊपरी गांगेय मैदान, निचला गांगेय मैदान
8. पूर्वोत्तरः ब्रह्मपुत्र घाटी, पूर्वोत्तरी पहाड़ियां
9. द्वीपः अंदमान द्वीप, निकोबार द्वीप, लक्षद्वीप समूह इत्यादि
10. समुद्रतटः पश्चिमी समुद्रतट एवं पूर्वी समुद्रतट

4.2.4 जैव विविधता के नैतिक मूल्य

पर्यावरणीय नीतिशास्त्र का तात्पर्य ऐसे मुद्दे, सिद्धांत व दिशा–निर्देश हैं जो पर्यावरण में मानव की गतिविधियों से संबंधित हैं। यह कथन यथार्थ है– "मन व आत्मा की कुत्सित भावनाओं का व्यक्त रूप पर्यावरणीय संकट है।" यह हम पर निर्भर है कि हमारे विचार व व्यवहार कैसे हों। यदि हम स्वयं को पृथ्वी की सर्वोपरि व सर्वशक्तिशाली रचना मान बैठें तो प्रकृति स्वयं भी हमारी रक्षा नहीं कर सकेगी। हमें इस सत्य को आत्मसात् करना होगा कि हम पृथ्वी के जीवमण्डल के एक अंशमात्र हैं, ऐसा अंश जो अपनी दिनचर्या के प्रत्येक भाग के लिए प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अन्य प्राकृतिक उपादानों पर पूर्णतया आश्रित है।

भारतभूमि में जन्मे मनुष्यों ने तो नदियों को माता व वनों को जनक माना है क्योंकि मानव सभ्यता नदियों के ऐसे तटों पर पनपी व विकसित हुई है जहां सघन वन हों। स्वयं को प्रकृति की गोद में बैठे शिशु की भांति समझते हुए प्रत्येक ईश्वरीय माध्यम का उपयोग मितव्यता से करते हुए ही हम अपने अस्तित्व को बचा व संवार सकते हैं। प्रकृति पर हमें अधिकार जमाने का दुःसाहस नहीं करना चाहिए एवं अपने दायित्वों के निर्वाह पर ज़ोर देना चाहिए। प्रौद्योगिकीय उपलब्धियों, वैज्ञानिक विकास एवं आर्थिक उन्नति किसी के भी बल पर हम प्रकृति पर विजय का विचार तक नहीं कर सकते। हमें अपनी मानवीय सीमा को समझना होगा तथा अमानवीयता बरतने का परिहार (परहेज) करना होगा तभी हम अपनी गतिविधियों के अवांछनीय प्रभावों से जैव–वैविध्य

टिप्पणी

व अंततः स्वयं अपनी भावी पीढ़ियों को बचा पायेंगे। पर्यावरणीय संकट को आगे और विकराल रूप धारण करने से रोकने के लिए हमें अपने विचार व व्यवहार को परिवर्तित करना होगा। अपनी समूची जीवन–शैली को पारि–अनुकूल (इको–फ्रेंड्ली) बनाना होगा। हमारे कर्मों में इस प्रकार के रूपांतरण से ही बेहतर पर्यावरण व श्रेयस्कर भविष्य की ओर बढ़ा जा सकता है।

पर्यावरण सुरक्षा संदर्भित विश्व–दृष्टि

पर्यावरण–सुरक्षा के संबंध में विश्व–दृष्टियों का विवरण निम्नांकित हैं–

1. मानव–केन्द्रित विश्व–दृष्टि

इस विश्व–दृष्टि में औद्योगिक समूहों की प्रधानता है। इसमें मानव समाज को केंद्र में रखकर विचार किया जाता है। ऐसा मान लिया जाता है कि पृथ्वी को अपने नियंत्रण में कर लेने का सामर्थ्य मानव जाति में है। इस विश्व–दृष्टि की कुछ धारणाएं निम्नानुसार हैं–

1. मानव इस ग्रह की सबसे महत्तापूर्ण प्रजाति हैं एवं शेष प्रकृति पर इसका अधिकार है।
2. पृथ्वी के पास हमारे के लिए अनंत संसाधन हैं एवं इसके पास जो कुछ है सब हमारा है।
3. आर्थिक उन्नति बढ़िया है एवं और अधिक उन्नति के लिए व अपने जीवन–मापदंड बढ़ाने के लिए प्रकृति में हमारे लिए असीम संभावनाएं छुपी हुई हैं।
4. स्वस्थ पर्यावरण सुदृढ़ अर्थव्यवस्था पर आश्रित है।
5. मानवता की सफलता इस तथ्य में निहित है कि हमारे पास ऐसे प्रबंधक कितने हैं जो प्रकृति के अधिकाधिक दोहन से मानवीय लाभ उत्पन्न कर सकें।

2. पारि–केन्द्रित विश्व–दृष्टि

यह पृथ्वी के प्रति मानवीय बोध पर आधारित है। इसके अंतर्गत निम्नांकित सिद्धांत समाहित हैं–

1. प्रकृति मानवों की ही नहीं अपितु अन्य समस्त प्रजातियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है।
2. भू–संसाधन सीमित हैं एवं ये मात्र मानव–दोहन के लिए नहीं हैं।
3. आर्थिक उन्नति तब तक उपयुक्त है जब तक कि इसके साथ धरती पर वहनीय विकास संभव रहे तथा विनाश–रहित विकास की दिशा में की गयी उन्नति ही वास्तविक उन्नति है।
4. सुदृढ़ अर्थव्यवस्था स्वस्थ पर्यावरण पर आश्रित है।
5. मानवता की सफलता का आधार यह है कि हम शेष प्रकृति से समन्वय किस प्रकार रखते हैं व अपने लाभ के लिए प्रकृति को हानि पहुंचाये बिना उसका दोहन कैसे करते हैं।

पर्यावरण–नीतिशास्त्र एक प्रकार के उन दिशा–निर्देशों का एक संग्रह है कि हम पर्यावरण–संरक्षण के विचारों को किस प्रकार कार्यों में रूपांतरित कर सकते हैं तथा यह

टिप्पणी

संग्रह विरोधाभासी परिस्थितियों में निर्णय करने में भी सहायता करता है। कुछ नीतिशास्त्रीय दिशा–निर्देशों को 'भू–नीतिशास्त्र' अथवा 'पर्यावरणीय नीतिशास्त्र' कहा जाता है। इन विशिष्ट दिशा–निर्देशों में निम्नलिखित सम्मिलित हैं–

- प्रत्येक व्यक्ति को धरती का आदर व सम्मान करना चाहिए क्योंकि यह हमें पालती है।
- प्रत्येक व्यक्ति को पृथ्वी पर प्रत्येक दिन पावन् समझना चाहिए व इसकी ऋतुओं को हर्षोल्लास से मनाना चाहिए।
- कोई भी व्यक्ति/समूह स्वयं को अन्य प्रजातियों के अधिक महत्वपूर्ण न समझे तथा स्मरण रहे कि हमारे कारण कोई भी प्रजाति विलुप्ति की कगार पर नहीं पहुंचनी चाहिए।
- प्रत्येक व्यक्ति को वानस्पतिक व जंतुजगत के प्रति सदैव आभारी रहना चाहिए जिनके कारण पृथ्वी पर हमारा लालन–पालन व पोषण संभव हो सका है।
- प्रत्येक परिवार में संतानों की संख्या सीमित रखी जानी चाहिए ताकि धरती पर और अधिक बोझ न पड़े।
- विनाशक साधनों में प्राकृतिक उपादानों को खपाकर बर्बादी कभी न करें।
- प्रकृति को हानि पहुंचाकर कोई पलायन नहीं कर सकता; प्रकृति अपना वैभव खो जाने के प्रति कुपित हो, इससे पूर्व इसकी पुनर्स्थापना करें।
- पृथ्वी पर किसी के भी द्वारा किये कृत्य के प्रभाव से कोई भी व्यक्ति स्वयं को नहीं बचा सकता।
- भावी पीढ़ियों से उनकी नैसर्गिक संपदा न छीनें, उन्हें सुरक्षित व स्वस्थ पर्यावरण से वंचित न किया जाए।
- प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मौलिक आवश्यकता के अनुसार ही संसाधनों का उपयोग करना चाहिए, किसी को भी पृथ्वी के संसाधनों का अपव्यय करने का अधिकार नहीं।

यदि हम उपरोक्त दिशा–निर्देशों का पालन गंभीरता से करें तो पर्यावरणीय नीतिशास्त्र का प्रभाव भी अवश्य पड़ेगा तथा हम देखते हैं कि हिंदू, बौद्ध, जैन व सिक्ख इत्यादि मतों में वनस्पतियों एवं जंतुओं के संरक्षण व संवर्द्धन पर अत्यधिक बल दिया गया है।

वेदों में प्रकृति के प्रत्येक संघटक को भगवानतुल्य पूजनीय माना गया है। इस प्रकार विभिन्न पादप व जंतु प्रजातियां हमारी श्रद्धा से पूज्य हो गयी हैं। हमारे समस्त सांस्कृतिक रीति–रिवाजों के केंद्र में एकानेक वृक्ष अथवा पशु अथवा अन्य सजीव रहते ही है। नैसर्गिक जीवन के संवर्द्धन की कुछ सुपरंपराएं भारतीय ग्रामीण जनमानस में अभी भी परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित हैं। हिंदुओं में प्रत्येक तीज–त्योहार के अवसर पर किसी अथवा किन्हीं पेड़–पौधों अथवा/एवं पशु–पक्षियों के विशेष पूजन की सुप्रथा थी। निसर्ग पूजा अर्थात् प्रकृति–पूजन के बिना सत्यनारायण पूजा, वात्पूर्णिता, बैसाखी, गणेश त्योहार एवं दशहरा समारोह के संपन्न होने की कल्पना तक नहीं की जा सकती थी।

टिप्पणी

जैन व बौद्ध सम्प्रदायों में अहिंसा की अवधारणा में यह सुनिश्चित किया जाता है कि जीवन के समस्त रूपों का संवर्द्धन किया जाए तथा मानवीय कार्यकलापों से किसी भी देहधारी को कोई कष्ट न पहुंचे। इस कारण सहस्त्राब्दियों तक पृथ्वी का पर्यावरण अक्षुण्ण रहा व मानवजाति भी साथ में फलती–फूलती रही तथा पारिस्थितिक असंतुलन जैसे शब्द–समूहों का उपयोग तो दूर, नाम तक कहीं दिखायी नहीं देता था। पुरातन उपदेशों में 'अपनी आवश्यकताएं सीमित रखो' उपदेश के कारण हमारा जीवन प्रकृति–केन्द्रित हुआ करता था।

पर्यावरणीय ह्रास

पर्यावरणीय ह्रास अर्थात पर्यावरणीय विघटन का आशय पर्यावरण के गुणों में गिरावट आ जाने से है क्योंकि मानव के प्रकृति–विरोधी कृत्यों के कारण प्रकृति के मौलिक घटकों की गुणवत्ता घट चुकी है। मानवों की अमानवीय गतिविधियों के कारण पर्यावरण इस आधुनिक काल में अत्यधिक प्रतिकूलता से प्रभावित हो रहा है। इन मानव–जन्य परिवर्तनों के दुष्प्रभावों की परिधि में अन्य जीव–समुदायों सहित मानवप्रजाति स्वयं भी सम्मिलित है।

देसाकु इकेदा (Daisaku Ikeda)

देसाकु इकेदा ने प्रकृति के विघटन के दो कारण दर्शाये हैं: (अ) आधुनिक मानव प्राकृतिक जगत को स्वयं के समकक्ष सजीव नहीं समझता; (आ) मानव समाज इस तथ्य की अनदेखी कर देता है कि सभी प्राणी/देहधारी परस्पर आश्रित व एक–दूसरे के जीवन के अविभाज्य भाग हैं।

पर्यावरण के विघटन को रोकने व निसर्ग का संतुलन पुनर्स्थापित करने के लिए मानव ही एकमात्र उत्तरदायी है। हॅज़ल हेंडर्सन (Hazel Handerson) ने अपनी पुस्तक 'वैकल्पिक भविष्य का निर्माण' में यह उल्लेख किया है कि जब हम ऊर्जा संकट, नगरीय संकट, पर्यावरण संकट अथवा जनसंख्या संकट के विषय की चर्चा करते हैं तो सर्वप्रथम हमें उस विस्तार को समझने का प्रयास करना चाहिए कि इन सभी संकटों की जड़ कहां है? यथार्थता की गंभीरता के प्रति हमारी अल्पज्ञता। 'पर्यावरणीय विघटन' व 'पर्यावरण–प्रदूषण' को अंतर्परिवर्तनीय रूपों में प्रयोग किया जा सकता है परंतु इन दोनों के अर्थों की गहनता भिन्न–भिन्न है–

- पर्यावरणीय विघटन प्रदूषण व संकटों/विपदाओं के कारण होता है। इन संकटों अथवा विपदाओं का आगमन किसी भी स्रोत से हो सकता है: ज्वालामुखीय विस्फोट जैसी आकस्मिक नैसर्गिक घटना अथवा मानव की गतिविधियों द्वारा उत्पन्न विकराल समस्या; दोनों ही स्थितियों में तत्काल राहत अपेक्षित है। यह आवश्यक है कि इस प्रकार के पर्यावरणीय विघटन के होने से पूर्व व दौरान किसी प्रकार की पूर्व–चेतावनी की व्यवस्था की जाए।
- पर्यावरण–प्रदूषण धीमे व क्रमिक मानव–कार्यकलापों के कारण होता है, उदाहरणार्थ जनसंख्या–वृद्धि, कारखानों व उद्योगों की स्थापना, परिवहन सुविधाओं का विकास इत्यादि के कारण। पर्यावरण–प्रदूषण के कारण पर्यावरण की गुणवत्ता का अवनमन होता है। इससे बचने के लिए समुचित पर्यावरणीय प्रबंधन व मूल्यांकन प्रणालियों को अपनाना आवश्यक है।

टिप्पणी

- पर्यावरणीय विघटन से पारिस्थितिकी पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ते हैं। इस प्रकार पारिस्थितिक असंतुलन उत्पन्न हो जाता है क्योंकि पारितंत्र व पारिस्थितिक जैव–वैविध्य में कमी आ चुकी होती है।
- पर्यावरणीय विघटन को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है– "जब पर्यावरण का मूल्य घट जाता है अथवा कोई क्षति पहुंचती है तो इसका तात्पर्य हुआ कि पर्यावरणीय विघटन हुआ है।" पर्यावरणीय विघटन में–
  (क) पर्यावास नष्ट हो जाते हैं;
  (ख) जैव–वैविध्य में कमी आती है;
  (ग) नैसर्गिक संसाधन घट जाते हैं;
  (घ) निर्वनीकरण, ओज़ोन–विलोपन एवं समुद्री पर्यावरण–विनाश के कारण पर्यावरण क्षतिग्रस्त हो जाता है।

ह्रास के लिए उत्तरदायी कारक

पर्यावरणीय विघटन हेतु उत्तरदायी कारक निम्नांकित हैं–

- सामाजिक–आर्थिक, संस्थागत व प्रौद्योगिक गतिविधियों के पारस्परिक प्रभाव
- अवहनीय आर्थिक उन्नति
- जनसंख्या–विस्फोट
- तीव्र नगरीकरण
- कृषि का सघनीकरण
- ऊर्जा व परिवहन का बढ़ा प्रयोग
- निर्धनता

उपरोक्त के भी मुख्य कारण निम्नांकित हैं–

- निर्वनीकरणः पेड़ों की कटाई
- अतीव जनसंख्या
- वायु, जल, मृदा व समुद्र का प्रदूषण
- ओजोन पर्त का लोपन
- वैश्विक भू–तापोन्नयन
- अनियोजित विकास, नगरीकरण एवं औद्योगिकीकरण
- विषाक्त गैसों का उत्सर्जन
- ऊर्जा का समुचित व मितव्ययी प्रयोग न करना
- संसाधनों का अतिदोहन
- अपशिष्ट–निपटान का कुप्रबंधन
- नदियों व समुद्रों में विषाक्त अपशिष्ट डाला जाना
- संसाधनों का असमान वितरण
- पर्यावरणीय जागृति एवं समुचित अधिनियमों का अभाव

- अनियंत्रित विधि–प्रावधान
- उत्पादों के पोषणात्मक मान में कमियां

टिप्पणी

पर्यावरणीय विघटन के कारण

सामाजिक–आर्थिक, वैज्ञानिक व प्रौद्योगिक विकास के साथ पर्यावरणीय विघटन की गंभीर समस्याएं उपजती आ रही हैं। इनके कुछ कारण अग्रलिखित हैं–

1. **साम्प्रदायिक कारण** : यदा–कदा विभिन्न सम्प्रदायों में मानी जाने वाली धारणाओं के कारण वायु व समुद्री परिवेश प्रदूषित हो जाता है। कुपरंपरानुसार सामूहिक नदीस्नान, शव व अस्थिभस्म बहाने, मूर्ति–विसर्जन व पुतला–दहन ऐसे प्रमुख साम्प्रदायिक आयोजन हैं जिनसे अत्यधिक पर्यावरणीय विघटन होता है। उदाहरणार्थ इन्हीं अप्रासंगिक हो चले रीति–रिवाजों के कारण गंध व गति में गंगा गटर समान बना दी गयी है। माता कही जाने वाली गंगा प्रतीकात्मक रूप से ही पवित्र रह गयी है, अधिकांश स्थानों पर इसका जल पीने तो क्या अर्घ्य देने योग्य भी शुद्ध नहीं बचा है।
2. **आधुनिक प्रौद्योगिकी का विकास** : देश के आधुनिकीकरण से कोई बैर नहीं है परंतु आधुनिकीकरण की दौड़ में विवेकरहित विकास के कारण निसर्ग में असंतुलन आ गया है। वातानुकूलित्रों, यातायात–साधनों, भारी मशीनरी, रसायनों व नाभिक युक्तियों का प्रयोग, बांध–विनिर्माण इत्यादि ऐसे प्रधान कारक हैं जिनसे पर्यावरणीय विघटन गंभीर स्तर पर होता है।
3. **कृषि–विकास** : फसलोपज बढ़ाने के लिए रासायनिक उर्वरकों, पीड़कनाशियों का अत्यधिक प्रयोग किया जा रहा है। अप्राकृतिक रूप से फल पकाने व लौकी जैसी अन्य सब्जियों के आकार रातों–रात बढ़ाने के लिए रसायनों का प्रयोग किया जा रहा है। इन समस्त प्रयोगों से मृदा की गुणवत्ता तो घटती ही है, साथ ही में उत्पादों का पोषणात्मक मान भी घटता है।
4. **जनसंख्या वृद्धि** : जनसंख्या बढ़ाती चली जाने से संसाधनों पर दबाव पड़ता है जिससे प्रकृति में असंतुलन छा जाता है।
5. **निर्वनीकरण** : जनसंख्या–वृद्धि से भी निर्वनीकरण भी होता है; अधिक से अधिक भूमि को उजाड़कर खेत बना लिए जाते हैं एवं आवासीय व औद्योगिक विदोहन के विस्तार के लिए और अधिक भूमि को वनहीन कर दिया जाता है।
6. **औद्योगिक विकास** : ज्यों–ज्यों उद्योगों द्वारा नित नवीन उत्पाद लाये जा रहे हैं त्यों–त्यों इनकी हानिप्रद गैसें व अपशिष्ट उत्पाद पर्यावरण में आते जा रहे हैं।
7. **नगरीकरण** : आधुनिकीकरण से ग्रामीण क्षेत्र भी प्रभावित हो रहे हैं। इसीलिए ग्रामीण आजकल शिक्षा व आर्थिक बढ़त की आस में नगरों की ओर आप्रवास कर रहे हैं। इससे बड़े शहरों में झुग्गी–झोपड़पट्टी का क्षेत्र बढ़ते जा रहा है एवं अधिक जनसंख्या के लिए अधिक आवासीय निर्माण व अधिक संसाधनात्मक प्रयोग किया जा रहा है।
8. **संसाधनों का अतिप्रयोग व अभाव** : समाज का धनाढ्य पक्ष तो संसाधनों की बर्बादी करने पर तुला है तथा दूसरा पक्ष संसाधनों की विपन्नता से जूझ रहा है। आर्थिक व सामाजिक विषमता बढ़ती ही जा रही है।

टिप्पणी

9. **प्राकृतिक आपदाएं** : बाढ़, सूखा/अकाल, चक्रवात, अतिवृष्टि, भूकंप, ज्वालामुखी, अम्लवर्षा एवं ओजोन–लोपन से भी पर्यावरणीय विघटन होता है।

10. **आकस्मिक पर्यावरण–परिवर्तन** : वैश्विक तापोन्नयन, अप्रत्याशित मौसम–परिवर्तन, मरुस्थलीकरण, महासागर–स्तरवृद्धि पर्यावरणीय विघटन के प्रमुख ऐसे कारक हैं जो ऐसे आकस्मिक पर्यावरण–परिवर्तनों के रूप में हो सकते हैं जिनसे पर्यावरण की गुणवत्ता में गिरावट आ जाती है।

11. **जैविक संकट** : पेड़ों की कटाई, जंतु–आखेट, जैविक अपशिष्टों की निकासी, वायु व जल का संदूषण, विषाणविक व जीवाणविक महामारी ऐसे कारक हैं जिनसे पर्यावरण का विघटन होता है। मृदा की उर्वरता घटने से उत्पादकता घट जाती है।

12. **घरेलू अस्थिरता** : इसके परिणामस्वरूप आर्थिक अवसरों में कमी आती है।

13. **अंतर्राष्ट्रीय शरणार्थियों की समस्या** : वर्तमान में देश की कुल जनसंख्या एक अरब इक्कीस करोड़ है। इस जनसंख्या में बांग्लादेश व सिंध (पाकिस्तान) से आकर बसने वाले लोग भी सम्मिलित हैं जो कि भारत के सीमावर्ती समुदायों के मुख्य भाग हैं। इनके कारण भारत की जनसंख्या और अधिक हो जाती है, साथ ही में भारतीय संसाधनों पर विदोहित किये जाने का भार भी अधिक बढ़ जाता है, इस प्रकार देश का आर्थिक संतुलन भी दुष्प्रभावित हो रहा है।

14. **अप्रत्याशित मौसम–व्यवहार** : चूंकि पर्यावरणीय संतुलनों को बाधित किया जा चुका है, अतः मौसमों में परिवर्तन अप्रत्याशित व आश्चर्यजनक रूप में होते दिख रहे हैं। दिन का तापक्रम अत्यधिक व रात्रि का अत्यल्प हो जाता है। इसी प्रकार शीतकाल में मूसलाधार वर्षा हो जाती है, ये वर्तमान अप्रत्याशित भारतीय मौसमी परिवर्तनों अर्थात् मौसम–असंतुलन के कुछ उदाहरण हैं।

15. **पर्यावास नाश एवं प्रजाति–विलुप्ति** : प्रकृति के असंतुलन, रहने के स्थान की कमी, वायु व जल प्रदूषण में निरंतर वृद्धि, आखेट, खाद्यान्न अल्पता, जलवायु में तीक्ष्ण परिवर्तनों के कारण प्रतिदिन–प्रतिरात्रि अनेक प्रजातियां विलुप्त होती जा रही हैं।

16. **समुद्रस्तर में वृद्धि** : वैश्विक तापोन्नयन के कारण हिमनद (ग्लैशियर्स) पिघलते जा रहे हैं। इससे समुद्र का जलस्तर ऊपर उठ रहा है। स्तर बढ़ने से होने वाली हानि में मुम्बई महानगर सहित विश्व के अनेक देश पूरे के पूरे जलमग्न होने की कगार पर दिख रहे हैं।

17. **पेयजल न्यूनता** : पानी के सार्वजनिक वितरण व इसकी खपत में अत्यधिक विषमता व अनियमितताएं हैं। विभिन्न देशों में प्रतिव्यक्ति जल–उपभोग पृथक–पृथक दर्ज किया गया है, जैसे– यूनाइटेड स्टेटः 2300 m^3 प्रतिवर्ष, कनाडाः 1500 m^3 प्रतिवर्ष, ब्रिटेनः 225 m^3 प्रतिवर्ष। भारत सरीखे विकासशील देशों में जल का औसत प्रतिव्यक्ति उपभोग 20 से 40m^3 है। पेयजल की अल्पता जल–संसाधनों के अतिदोहन एवं जलप्रदूषण के कारण है।

18. **वैश्विक तापोन्नयन** : वाहनों व उद्योगों के निकाली गयी गैसों एवं खतरनाक रसायनों के प्रयोग के कारण वायुमंडलीय तापक्रम असाधारण रूप से बढ़ रहा है व इससे वैश्विक तापोन्नयन हो रहा है।

टिप्पणी

19. **अम्लवर्षा** : धुएं के साथ निकली विभिन्न गैसों से वायु में कार्बन अंशों का परिमाण बढ़ जाता है। मेघों से नीचे आ रहा जल वायुमंडलीय गैसों कार्बन डाइ–ऑक्साइड व सल्फ़र डाइ–ऑक्साइड जैसी गैसों से मिल जाता है। इस प्रकार वायु में ही अम्लों का निर्माण हो जाता है। अम्लवर्षा से मानव व प्राकृतिक पर्यावासों सहित फसलों को क्षति पहुंचती है।

20. **मरुस्थलीकरण** : पेड़ों की अत्यधिक कटाई, औद्योगिकीकरण किये जाने एवं हरित भूमि को व्यावसायिक अथवा अन्य प्रकार के कृत्रिम साधन में रूपांतरित कर दिए जाने से समूचा विश्व विध्वंस की ओर बढ़ चला है। नैसर्गिक भू–स्थलों को वनविहीन करके खेत बनाये जा रहे हैं अथवा मानव–बसाहट की जा रही है। प्राकृतिक वनों को उजाड़कर प्रकृति के भीषण असंतुलन को आमंत्रित किया जा रहा है।

21. **तीक्ष्ण रोग** : हरियाली भरे निर्मल क्षेत्रों की कमी से स्वास्थ्यप्रद स्थितियों की उत्पत्ति नहीं हो सकती; झोपड़ियों का विस्तार करने व अतीव जनसंख्या के कारण विषाण्विक एवं जीवाण्विक संक्रमण तीव्रता से फैल रहे हैं। वनस्पतियों, पशु–पक्षियों सहित मनुष्यों में ये महामारी का रूप धारण कर रहे हैं जिससे स्वस्थ जंतुओं व पादपों के भी संक्रमित हो जाने की आशंका बलवती हुई है।

22. **भू एवं मृदा का क्षरण** : उर्वर भूमि अब मानव बसाहटों व औद्योगिक परिसरों में तीव्रता से परिणत की जा रही है। अत्यधिक फसलें उगाने, रसायनों के प्रयोग, अनुपयुक्त सिंचन–पद्धति अपनाने से भी उर्वर भूमि अनुर्वर होती चली जाती है। इससे फसल–उपज घटने के साथ राष्ट्र की अर्थव्यवस्था बिगड़ती है।

23. **पर्यावरणीय नस्लवाद** : पर्यावरणीय नस्लवाद भी पर्यावरण–विघटन का एक कारण है। इस अवधारणा के अनुसार विगत कुछ शताब्दियों में विकसित विश्व द्वारा पर्यावरण का विघटन किया गया है। इस प्रकार इस दुर्दशा का उत्तरदायी पाश्चात्य विकास एवं सभ्यता है जबकि विकासशील देश व तृतीय विश्व के देश विकास की आरंभिक स्थितियों में हैं। इन देशों पर भी विश्व में प्रदूषण–स्तर बढ़ाने के आरोप लगाये जाते रहे हैं।

24. **आर्थिक अवसर घटना** : कृषि–भूमि को भी मरुस्थलों, मानव–बसाहटों व उद्योगों में बदला जा रहा है एवं ग्राम्य नागरिक नगरीय क्षेत्रों की ओर बढ़ चले हैं। लोगों के इस अत्यधिक अभिमगन अथवा पलायन से बेरोजगारी उत्पन्न होती व बढ़ती भी है। संसाधनात्मक आधार के विघटन से उत्पादन में गिरावट आती है व अंततः आय घट जाती है। इस प्रकार खाद्य उपलब्धता घटने से कुपोषण की आशंका घेर लेती है। इससे पुरानी व नयी समस्याओं का एक जाल–सा बन जाता है।

    इस प्रकार संसाधनात्मक आधार में कमी आने अथवा/एवं विघटन से मृदा (जहां कारखानों व आवासीय निवहों की स्थापना अब तक नहीं की गयी है) की उर्वरता घटती है जिससे उपज में कमी आने लगती है। रासायनिक खेतों से रिसकर आए संदूषित जल से दूर–दूर तक का जलीय जीवन भी दुष्प्रभावित हो जाता है। आय व संपत्ति–सृजन के मुख्य साधनों के विघटन के कारण श्रमिक अधिक उत्पादक गतिविधियों को खोजने के लिए लघु वनोपज पर ध्यान केन्द्रित कर

टिप्पणी

लेते हैं। इस प्रकार वनों पर दबाव में और वृद्धि हो जाती है। जैव–द्रव्यमान में इस प्रत्यक्ष कमी से हमें ऐसे खाद्य उत्पाद प्राप्त होते हैं जिनका पोषणात्मक मान कम होता है। बार–बार अकाल/सूखा पड़ने अथवा अन्य विकट आपदाओं के कारण भी जनसाधारण खाद्य–सुरक्षा से वंचित होते चले जाते हैं।

पर्यावरणीय विघटन से बचाव के चरण

पर्यावरण के प्रति जन–जागृति के स्वरूप में परिवर्तन देखा जा रहा है। हम सबको यह स्वीकार करने की आवश्यकता है कि–

(अ) जिस भंगुर पर्यावरण पर हम आजीवन निर्भर हैं उसे अनदेखा व अतिदोहित किया जा रहा है तथा अब इसकी वहनीयता पर जोर देना एवं नैसर्गिक गौरव को पुनर्स्थापित करना अत्यावश्यक हो गया है।

(आ) पर्यावरण प्रत्यक्ष रूप में हमसे सम्बद्ध है इसलिए धरती के प्रति हमें अपने उत्तरदायित्वों को निभाना चाहिए। हमें समूहों, सहकारी संस्थाओं, ग्राम विकास संघों व अन्य समुदायों के रूप में गठित होकर प्रकृति का रक्षण व संवर्द्धन करना चाहिए।

पर्यावरणीय विघटन को रोकने के लिए निम्नांकित कदम उठाये जाने चाहिए–

1. विघटित भूमि का जीर्णोद्धार।
2. औद्योगिक संस्थापनाओं के स्वरूप में परिवर्तन (उदाहरणार्थ पारि–अनुकूल स्थापना व संचालन पद्धतियां अपनायी जाएं)।
3. पुनर्वनीकरण कार्यक्रम।
4. अक्षय ऊर्जा संसाधनों के उपयोग की व्यवस्था।
5. लोक–जागरण।
6. पाठ्यक्रमों में पर्यावरण–संबंधी विषयों का समावेश।
7. भिन्न–भिन्न अंचलों के लिए प्रतिक्रियाप्राप्ति–व्यवस्था।
8. संरक्षण व संवर्द्धन हेतु समस्त स्तरों पर विधान–निर्माण व यथा आवश्यकता संशोधन।
9. प्रौद्योगिक व वैज्ञानिक ज्ञान का प्रचार–प्रसार।
10. अपशिष्ट–निपटान के विकल्प (उदाहरणार्थ जल में न बहाकर स्थानीय स्तर पर पुनर्चक्रण) एवं अपशिष्ट सामग्री प्रबंधन।
11. ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन पर अंकुश व नियंत्रण।
12. आंचलिक एवं अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिकाएं।
13. जागृति लाने में जनसंचार एवं प्रिण्ट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की भूमिका।
14. विकासशील पर्यावरण–समर्थक नीतियों में शासन(केंद्र व राज्य शासनों) की भूमिका।
15. भू–तापीय, भू–अभियांत्रिकी, वाहनों व कारखानों में निस्यंदक (फ़िल्टर्स) व 'उत्प्रेरकी परिवर्तक' (कॅटेलाइटिक कन्वर्टर्स) अपनाने जैसी नवीन युक्तियों के अनुप्रयोग।

टिप्पणी

16. ऊर्जा के वैकल्पिक व अपारंपरिक स्रोत।
17. सल्फ़र डाइ–ऑक्साइड को समतापमंडल (स्ट्रेटोस्फ़ियर) में छोड़े जाने को निषिद्ध करना।
18. आपदाओं में कमी लाने व मूल्यांकन के लिए लोगों में पारस्परिक संवाद प्रेरित करना।
19. मानव जीवन व वन्य जीवन पर योजनाओं, परियोजनाओं, बांधों, कुंडों (रिज़र्वोयर्स) कारखानों एवं निर्वनीकरण के प्रभावों का मूल्यांकन।
20. नैतिक व धार्मिक मूल्यों के प्रसार के लिए शिक्षा में विशेष प्रावधान।
21. सर्वसाधारण की संपूर्ण जागृति एवं संसाधनों के मितव्ययी उपभोग व इष्टतम आर्थिक मूल्य के संदर्भ में शिक्षा–व्यवस्था।

'पर्यावरणीय प्रबंधन योजना'(EMP) में पर्यावरण की गुणवत्ता को बनाये रखने के निम्नांकित चरण सम्मिलित हैं–

- प्रतिकूल पर्यावरणीय प्रभावों के कारकों को समाप्त करना व वर्तमान प्रभावों का शमन।
- दुर्घटनाओं एवं आपदाओं से संबंधित अग्रिम तैयारी की योजनाएं।
- पुनर्वास व जीर्णोद्धार की योजनाएं।
- आवश्यक सुरक्षात्मक उपायों के क्रियान्वयन के संबंध में निगरानी एवं प्रतिक्रिया–प्राप्ति की व्यवस्था।

पर्यावरणगत दुष्प्रभावों को न्यूनतम करने के लिए निम्नांकित उपाय अपनाये जाने चाहिए–

- पुनर्चक्रण–अवशिष्ट व अपशिष्ट उत्पादों का पुनर्संस्करण/पुनर्प्रक्रमण करके पुनर्प्रयोग, उदाहरणार्थ कागज़ व प्लास्टिक का पुनर्प्रयोग।
- प्रतिबंध– प्रदूषणकारी इंजिन ढांचों पर प्रतिबंध तथा वनक्षेत्रों में जीवाश्म ईंधन–चालित वाहनों का निषेध।
- संगठनात्मक नियंत्रण– समूहों की प्रत्यक्ष एवं अहिंसक गतिविधियां।

पर्यावरण के महत्व एवं इसके संरक्षण की महती आवश्यकता के प्रति जागृति बढ़ी है। विकासशील देशों में निर्धनता की समस्या के प्रति लोगों की धारणाओं में परिवर्तन की बयार दिख रही है।

इस संदर्भ में 'पर्यावरण एवं विकास विश्व आयोग' की 'विश्व संरक्षण रणनीति (सन् 1984) रिपोर्ट– हम सबका भविष्य में एजेंडा 21' प्रस्तुत किया गया जिससे 170 राष्ट्र सहमत दिखे। इसे जून, 1992 में रियो, ब्राजील में आयोजित 'यूनाइटेड नेशन्स पर्यावरण एवं विकास सम्मेलन' में अपनाया गया।

एजेंडा 21 में वैश्विक पर्यावरण से संबंधित सभी क्षेत्रों/विषयों को सम्मिलित किया गया है। इसमें ऐसे भिन्न क्षेत्रों का भी समावेश किया गया जिनके प्रयोग से पर्यावरण–अनुकूल विकास–नीतियों को बढ़ावा दिया जा सकता है। निर्धनता, उपभोग–प्रवृत्तियां, जनसांख्यिकीय गतिकी, निर्वनीकरण एवं मरुस्थलीकरण इत्यादि विषय इसमें सम्मिलित किये गए हैं।

टिप्पणी

एजेंडा 21 में सुझाए गए अधिकांश परामर्श निम्नांकित हैं–

- मानव–स्वास्थ्य स्थितियों की सुरक्षा व बढ़ावा देना।
- निर्णायक (निर्णयन) स्तर पर पर्यावरण एवं विकास का समाकलन/एकीकरण।
- वायुमंडल की सुरक्षा।
- निर्वनीकरण का निराकरण।
- भंगुर पारिस्थितिक तंत्रों को संभालना; मरुस्थलीकरण व अकाल से निपटना।
- वहनीय पर्वत विकास।
- वहनीय कृषि एवं ग्रामीण विकास को बढ़ाना देना।
- जैव–वैविध्य का संरक्षण।
- जैव–प्रौद्योगिकी का पर्यावरण–अनुकूल प्रबंधन।
- महासागरों, समस्त प्रकार के समुद्रों एवं समुद्रतटीय क्षेत्रों की सुरक्षा; इनके सजीव संसाधनों का तर्कसंगत उपयोग व विकास।
- लवणमुक्त जल–संसाधनों की गुणवत्ता की सुरक्षा एवं विकास के एकीकृत प्रयास अपनाना तथा विषाक्त रसायनों का प्रबंधन जिसमें विषाक्त व ख़तरनाक उत्पादों का अवैध अंतर्राष्ट्रीय व्यापार रोका जाना सम्मिलित है।
- संकटकारी अपशिष्टों का पर्यावरण–अनुकूल प्रबंधन जिसमें संकटकारी अपशिष्टों के अवैध वैश्विक आदान–प्रदान को रोकना सम्मिलित है।
- ठोस अपशिष्टों व मलजल–संबंधी मुद्दों का पर्यावरण–अनुकूल प्रबंधन।
- रेडियोएक्टिव अपशिष्टों का सुरक्षित व पर्यावरण–अनुकूल प्रबंधन।
- वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक समुदायों की स्थापना व संचालन।
- कृषकों की भूमिका का सुदृढ़ीकरण।
- पर्यावरण–अनुकूल प्रौद्योगिकियों का हस्तांतरण।
- वहनीय विकास हेतु विज्ञान का सहयोग।
- जन–जागृति हेतु शिक्षा एवं प्रशिक्षण को प्रोत्साहित करना।
- भू–संसाधनों के नियोजन एवं प्रबंधन की एकीकृत योजना।

4.2.5 सामाजिक एवं सौन्दर्यगत मूल्य

मानव–इतिहास में 'प्रकृति–विरोधी मानव–कृत्यों' के उदाहरण भरे पड़े हैं जहां प्रकृति–शोषण के माध्यम से अमानवीय इच्छाओं की पूर्ति के प्रयास किये गए। वन्य चौपायों, बाढ़ व संभावित रोगों को मानवता अपने शत्रु मानती रही है। समृद्धि प्राप्त करने व अपनी इच्छाओं के पीछे भागने में मानव ने प्रकृति पर अपना वर्चस्व जमाना चाहा। वन्य चौपायों की हत्याएं की, बाढ़ रोकने हेतु बांध बनाये, रोगों से लड़ने के लिए औषधियां खोजीं एवं पीड़कों के नियंत्रण के लिए रसायनों का प्रयोग किया। मानव अपनी इस 'प्रकृति माता' से ही संघर्ष करता रहा। नतीजा यह हुआ कि हम विभिन्न छोटे–छोटे संग्रामों में तो जीत गए परंतु संपूर्ण युद्ध हार रहे हैं।

टिप्पणी

हम मनुष्यों ने 'वन्य चौपायों' की हत्याएं नृशंसता से कीं जिससे मानवेतर प्रजातियां अभूतपूर्व दर पर विलुप्त होती जा रही हैं। इस महाविनाश के घटनाक्रम में मनुष्य इस तथ्य को समझ नहीं पा रहे हैं कि हम पृथ्वी पर अन्य प्रजातियों की उपस्थिति के बिना जीवित नहीं रह सकते। हमारा अस्तित्व इन प्रजातियों के फलने–फूलने में निहित है। हम पहले ही बहुसंख्य प्रजातियों की विलुप्ति के उत्तरदायी हैं। विलुप्ति की इस शृंखला को जारी रखा गया तो न जाने कब विदा होने की बारी हमारी हो!

उर्वर कहलाने वाले खेतों की ऊपरी मृदा कब की बह चुकी है, झीलों में गाद जमी है। मत्स्य व वन्यजीवों को बहता स्वच्छ जल व निर्मल परिवेश अब पहले जितना सुलभ नहीं रह गया है। अन्य प्रजातियों के नैसर्गिक पर्यावासों पर मानव समाज ने अतिक्रमण कर रखा है व इस अमानवीय अतिक्रमण को प्रतिदिन सड़क, भवन इत्यादि के विनिर्माण द्वारा और बढ़ाया जा रहा है। पशु–पक्षियों के आवास, भ्रमण व भोजन स्थलों को अब मनुष्यों के नियंत्रण में ले लिया गया है। लगा था कि अब बाढ़ें पहले जितने भीषण रूप में नहीं आएंगी परंतु प्रकृति के प्रकोप के समक्ष संसार की कोई मानव–कृतिः बांध, संयंत्र नहीं टिक सकते। अब तो जल–संसाधनों के सरल दोहन के लिए जलस्रोतों के निकट मानव अपनी बस्तियां बसा लेता है जिससे वर्षण के समय स्तर में तनिक भी वृद्धि से तट की बसाहटें पूरी की पूरी बह जाती हैं जिसे प्राकृतिक आपदा कहना तर्कसंगत न होगा। बांध मानव–निर्मित रचनाएं हैं जो प्राकृतिक जलधाराओं को अधिक समय तक व अधिक परिमाण में नहीं थाम सकतीं। प्रकृति पर विजय पाने के विफल कुप्रयास में धरती माता के दमन की वासना मानव को जाने कहां ले जाकर छोड़ेगी।

हमने प्लेग को महामारी मानकर मिटा ही दिया है परंतु दीर्घायु मिली भी तो अन्य घातक रोगों से भरी। अब तो ऐसी दुर्दशा हो गयी है कि नित नवीन रोग जन्म ले रहे हैं व पुराने रोगों पर आधुनिक औषधियां अप्रभावी सिद्ध होती जा रही हैं। अब तो हमें एक रोग के उपचार में प्रयुक्त औषधियों के दुष्प्रभाव मिटाने के लिए और औषधियां लेनी पड़ रही हैं। औसतन अमेरिकियों द्वारा खाद्य से अधिक व्यय तो स्वास्थ्य–रक्षा पर किया जाता है। नये–नये रोगों व उभरते पुराने रोगों के उपचार हम कब तक खोजते रहेंगे? हां! हुए हैं चिकित्सात्मक चमत्कार, क्या ये होंगे बारम्बार? अपनी माता को परास्त करने के और कितने कुप्रयास करने बाकी हैं?

हम अब अत्यधिक सरलता से कई कीटों, रोगों, अपतृणों (खरपतवारों) व परजीवियों को रासायनिक प्रयोगों द्वारा जीत सकते हैं। इन जीतों से खाद्य–कीमतों को घटाने में सहायता होगी एवं इससे कृषि को अधिक यंत्रीकृत, मानकीकृत व औद्योगिक रूप प्रदान किया जा सकता है। इन सबके बदले हमें उन फसलों से दूर रहने का अभ्यास करना होगा जो पोषणात्मक मान की दृष्टि से अतिउपयोगी हैं एवं रसायनों से प्रतिरोधी हो चुके पीड़कों का ग्रास बनकर लुप्त होने की कगार पर हैं। हमारे तथाकथित खाद्यान्न वास्तव में अखाद्य होते जा रहे हैं। इनमें पीड़कनाशियों के अवशेष हमारे उदर तक आ रहे हैं। पेयजल अब यथार्थ में पेय नहीं रह गया है।

औद्यागिक उन्नति के कारण ग्रामीण समुदाय पारिवारिक खेतों से विमुख रहे हैं, उदाहरणार्थ उपरोक्त समस्याओं का अनुभव झेल चुके पंजाब के कई किसान अपने खेत बेचकर विदेश जा बसे हैं। जिस अधिक वेतन के लोभ में लोग ग्रामों से पलायन कर नगरों की ओर भाग रहे हैं वे नगरों में लाभ की स्थिति में अधिक समय तक नहीं रह

टिप्पणी

पायेंगे। हमने जैव–वैविध्य को हानि पहुंचायी, रसायनों से कीटों पर प्रहार किये किंतु अब हमारे कृतकर्मों का फल लौटकर आ रहा है। हम अपनी स्वयं की ही प्रजाति को बचा पाने के लिए चीखने की स्थिति में पहुंचने वाले हैं। 'ग्रामाभ्युदयादेव देशाभ्युदयः' अर्थात् ग्रामों के उत्थान से ही देश का उत्थान संभव है किंतु हमने हरितक्रांति के नाम पर रसायनों को बुरक–बुरक कर/छिड़ककर जल व मृदा को इतना दूषित कर डाला है कि गांवों का अस्तित्व संकट में पड़ चुका है। तो फिर ऐसी स्थिति में नगरों अथवा देश की प्रगति की कल्पना कोई करे तो कैसे? प्रकृति अत्यधिक सहनशील है परंतु अब उसकी सहनसीमा को तथाकथित मानवों की अमानवीयता से लांघ दिया है। अब सब मानने लगे हैं कि प्रकृति को अपने वश में करने का स्वप्न स्वयं को आत्महत्या के गर्त में ढकेलने के समकक्ष है। अब हमारी नजर अगले रोग, अगली सुविधा पर होने के साथ–साथ पीछे छूटती नैसर्गिक क्षमताओं पर भी टिकी रहेगी।

अपनी अनुचित इच्छाओं की ओर अंध होकर बढ़ते हुए मनुष्यों ने दूसरी प्रजातियों का घर उजाड़ डाला। इसीलिए अब स्वयं के अस्तित्व को बचाने के लिए छटपटा रहा, तड़प रहा है यह मानव–समाज। मानव–सभ्यता के विकास की आड़ लेकर प्रकृति का और विनाश अब सरल नहीं रहा क्योंकि समझ आने लगा है कि प्रकृति की संतान के रूप में हम सदा ही माता के अधीन थे, हैं व रहेंगे। अब प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करके पुनः आर्यावर्त (प्राचीन भारत) की भांति वहनीयता बरतनी होगी। प्राकृतिक उपादानों को संसाधन मान लेने के बजाय अब इन्हें अपने ही जैसे अन्य पर्यावरणीय घटकों की भांति सम्मानयोग्य स्वीकार करना होगा। वहनीय जीवन–निर्वाह में हमें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए भावी पीढ़ियों के सुरक्षित भविष्य को सुनिश्चित भी करना होगा। पीढ़ियों तक वहनीय स्थिति बनाये रखने हेतु अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वहनीय रीति में करनी होगी ताकि हमारे अस्तित्व के बचे रहने के साथ भावी पीढ़ियों को भी प्रकृति का जीवन–रक्षक कवच मिले तथा अन्य प्रजातियां फल–फूल सकें।

आवश्यकता–पूर्ति एवं स्वार्थ में भेद समझने की आवश्यकता

न्यायोचित आवश्यकता–पूर्ति एवं स्वार्थ में भेद करना सीखना होगा। अपने वर्तमान को बचाने के नाम पर दीर्घकालिक घाटे उठाने के लिए पर्यावरण व अपनी पीढ़ियों को अंधकार में नहीं ढकेला जा सकता। वर्तमान एवं भविष्य में प्रकृति के समस्त उपादानों पर सबका समान अधिकार है जिसका सम्मान हम सभी को करना होगा। पारस्परिक सौहार्द्र में अपनी वर्तमान व भावी पीढ़ियों सहित अन्य प्रजातियों के अस्तित्व को भी ध्यान में रखना होगा।

प्रकृति के अनुकूल विकास के प्रयास में वहनीय कृषि तो एक छोटा–सा उदाहरणमात्र है। समूचे मानव–समाज को अब तो सचेत होना ही होगा। प्रकृति को पल्लवित होने देने के लिए हमें अपनी सीमाएं समझनी होंगी। वहनीय रूप से मानव सभ्यता का विचार करना होगा। प्रौद्योगिक विकास इस प्रकार करना होगा कि प्रकृति पर पड़ रहे मानवीय दुष्प्रभावों को न्यूनतम किया जा सके। उदाहरणार्थ जैविक खाद अपनायें, बूंद–सिंचन (ड्रिप–इरिगेशन) पद्धति अपनायें। औद्योगिक विकास के पुरातन भारतीय पर्यावरण–केन्द्रित प्रारूपों की ओर वापसी करें ताकि भविष्य 'वहनीय' हो। कृषि सहित समस्त गतिविधियों को पर्यावरण–अनुकूल व जैव–वैविध्यसंगत बनाना होगा।

टिप्पणी

प्रकृति का नाश करके अपना विकास करने की प्रचलित धारणा की मध्यकालीन व आधुनिक प्रवृत्ति को त्यागना होगा ताकि प्रकृति के सान्निध्य में वास्तविक उन्नति की जा सके। मनुष्यों ने अपनी इच्छाओं से आवश्यकताओं की सीमा को लांघ दिया। फसल व वनोपज संग्रहण का लाभ लोभ बन चुका है। व्यावसायिक लाभ के कारण वे वन–संसाधन सिमट कर अभयारण्यों व राष्ट्रीय उद्यानों तक सीमित हो गए हैं जिन्हें पहले कभी असीम समझा जाता था। अधिक से अधिक उत्पाद बनाकर लाभार्जन बढ़ाने की अनुचित इच्छा ने आवश्यकता–पूर्ति को लांघ कर विलास (लग्ज़री) में प्रवेश कर लिया है। अब जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बजाय विलास–केन्द्रित इच्छाओं का जाल है। मानव की उत्पादकता को अधिक से अधिक उत्पादों व सेवाओं को उत्पन्न करने की दिशा में मानव–क्षमता के संदर्भ में परिभाषित किया जाता रहा है। वास्तव में हम दूसरों के उपभोग के साधन स्वयं बनकर नैसर्गिक संसाधनों को खपाकर लुटाये जा रहे हैं। जीवन की गुणवत्ता को खपत के परिणामों के संदर्भों में देखा जाने लगा है। क्रयक्षमता बढ़ने को जीवनस्तर सुधरने का चिह्न माना जा रहा है। उत्पादन बढ़ाने से मिले आर्थिक लाभ से व्युत्पन्न स्थितियों और इच्छाओं का एक कुचक्र बन जाता है जो हमारे जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से परे है।

वहनीय प्रतिरूप का आधार यह धारणा है कि मानव–मानसिकता बहु–आयामी हो ताकि भौतिक, मानसिक व आध्यात्मिक सम्मिश्रण से पर्यावरण–अनुकूल जीवनशैली उपजे। वास्तव में हमारे मन, हमारी काया व आत्मा से हमारे जीवन की गुणवत्ता का निर्धारण होता है। मूलभूत मानवीय आवश्यकता की पूर्ति तक सीमित रहकर विलास का प्रतिकार करना होगा। जिस सीमा में आवश्यकता–पूर्ति संभव हो उससे अधिक जाने का तात्पर्य दूसरों के अधिकार का हनन करना है। औद्योगिक विकास का प्रतिरूप मात्र भौतिक जगत पर आधारित है जहां अधिक खपत व अधिक उत्पादन पर ज़ोर दिया जाता है जबकि वहनीयता के प्रतिरूप में भौतिक, मानसिक व आत्मिक उन्नतियों के मिश्रण को केंद्र में रखकर स्वयं सहित सबके कल्याण का भाव है। अध्यात्म धर्म का पर्याय नहीं है। यहां अध्यात्म का आशय अन्य पर्यावरणीय घटकों से समरसता व तादात्म्यपूर्ण संबंध बनाकर जीवन के निर्वहन से है। आधुनिक काल में धर्म का संबंध किसी सम्प्रदायविशेष की मान्यताओं की अभिव्यक्तिमात्र से है। अध्यात्म का स्तर ऊंचा होता है जिसका मार्ग शांति की ओर ले जाता है। शांति की प्राप्ति अपनी बदलती पसंदों के अनुरूप बाहरी वस्तुओं के विन्यास को बदल देने से नहीं हो सकती। शांति व सौहार्द्र तभी संभव है जब हम अपनी आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति पर्यावरण के जैविक व अजैविक घटकों के अनुकूल रूप में करें। वहनीयता का सुख औद्योगिक विलास से अधिक आनंदकारी है (प्रमाणः महानगरों से आए पर्यटक वनक्षेत्र के निकट निर्मित पर्ण–कुटीर में कुछ दिन बिताने के लिए हजारों रुपये देने के लिए तैयार रहते हैं)। वहनीय कृषि आर्थिकरूपेण व्यवहार्य, सामाजिकरूपेण दायित्वबोधयुक्त एवं पर्यावरण–अनुकूल है। इस प्रकार आर्थिक, सामाजिक व पर्यावरणीय समस्त विषय अंतर्सम्बन्धित हुए। वहनीयता के लिए ये सभी आवश्यक हैं। जिस कृषि में अपने संसाधनात्मक आधार (भूजल, मृदा इत्यादि) रूपी प्रकृति का विघटन किया जाता है, परिवेश में प्रदूषण किया जाता है, अंततः वह कृषि स्वयं के नाश को निमंत्रित करती है। प्रकृति में विकृति लाकर प्रगति नहीं की जा सकती। हरित क्रांति के नाम पर रासायनिक खेती के साक्षी वर्तमान में बंजर हो चुके खेत इसके प्रमाण हैं। तात्कालिक रूप से लाभप्रद किंतु दीर्घावधिक

टिप्पणी

रूप से हानिप्रद रासायनिक कृषि को भूलकर अब जैविक कृषि के दीर्घकालिक हित की डगर पर लौटकर नवीन वहनीय कृषि का प्रारंभ करना होगा। वही खेती उपयोगी है जो भूमि को प्रदूषित व बंजर न छोड़ते हुए समाज की वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति सतत् रूप से कर सके, उत्पादक व उपभोक्ताओं के रूप में नागरिक दूसरों के लिए अहानिप्रद रूप से स्वयं भी लाभान्वित रहें।

हानिकर है नैसर्गिक उपादानों का क्षरण करने वाली उत्पादन प्रणाली

वहनीयता को अब एक पर्यावरणीय मुद्दे के रूप में देखा जाने लगा है। यह वास्तव में पर्यावरणीय मुद्दे से अधिक विस्तृत स्वरूप लिए है। उत्पादन की ऐसी प्रणाली जिसके कारण नैसर्गिक उपादानों का हरण व क्षरण हो वह समूची उत्पादन–प्रणाली मानवजाति सहित समग्र पृथ्वी के लिए घातक है। हमें समझना होगा कि हम इस पर्यावरण के एक अंगमात्र हैं, अन्य पर्यावरणीय अंगों को कुचलकर, इनके प्राकृतिक वैभव को छीनकर अपने विकास के स्वप्न को साकार नहीं कर सकते। वर्तमान खेती की प्रणाली में औद्योगिक कृषि घुसपैठ कर चुकी है जो प्रकृति के विरोध का प्रयास करती है।

कृषि का आधारभूत ध्येय सौर ऊर्जा को मानवीय उपभोग–योग्य खाद्य व रेशों में रूपांतरित करना होता है। प्रकृति में व्याप्त अजैविक व जैविक साधनों का प्रयोग करके हम सूर्य–किरणों से फसलों को उपजाते हैं व प्रकृति के ही साधनों द्वारा अन्य जंतुओं को अपना पालतू बनाकर अपनी आवश्यकताएं पूर्ण करते हैं। प्रकृति की कृपा के कारण ही हम मानव रूप में जन्म ले पाये हैं। मात्र प्रकृति के पालने में पले हैं। इसी के जैविक अंशों के बल पर बढ़े हैं व देहांत के दौरान भी हम प्रकृति पर आश्रित रहते हैं (हिंदुओं द्वारा अंतिम संस्कार से पूर्व मुख में गंगाजल डालना, काष्ठ–शवदहन, नदी में भस्म बहाना; मुस्लिमों द्वारा शव को भूमि में दफनाना; पारसियों द्वारा शव पक्षियों को सौंपकर उसका प्राकृतिक विघटन कराना)। वर्तमान में प्रचलित अधिकांश कृषि–प्रणालियां मानव–केन्द्रित हैं जिनमें अन्य प्रजातियों व पारिस्थितिक तंत्र को द्वितीय श्रेणी के महत्व का समझा जाता है। यदि हमने अपना यह व्यवहार बनाये रखा तो हम प्राकृतिक प्रणाली की अखंडता का नाश कर देंगे जिसका एक भाग हम स्वयं हैं।

वहनीय कृषि पर्यावरण–अनुकूल तो होती ही है, साथ में जन–हितैषी भी होती है। चूंकि हम सब प्रकृति के अंश हैं, अतः हमें अपनी जड़ों की ओर लौटकर पर्यावरण–अनुकूल कृषि अपनानी चाहिए जो मानव के वास्तविक स्वरूप के भी अनुकूल है। सामाजिक कल्याण के रूप में वहनीय कृषि में उपयुक्त कीमतों में खाद्य व रेशों की पर्याप्त आपूर्ति होती है। आपूर्ति पर्याप्त न करने वाली कृषि सामाजिक रूप से वहनीय नहीं कही जा सकती, भले ही वह पर्यावरण–अनुकूल क्यों न हो। मानवजाति एकाकी जीवित नहीं रह सकती, इसे सामाजिक रूप से उत्तरदायी खेती करनी होगी ताकि अन्य का सम्मान करने हेतु गुणतापूर्ण जीवन–निर्वाह सुनिश्चित किया जा सके।

खेती–किसानी के औद्योगिक तंत्र ने सामाजिक संस्थान के रूप में रहे पारिवारिक खेत को समाप्त कर दिया है जिसके कारण ग्रामीण समुदाय गांव छोड़कर जाना चाह रहे हैं अथवा आत्महत्या जैसे अवांछनीय कदम उठा रहे हैं। इस प्रकार समाज पर कृषि का प्रभाव सकारात्मक नहीं वरन् नकारात्मक रूप से पड़ रहा है। वहनीय कृषि से जन–आवश्यकताएं इस प्रकार पूर्ण होती हैं कि पर्यावरण का विघटन नहीं होता व लोगों को जीवन में उत्पादक–प्रक्रियाओं में भाग लेने व सफल होने के अवसर मिलते हैं।

टिप्पणी

अंततः स्पष्ट हो जाता है कि वहनीय कृषि पर्यावरण सहित मानव के समग्र जीवन के लिए समरसतापूर्ण होती हैः मानव–समाज, मानव–अर्थव्यवस्था, मानव–परिवार समस्त संदर्भों में। हमारी वर्तमान अर्थव्यवस्थाएं तो ऐसी हैं कि जिनमें ऐसी प्रणालियों का समर्थन किया जाता है जो नैसर्गिक पर्यावरण व मानव–परिवेश के शोषण के बल पर लघुकालिक प्राप्तियों पर आधारित हैं। प्राकृतिक परिवेश की सुरक्षा का विचार करने वालों के विषय में ऐसा समझा जाता है कि ये आर्थिक घाटा उठाते हैं व प्रकृति के अतिदोहन से उपजे लाभों से वंचित रह जाएंगे। अन्य समुदायों (श्रमिक, ग्राहक अथवा पड़ौसी) के हित की चिंता करने वालों को आर्थिक अवसरों से दूर हुआ मान लिया जाता है। अतः ध्यान में रखें कि वहनीयता का अर्थ समग्र संतुलन है, मात्र पर्यावरण–सुरक्षा नहीं। आधुनिक औद्योगिक जगत में ऐसा मानकर चला जाता है कि पर्यावरण, समाज व अर्थव्यवस्था इन तीनों का संबंध सकारात्मक बनाकर रखने का प्रयास व्यापार–विरोधी होगा। ऐसा मान लिया जाता है कि दूसरों (अन्य मानव–वर्गों, पर्यावरण इत्यादि) को हानि पहुंचे बिना स्वयं का विकास नहीं किया जा सकता; ऐसी मान्यता अत्यधिक भौतिकवादी (सांसारिक) दृष्टिकोण है। इसमें स्वयं कुछ पाने के लिए दूसरों से कुछ छीना जाता है। वास्तव में सब मिलजुलकर न्यायसंगत जीवनयापन सहर्ष कर सकते हैं। हम दूसरों को लाभ पहुंचाते हुए भी आगे बढ़ सकते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भारतीय भाव के कारण भी भारत सोने की चिड़िया कहलाया करता था जहां अपने पास आवश्यकता से अधिक पूंजी/अनाज/वस्त्र होने पर दूसरों को दान में दे दिए जाते थे।

वास्तविक संतोष का लक्ष्य

हमारा संतोष मात्र अपनी अथवा पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति से पूर्ण नहीं हो सकता। वास्तविक संतोष तभी हो सकता है जब हम अपने व संपूर्ण पर्यावरण के वर्तमान व भविष्य को दृष्टि में साथ रखते हुए आगे बढ़ें। पारस्परिक माधुर्य व सौहार्द से जीवनयापन करने की प्रवृत्ति मानवजाति के परंपरागत मूल्यों में निहित है। यहां तक कि मानव आनुवंशिक रूप से भी समूहवादी जीव है जो संयुक्त परिवार अर्थात् कुटम्बों में जीता आया है। मानव एक ऐसा प्राणी है जिसमें नवजात को आत्मनिर्भर होने अर्थात् माता के आश्रय के बिना जीवित रहने में सक्षम होने में वर्षों लग जाते हैं। वह कुछ बड़ा होकर माता से, फिर क्रमशः परिवार से भी दूर होकर रह सकता है किंतु उसे मानव–समाज में साथ रहना होता है। मानव–समाज समूचे प्राकृतिक तंत्र का एक छोटा–सा अंशमात्र है। कुछ पशु भी इतने सामाजिक व चेतनापूर्ण होते हैं कि ये परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप में किसी से कुछ छीनकर स्वयं लाभ की कामना नहीं करते। किसी (अन्य मनुष्य अथवा पर्यावरण अथवा प्रजाति) से कुछ छीनकर अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने की प्रवृत्ति माधुर्य व समरसता की ओर नहीं हो सकती। अन्य समस्त परिप्रेक्ष्यों सहित आर्थिक परिप्रेक्ष्य को भी ध्यान में रखा जाना आवश्यक है परंतु इन आर्थिक इच्छाओं के कारण दूसरों अथवा अपनी पीढ़ी अथवा पर्यावरण के वर्तमान अथवा भविष्य का दमन नहीं किया जाना चाहिए। अपने परिवेश व अन्य किसी कारक को विघटित, क्षतिग्रस्त न करते हुए यह क्या यह संभव है कि आर्थिक उन्नति अथवा व्यावसायिक विकास की ओर बढ़ा जा सकता हो? हां तो कैसे व वहनीय किसान कैसे टिक पायेगा? इसका उत्तर औद्योगिक जगत से प्रतिस्पर्द्धा करने अथवा दूसरों के साथ दौड़ में कूदने में निहित नहीं है। हमें तो बस अपनी जड़ों, अपने आधार की ओर वापस लौटना है। ऐसा करना है जो पर्यावरण के प्रतिकूल न होकर पर्यावरण सहित सबके अनुकूल हो।

टिप्पणी

उत्पादन–लागतें बढ़ सकती हैं अथवा घट सकती हैं किंतु अंतिम प्रभाव सबके लिए सकारात्मक परिणाम लेकर आएगा।

प्रकृति के प्रति आपका ज्ञान जितना अधिक होगा वहनीय कृषि में आप उतने सफल होंगे। जैविक (कार्बनिक) उत्पादन–विधियां, प्रबन्धित पशु–चराई, कृषि–उद्यानिकी, कृषि–वानिकी जैसे अनेक ऐसे माध्यम हैं जो कृषि–आदान (एग्रो–इन्पुट्स) की आवश्यकता घटा देते हैं तथा फव्वारों द्वारा सिंचाई एवं बूंद–सिंचन पद्धति सिंचाई की ऐसी प्रणालियां हैं जो सीमित जल–उपयोग में अधिकतम परिणाम उपलब्ध कराती हैं। वहनीय कृषि में बाहरी कारकों की आवश्यकता सीमित हो जाती है, एक प्रकार से खेत भी स्वावलम्बी हो जाते हैं। प्रकृति को समझकर तदनुसार तादात्म्य स्थापित करते हुए सर्वसमावेशी रीति में कार्य करना होगा। औद्योगिक प्रणालियों में एकरूपता होने से एकरसता होती है जो कि विविधता–विरोधी है।

प्रकृति तो गतिशील होती है। तादात्म्य व सौहार्द्र जैसे शब्द प्रकृति से अपने दैनिक कार्यकलापों के मिलान के पश्चात् ही उत्पन्न होंगे। आप प्रकृति के जितना अनुकूल आएंगे वह भी आपको उतना सहयोग करेगी। तादात्म्य स्थापित करने का अभिप्राय जमीन से जुड़कर जीवनयापन करने से है। खेती को सुरक्षित रखना है तो भूमि का संरक्षण करना होगा एवं मृदा की उर्वरता व पारिस्थितिक स्थिति को सुदृढ़ रखना होगा। भारत की धरती को सोना उगलने वाली कहा जाता था किंतु मुगलों व अंग्रेज़ों द्वारा देशज ज्ञानभंडारों की चोरी व नाश से एवं रसायनों की ओर हमारे आकर्षित होते ही इसकी उत्पादकता क्षीण होती चली गयी। अतः भूमि की हम जितनी देखभाल करेंगे वह उतनी ही फलदायी होगी। धरती से जुड़े लोग इसे संभालना व इसका उपयोग करना भी भली प्रकार जानते हैं। वहनीय कृषि तभी संभव है जब किसान धरा से यथार्थ में व गंभीरता से जुड़े हों व संपूर्ण मानव–समाज के लिए पोषक इस भूमि का ससम्मान दोहन करते हुए वास्तव में अन्नदाता सिद्ध हों। जैविक कृषि से उपजा अन्न ऐसा होता है जिसे बेचने के लिए ग्राहकों पर दबाव नहीं डाला जाता, न ही किसी विपणन–योजना की आवश्यकता पड़ती है अपितु ग्राहक स्वयं इन स्वास्थ्यप्रद व हानिविहीन उत्पादों के लिए खिंचे चले आते हैं। एक धारणा बना ली गयी है कि 'जैविक खाद्यों' (ऑर्गेनिक फूड) का बाजार सीमित है परंतु वास्तव में अब लोग इस विषय में तीव्रता से जागरुक हो रहे हैं। यदि इन्हें ये उपलब्ध करा दिए जाएं तो ये कीमत का अग्रिम भुगतान भी करने को तैयार हो जाते हैं; स्वास्थ्य के प्रति बढ़ रही सजगता के कारण अब अल्प–शिक्षित जन भी जैविक खाद्यों की मांग करने लगे हैं फिर भले ही जैविक चावल की कीमत कई स्थानों पर सामान्य चावल से 30 प्रतिशत अधिक हो।

कुछ अनोखा, कुछ हटकर खरीदने व अपनाने के इच्छुक भी जैविक कृषि करने अथवा ऐसे उत्पाद बेचने अथवा ऐसे उत्पादों का उपभोग करने के प्रति आकर्षित हो रहे हैं जबकि औद्योगिक प्रणालियों में समान रूप व प्रकार की सामग्रियों का उत्पादन बड़े पैमाने पर करके थोक में रख लिया जाता है जिससे एकरूपता व क्रमशः नीरसता उपजती है। एक समान प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन से उद्योगों की लागत कम आती है व बार–बार एक ही प्रकार की वस्तु व रीति दोहरायी जाती है। बाजार में जैविक उत्पाद लाने पर इन उपभोक्ताओं को वह उपलब्ध हो जाता है जिनकी उन्हें वास्तव में आवश्यकता है व जागरुक जनों में इच्छा भी। जन–जन से सद्भाव होने का आशय मानव को मानव मानने से है, न कि उपभोक्ता, उत्पादक अथवा कोई अन्य आभासी

टिप्पणी

संज्ञा। उत्पादक, वितरक, उपभोक्ता जैसे संबंध तो स्वार्थ–जनित होने से आवश्यकता–सीमित ही होते हैं जिनका कोई दीर्घकालिक भविष्य नहीं होता। ये संबंध एक प्रकार से व्यावसायिक संबंध ही हैं। यदि आप मानव को मानव मानेंगे तो वे भी आपको किसी व्यावसायिक संज्ञा में बांधकर नहीं देखेंगे। वे एक प्रकार से आपके पड़ौसी व मित्र हुए जिन्हें आप खोना नहीं चाहेंगे। जब आपके इन मित्रों (जिन्हें आप ग्राहक/उत्पादक इत्यादि श्रेणियों में वर्गीकृत करते आए हैं) के साथ आपके संबंध सद्भावनापूर्ण होंगे तो आप तोल–मोल करने वाले मात्र आपूर्तिकर्ता नहीं कहलायेंगे अपितु आपको इनके स्वास्थ्य व परिवार के रक्षक के रूप में देखा जाने लगेगा। बाज़ार से परे भी आप सबका संबंध होगा। आप पृथ्वी के जीवन सहित अपने व अपने उपरोक्त पड़ौसी मित्रों के जीवन की गुणवत्ता में प्रत्यक्ष योगदान करने लगेंगे।

सबको आगे बढ़ने व समृद्धि का अधिकार है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी का पारिस्थितिक व सामाजिक हित व दायित्व एक समान है। यदि हम संबंधों का सृजन उपरोक्त तथ्यों को मन में रखकर करने लगें तो इसका अनुरक्षण भौतिक आदान–प्रदान तक सीमित नहीं होगा। नीतिशास्त्रीय व पारस्परिक समर्पण से दूर रहकर अपने व्यापारिक लाभ को केंद्र में रखने वालों को अंततः हताशा ही प्राप्त होगी। आर्थिक, पारिस्थितिकीय व सामाजिक आयामों में संतुलन व सम्यक् दृष्टि रखने वाले भौतिक, मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ेंगे। वहनीय कृषि के क्षेत्र में कार्य करने वाला प्रत्येक व्यक्ति ऐसे नवीन विश्व का सृजन करने में एक सहयोगी है जहां लोग पारस्परिक एकात्मकता व प्रकृति से अनुरूपता में जीने को अभिप्रेरित होंगे।

वैश्विक तापोन्नयन एवं जलवायु

प्रकृति के साथ सौहार्द्रपूर्ण तादात्म्य न स्थापित करने, बजाय इसके विपरीत रुख अख्तियार करने का ही प्रतिफलन है वैश्विक तापोन्नयन एवं जलवायु परिवर्तन। जब ऊष्मा–संग्राही गैसों की उपस्थिति के कारण क्षोभमंडल (ट्रोपोस्फियर) में अर्थात् वायुमंडल की सबसे निचली पर्त में ऊष्मा का प्रवेश हो जाता है तो ग्रीनहाउस प्रभाव पड़ता है। वायुमंडल में किस परिमाण में ऊष्मा प्रवेश करेगी वह परिमाण वायुमंडल में उपस्थित ऊष्मा–संग्राही गैसों के सांद्रण पर निर्भर है, उदाहरणार्थ कार्बन डाइ–ऑक्साइड, मीथेन, ओजोन, जलवाष्प, नाइट्रस ऑक्साइड इत्यादि। इन्हें ग्रीन हाउस गैस कहा जाता है। इन गैसों के वांछनीय सांद्रण से संग्रहित होने वाली ऊष्मा के कारण ग्रह इतना उष्ण (गर्म) रहता है कि जिसमें जीवन फल–फूल पाता है। ग्रीनहाउस गैसों के रूप में दो सर्वाधिक महत्तापूर्ण गैसों कार्बन डाइ–ऑक्साइड व जलवाष्प को प्राकृतिक प्रक्रियाओं द्वारा नियंत्रण में रखा जाता है, यथा जल–चक्र एवं वैश्विक कार्बन–चक्र द्वारा।

प्राकृतिक रूप से विद्यमान कार्बन–चक्र कुप्रभावित हो रहा है क्योंकि मानव–गतिविधियों के द्रुत विस्तार के कारण कार्बन डाइ–ऑक्साइड की अतिरिक्त मात्रा वायुमंडल में घुल रही है जो क्षोभमंडल (ट्रोपोस्फियर) में समा जाती है। यह समस्या अधिक विकराल रूप धारण करती जा रही है क्योंकि निर्वनीकरण के कारण वनावरण घट रहा है (वन वायुमंडल के कार्बन के नैसर्गिक अवशोषक होते हैं)। मानव–जन्य अन्य कारकों से मीथेन व नाइट्रस ऑक्साइड जैसी अन्य गैसों की मात्रा भी अनावश्यक स्तर पर बढ़ रही है। इस प्रकार मानव–कार्यकलापों के कारण क्षोभमंडल (ट्रोपोस्फियर)

टिप्पणी

में ग्रीनहाउस गैसों का परिमाण निरंतर बढ़ता ही जा रहा है जिससे औसत वैश्विक तापक्रम में प्रतिदशक असामान्य वृद्धि अनुभव की जा रही है। इसे वैश्विक तापोन्नयन कहा जाता है। वैज्ञानिकों का आकलन है कि 2°C अथवा 3°C की औसतन तापक्रम वृद्धि पृथ्वी के भंगुर पारितंत्र के लिए आपदापूर्ण सिद्ध होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि वैश्विक भूतापोन्नयन के प्रभाव हमारे आसपास दिखने भी लगे हैं परंतु कोई प्रत्यक्ष सहसंबंध अब तक नहीं पाया गया है। जलवायु–विज्ञानियों का मानना है कि इन प्रभावों में से कुछ प्रभाव हैंः विश्वभर में तूफानों की तीव्रता बढ़ना, भारत में मानसून का प्रारूप अनिश्चित हो जाना, यूरोप में अत्यधिक उष्ण वायु–तरंगें। जलवायु–विज्ञानियों ने चेताया है कि यदि ग्रीनहाउस गैसों को वायुमंडल में छोड़ने पर अंकुश तत्काल न लगाया गया तो हमारे जाने के बाद पृथ्वी इस योग्य नहीं रह जाएगी कि वह हमारी पीढ़ियों को पाल पाये। कुछ वैज्ञानिकों का कहना है कि पहले ही अत्यधिक विलम्ब किया जा चुका है तथा अब वैश्विक तापोन्नयन के प्रभावों का शमन करने का समय आ गया है। इसलिए उत्सर्जन रोकना ही पर्याप्त न होगा, साथ ही में पहले उत्सर्जित की जा चुकी गैस–मात्राओं को भी निपटाना होगा। वैश्विक तापोन्नयन के कुछ संभावित प्रभावों का उल्लेख यहां किया जा रहा है।

I. पृथ्वी का तापक्रम बढ़ना

यदि वर्तमान दर पर ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन किया जाता रहा तो पृथ्वी के औसत तापमान में और भी तीव्र वृद्धि संभव है। इस प्रकार धरती के तपने से ध्रुवों के हिम–भंडार द्रुतगति से पिघल रहे हैं। ऐसे निकली जलराशि महासागरों में समाने की दिशा में आगे बढ़ जाती है जिससे समूची पृथ्वी का महासागरीय जलस्तर बढ़ता दिख रहा है। जलवायु–परिवर्तन के वर्तमान आकलनानुसार औसत तापक्रम में 3°C वृद्धि से यह स्तर डेढ़ मीटर बढ़ जाएगा। ताप–वृद्धि के बाद होने वाली इस जलस्तर–वृद्धि के कारण विश्व विपदाओं से घिर जाएगा। विभिन्न महासागरों में स्थित छोटे–छोटे द्वीप तो सर्वप्रथम डूबेंगे ही, साथ में प्रायद्वीपीय व महाद्वीपों के निचले तटों (ऐसे तट जहां पठार अथवा पर्वत नहीं हैं यथा– शंघाई, कैरो, बैंकॉक, सिडनी सहित भारत व बांग्लादेश के तटवर्ती क्षेत्र भी जलमग्न हो जाएंगे। जलस्तर में 2 मीटर्स से अधिक की वृद्धि से कोलकाता, मुम्बई, लक्षद्वीप समूह जैसे प्रधान भारतीय क्षेत्र भी खतरे में पड़ जाएंगे।

II. स्वास्थ्य पर प्रभाव

औसत तापक्रम में इस अवांछित परिवर्तन के कारण मौसमों में अनिश्चितता आ सकती है। वर्षण–प्रारूपों में परिवर्तन से मलेरिया व हाथीपांव जैसे कीट–जनित व जलजन्य रोगों का प्रसार तीव्रता से होने की आशंका है। अभी मलेरियामुक्त क्षेत्रों में इस रोग के संवाहक कीटों के प्रजनन–केंद्र पनप सकते हैं। उच्चतर तापमान एवं आर्द्रता के कारण कुछ श्वसन व त्वचा रोग प्रचंड रूप में उभर सकते हैं।

III. कृषि पर प्रभाव

वैज्ञानिकों का यह मानना है कि विश्व के विभिन्न भागों में कृषि पर भिन्न–भिन्न प्रभाव परिलक्षित होंगे। इससे कुछ फसलों की उपज बढ़ व कुछ फसलों की उपज घट जाएगी। उपोष्णकटिबंधीय (सब–ट्रॉपिकल) कहलाने वाले अंचल अत्यधिक दुष्प्रभावित

टिप्पणी

हो जाएंगे क्योंकि इन अंचलों का तापमान पहले से ही बहुत अधिक है। इन कटिबंधों का ताप वर्तमान स्तर से बढ़ जाने के कारण मृदा की आर्द्रता घट जाएगी व भूमि का सतही वाष्पीकरण एवं पादपों का वाष्पोत्सर्जन बढ़ जाएगा जिससे ज्वार/मकई/मक्का (यहां मैज का सटीक अर्थ सुनिश्चित कर लें) व गेहूं उत्पादन में कमी आएगी। भारत के परिप्रेक्ष्य में गेहूं उत्पादन घटने से कृषकों के जीवन व देश की अर्थव्यवस्था पर खतरनाक प्रभाव पड़ेगा।

वैश्विक तापोन्नयन को रोकने के उपाय

जलवायु–विज्ञानियों व पर्यावरणविदों ने वैश्विक तापोन्नयन के प्रभावों का पूर्वानुमान तो लगाया ही है, साथ ही में ऐसे कुछ उपाय भी सुझाये हैं जिनके द्वारा औसत वैश्विक तापक्रम में वृद्धि का नियंत्रण अथवा शमन किया जा सकता है–

1. CFCs एवं जीवाश्म ईंधनों के वर्तमान प्रयोग में तत्काल भारी कमी लाना।
2. ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन को घटाकर संतुलित स्तर पर ले आना।
3. ऊर्जा के अक्षय स्रोतों की ओर बढ़ना व वहनीयता बरतना।
4. कोयला–आधारित विद्युत–संयंत्रों की बजाय प्राकृतिक गैस व तुलनात्मक रूप से अल्पप्रदूषणकारी विद्युत–संयंत्रों की ओर जाना।
5. अधिकाधिक वृक्षारोपण।
6. प्रकाश–संश्लेषी शैवालों के उपयोग से वायुमंडलीय कार्बन डाइ–ऑक्साइड की निकासी।
7. वहनीय (एकीकृत अथवा/एवं जैविक) कृषि अपनाना।

अवहनीय विकास से हटकर वहनीय विकास का प्रयास

वहनीय विकास रूपी अवधारणा में यह स्मरण कराया जाता है कि नैसर्गिक संसाधनों के उपभोग की दर को सीमित रखना होगा। यह दर इतनी अल्प हो कि ये संसाधन स्वतः प्रतिस्थापित अथवा नवीकृत हो सकें। इसमें आवश्यकता यह भी रहती है कि राष्ट्र व समाज अपनी सामाजिक, आर्थिक व अन्य आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सक्षम हो परंतु भावी पीढ़ियों के लिए भी भविष्य सुरक्षित बचा रहे। विकसित देश नैसर्गिक संसाधनों का अतिदोहन करते हैं। अब यदि ऐसा किया जाता रहा तो संसाधनों की कमी अतिशीघ्र ही दयनीय हो चलेगी। निसर्ग ने अपने संसाधन व सेवाएं हमें इस प्रकार उपलब्ध करायी हैं कि हमने इसे दीर्घावधि से हमारे अपने अपशिष्टों का निधान (एकत्र–स्थान) बना रखा है। अब हमें यह समझ लेना होगा कि निसर्ग की अवस्था हमारे कारण अत्यधिक जर्जर व भंगुर हो चली है। किसी काल में मानवीय आवश्यकताओं से अधिक संसाधनों वाली निसर्ग की क्षमताएं सीमित व कहीं–कहीं तो समाप्त हो चुकी हैं। विशेषज्ञों की चेतावनी है कि हम नैसर्गिक उपादानों की दोहन–सीमा कब की पार कर चुके हैं। अब हमारे द्वारा किया जाने वाला दोहन अतिदोहन की श्रेणी में आने से पारिस्थितिक पतन हो रहा है तथा 'आपदा' की स्थिति आ पड़ी है। ये विशेषज्ञ 'उन्नति की सीमाएं' दर्शन के प्रबल समर्थक हैं। वहनीय कृषि की अवधारणा विस्तृत होकर उत्तर व दक्षिण के विकसित व अविकसित देशों के मध्य न्याय एवं समता (समान वितरण) के सिद्धांत तक जाती है। इसीलिए राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय नेताओं एवं संस्थानों का यह

टिप्पणी

मुख्य दायित्व हो जाता है कि ये प्रखर वैकासिक, आर्थिक एवं पर्यावरणीय मुद्दों में सामने आएं। इन्हें समता व ऐसे अन्य सिद्धांतों को ध्यान में रखना होगा जो पीढ़ीगत विषमता को घटाते हों। वहनीय विकास के एक और पहलू का संबंध इस विश्लेषण से है कि आर्थिक, सामाजिक व पर्यावरणीय तंत्र विभिन्न पैमानों के कार्य–प्रचालन पर पारस्परिक क्रियाएं किस प्रकार करते हैं तथा वहनीय विकास की ओर कैसे बढ़ा जा सकता है कि जो तीनों उप–प्रणालियों में वांछित संतुलन स्थापित कर सके। इस प्रकार संसाधन–लुप्ति, पर्यावरणीय क्षति व सामाजिक अस्थिरता को अल्पतम करते हुए अंततोगत्वा विकासशील देशों में निर्धनता घटनी ही चाहिए।

वाहनीय विकास के लिए निम्नांकित घटकों को संयुक्त रूप में अपनाना होगा–

- पर्यावरण का संरक्षण।
- अनवीकरणीय संसाधनों की और अधिक कमी को टालना।
- वैकल्पिक स्रोतों की ओर कदम बढ़ाना।
- संसाधनों तक समानतापूर्ण पहुंच।
- संसाधनों की उपलब्धता पीढ़ियों तक सुनिश्चित करना।
- प्रणालियों का पुनर्विचार करना।

पर्यावरण एवं वहनीय विकास के आधार–तत्व

पर्यावरण एवं वहनीय विकास के आधार–तत्वों को निम्न बिंदुओं के तहत समझा जा सकता है–

• जनसंख्या एवं इससे उत्पन्न उलझनें

पर्यावरण को दो कारक प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करते हैं: जनसंख्या–वृद्धि एवं आर्थिक विकास। जनसंख्या को पीढ़ी–दर–पीढ़ी बढ़ाते जाने से पहले से सीमित संसाधनों पर दबाव और बढ़ जाता है एवं इससे पर्यावरण को पहुंच रही क्षतियां बढ़ती हैं। जनसंख्या में अधिक वृद्धि से पर्यावरण पर तनाव बढ़ने लगता है क्योंकि केंद्र में केवल आर्थिक विकास रहता है। औद्योगिक उन्नति व अवहनीय अर्थात विवेकरहित विकास के कारण समस्या विकराल रूप धारण कर लेती है।

इसे निम्नांकित समीकरण में दर्शाया जा सकता है–

जहां : $I = P \times A \times T$

I = पर्यावरण का/पर प्रभाव

P = जनसंख्या

A = उपयोग (खपत)

T = प्रौद्योगिकी–गुणांक

जनसंख्या जितनी अधिक होगी, संसाधनों पर दबाव उतना अधिक हो जाएगा। ऊर्जा की खपत में वृद्धि होगी। ग्रीनहाउस गैसों सहित अन्य अपशिष्टों का उत्पादन अधिक किया जाएगा। इन सब कारकों के कारण पर्यावरण प्रतिकूल प्रभावों की चपेट में आ जाता है। भारत की जनसंख्या पहले ही एक अरब की सीमा पार चुकी है। यक्ष प्रश्न यह उठता है कि हम पर्याप्त विकासात्मक कार्यक्रम कैसे खोज पायेंगे जो द्रुत वेग

टिप्पणी

से बढ़ायी जा रही इस विशाल जनसंख्या की पूर्ति कर सकें। जनसंख्या स्वयं एक प्रधान कारक है जिससे पर्यावरण का विघटन व संसाधनों का लोपन होता है।

वहनीय विकास का संबंध समाकलनात्मक समता से है किंतु यदि भावी पीढ़ी की समता को ध्यान के केंद्र में रखा जाए तो पृथ्वी के विभिन्न भागों में उपस्थित वर्तमान जनसंख्या में समानता बरतने की अनदेखी भी ठीक न होगी। वहनीयता में समता, पर्यावरणगत सजगता व सामाजिक उत्तरदायित्वों की छलक मिलती है फिर चाहे जनसंख्या का कालखंड व स्थान जो भी हो।

• उन्नति की सीमाएं

हमें दृष्टिकोणों, उपभोग–प्रवृत्तियों, निर्माण व विपणन रीतियों में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। हमें अत्याधुनिक प्रौद्योगिकियों सहित उस पुरातन संसार में लौटना होगा जहां सामग्री व ऊर्जागत आवश्यकताएं अतिसीमित थीं। इन उपायों से ही हम पर्यावरणीय संकट को संभाल सकने की स्थिति में आ पायेंगे। दक्षता बढ़ाने मात्र से संतोष नहीं किया जा सकता। उन्नति का रूप प्रतिदिन बदलता जा रहा है व उसमें और विविधता आ रही है। स्थिति चिंताजनक है। 'धरती की वहन–क्षमता' का विचार गंभीरता से नहीं किया गया है। विश्व पर्यावरण क्षय के समक्ष विवश हो चुका है। अतः हमें अब अपनी अप्रासंगिक मान्यताओं को त्यागकर पर्यावरणीय समस्याओं के साथ शातिपूर्ण रूप में जूझना होगा।

उदाहरण हेतु जलवायु–परिवर्तन/वैश्विक भूतापोन्नयन का प्रतिकार तभी किया जा सकता है जब विश्व की कायापलट गैर–कार्बन ऊर्जा–अर्थव्यवस्था में हो जाए। तभी कार्बन ऊर्जा–अर्थव्यवस्था के कारण बोझिल हुए पर्यावरणीय घटक संकट से उबर पायेंगे। विश्व को ऐसी अंतर्राष्ट्रीय क्रियाविधि की आवश्यकता है जो सभी देशों को निर्धारित नियमों (जैसे कि उत्सर्जन–सीमा) में जीने के लिए प्रेरित करे एवं साथ ही में गैर–कार्बन ऊर्जा–अर्थव्यवस्था में द्रुत रूपांतरण की ओर अग्रसर करे।

विकासात्मक जीवन–मानदंडों में कमी लाये बिना भी भौतिकता से दूर हुआ एवं ऊर्जा–उपयोग से बचा जा सकता है। ऐसा तभी संभव होगा जब राजकोषीय/वित्तीय प्रणाली में परिवर्तनों को प्रोत्साहित किया जाए ताकि उपयुक्त प्रौद्योगिक उन्नयनों की ओर बढ़ने में सहायता हो। ऐसा संभव है यदि पर्याप्तता के स्तर को निर्धारित कर दिया जाए कि हमें किसकी आवश्यकता किस स्तर पर है। पर्याप्तता से निम्न व पर्याप्तता से उच्च स्तर परिभाषित कर दिए जाएं।

पर्याप्तता तक सीमित रहना तभी संभव है यदि किसी दिन विश्व अपनी उन्नति की सीमाओं को जानने के लिए किसी अंतर्राष्ट्रीय करार के लिए तैयार हो जाए।

वैश्विक सर्वसाधारण प्रणालियों के वहनीय प्रयोग के लिए पृथक् प्रकार की नीतियां अपनानी होंगी। नीतियों की वह नवीन प्रणाली ऐसी होगी जिसमें समतामूलक अभिधार्यताएं/समानतापूर्ण संपत्ति–अधिकार होंगे ताकि ऐसे व्यक्तियों को आर्थिक प्रोत्साहन प्रदान किये जा सकें जो इस पर्यावरणीय स्थान को वहनीय रीति से उपयोग में ला रहे हैं तथा ताकि ऐसे व्यक्तियों को हतोत्साहित किया जा सके जो अवहनीय रीति में मात्र खपत किये जा रहे हैं। वर्तमान स्थिति को देखते हुए आगामी वर्षों में विश्व के समक्ष चुनैतियां बढ़ती ही जाने वाली हैं।

टिप्पणी

- **अर्थव्यवस्था**

'सकल राष्ट्रीय उत्पाद'(GNP) की दर किसी भी राष्ट्र के आर्थिक निष्पादन के सबसे महत्वपूर्ण संसूचकों में से एक है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि से देश की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती इंगित होती है। वैसे हो सकता है कि इस वृद्धि का आधार प्राकृतिक संसाधनों के उपभोग की उच्च दर हो जिनका लोपन पर्यावरण के लिए घातक होगा। आर्थिक उन्नति का विषय एवं पर्यावरणगत चिंताओं में परस्पर विरोधाभास लगता है।

भारत ने उदारीकरण व वैश्वीकरण के माध्यम से आर्थिक सुधार प्रतिरूपों को अपनाया है। इस परिवर्तन से बड़े लाभ हुए हैं परंतु पारिस्थितिक हानियों को भी ध्यान में रखा जाना महत्वपूर्ण है। दीर्घकालिक पारिस्थितिक क्षतियों का विचार करना ही पड़ेगा। सकल राष्ट्रीय उत्पाद बढ़ाने की ओर हमारे प्रयासों में हो सकता है कि हम पारिस्थितिक परिसंपत्तियों को तरलीभूत करना पसंद न करें।

अधिक आर्थिक उन्नति से विदोहन की दर बढ़ती है तथा अनवीकरणीय संसाधनों के रूपांतरण व उपयोग की दशा भी बदल दी जाती है। प्राकृतिक संसाधनों के पुनरुत्पादन (उदाहरणार्थ पुनर्वनीकरण, वर्षाजल–संग्रहण) की दर को भी बढ़ाना नितांत महत्वपूर्ण है। आर्थिक उन्नति के लिए पारिस्थितिक हानियों को लोग अनिवार्य समझ बैठे हैं। आर्थिक उन्नति को पर्यावरणीय रूप से वहनीय करना होगा। विकासशील देशों को अब भी और विकासात्मक कार्यक्रम अपनाने शेष हैं व अभी जीवन के तर्कसंगत मानदंडों तक पहुंचना है। इसीलिए इन देशों को सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि करनी ही होगी। विकासात्मक कार्यक्रमों में संसाधन–सृजन एवं पर्यावरणीय अनुकूलता के तत्वों का समावेश किया जाना है।

- **निर्धनता**

पर्यावरण एवं संसाधनों को सुचारु रूप से संभालने के लिए इस तथ्य को केंद्र में रखा जाना चाहिए कि निर्धन जन अपनी आजीविका के लिए प्राकृतिक संसाधनों पर प्रत्यक्षतः निर्भर हैं। वहनीय विकास में निर्धनता–उन्मूलन पर जोर देना होगा जिसका संबंध स्त्रियों व युवाओं के रोजगार सहित अन्य आय–उत्पादक कार्यक्रम उपलब्ध कराने से है।

- **मानव–निवास**

नगरीय विकास एवं ग्रामीण विकास की वहनीयता को ध्यान में रखना होगा ताकि नगरों में झुग्गी–बस्तियों के विस्तार को रोका जा सके। नगरीय व ग्रामीण निर्धनों की आवश्यकताओं को प्राथमिकता में रखना आवश्यक होगा। मानव–निवास कार्यक्रम में निम्नांकित पहलुओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए–

1. सभी को निवास (ठिकाना) मिले
2. अधोसंरचना (जल, मलजल व ठोस अपशिष्ट) में निवेश
3. वहनीय ऊर्जा व परिवहन प्रणाली को बढ़ावा
4. वहनीय भू–उपयोग प्रबंधन को बढ़ावा

टिप्पणी

- **भू–संसाधन**

'भू' शब्द के अंतर्गत स्थलाकृति के संदर्भ में अचल भौतिक संपदा के अतिरिक्त प्राकृतिक संसाधन, मृदा, खनिज व जीवमंडल भी सम्मिलित हैं। इन अवयवों के माध्यम से भांति–भांति की सेवाएं प्राप्त होती हैं जो जीवन–सहायक प्रणालियों के लिए आवश्यक हैं। भू एक असीमित संसाधन है। भू–प्रबंधन के लिए साझे प्रयास आवश्यक हैं।

- **वन**

वन व वनभूमि के प्रबंधन में समर्पित होना आवश्यक है। वहनीय वन विकास, वनोपज संग्रहण एवं वन–सेवाओं में शासकीय स्तर पर संस्थागत पहल करने की आवश्यकता है।

'अपनी प्रगति जांचिए'

1. क्षेत्र इकाई के सन्दर्भ में प्रजातियों की दर विश्व में सर्वाधिक कहां पर है?
   (क) कोलम्बिया (ख) ब्राजील
   (ग) अमेरिका (घ) अटलांटिक
2. 1992 का संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण एवं विकास सम्मेलन किस देश में हुआ था?
   (क) फिनलैंड (ख) कनाडा
   (ग) ब्राजील (घ) अमेरिका

4.3 राष्ट्रीय तथा स्थानीय स्तर पर जैव विविधता तथा उससे संबंधित खतरे

सन् 1992 में रियो में संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण एवं विकास सम्मेलन में 'कन्वेन्शन ऑन बायोलॉजिकल डायवर्सिटी' (सीबीडी) को अधोहस्ताक्षरित करते हुए जैव–वैविध्य को अंतर्राष्ट्रीय कार्य–योजना में अपना लिया गया। इस कन्वेन्शन में अनेक मुद्दों का निराकरण करने के प्रयास करने की दिशा में प्रतिबद्धता जतायी गयी है जिनमें वन व कृषि से लेकर 'बौद्धिक संपदाधिकार' भी सम्मिलित हैं।

भारत भी सीबीडी का एक अधोहस्ताक्षरकर्ता है जो सन् 1993 से इसके अनुसमर्थन में है। भारत शासन ने जैव–वैविध्य के लिए राष्ट्रीय नीति एवं कार्य रणनीति को अंतिम रूप प्रदान किया है। इस विधि–निर्माण को अंतिम रूप प्रदान करके भारतीय संसद ने सन् 2002 में जैव–वैविध्य विधेयक पारित किया था।

इस कन्वेन्शन का उद्देश्य है: 'जैविक विविधता का संरक्षण, इसके अवयवों का वहनीय (टिकाऊ) उपयोग एवं आनुवंशिक संसाधनों के उपयोग से व्युत्पन्न लाभों की न्यायसंगत साझेदारी'। इसमें जैव–वैविध्य के पारिस्थितिक, आर्थिक व सामाजिक परिदृश्यों (पहलुओं) का भी समावेश किया गया है।

इस कन्वेन्शन की सफलता का मूल्यांकन दो प्रकार से किया जा सकता है–

- जैव–वैविध्य के अवयवों (यथा प्रजातियां व पारितंत्र) में परिवर्तनों का विश्लेषण करके।

- कन्वेन्शन के क्रियान्वयन में अपनाये गए उपायों की प्रभावकारिता का मापन करके।

टिप्पणी

'विश्व प्रकृति निधि'(वर्ल्डवाइड फंड फॉर नेचर) के अनुसार वैज्ञानिकों ने 14 लाख प्रजातियां खोज ली हैं। इनमें से 1 लाख तीन सहस्त्र प्रजातियां जंतु हैं एवं 2 लाख 48 सहस्त्र प्रजातियां उच्चतर पादपों की हैं। विश्व के जैव–वैविध्य का मानवीय ज्ञान अब तक अपूर्ण है। उच्चतर पादपों का तो विस्तृत अध्ययन किया गया है परंतु ऐसा संभव है कि और 15 प्रतिशत् की खोज की जानी शेष है। बहुसंख्य कीटों, अकशेरुकियों, निम्नतर पादपों व सूक्ष्मजीवों की पहचान एवं विवेचन अब तक नहीं किया गया। हालही में किये गए आकलन के अनुसार यह संख्या तीन करोड़ हो सकती है।

प्रकृति में मानवों के अमानवीय हस्तक्षेपों की मात्रा, संख्या, तीव्रता व आवृत्ति इतने उच्च स्तरों पर जा पहुंची है कि समूचे विश्व में आज प्रजातियों को अपूरणीय क्षतियां स्पष्ट परिलक्षित हो रही हैं। बहुसंख्य प्रजातियां तो ऐसी हैं जिन्हें हमने अब तक खोजा नहीं है तथापि ये हमारे कारण विलुप्ति की कगार पर जा बैठी हैं व हमारी दृष्टि में आने से पूर्व ही विलुप्त हो जाएंगी। सन् 1988 में 'अंतर्राष्ट्रीय प्रकृति संरक्षण संघ' (IUCN) ने संकटग्रस्त जंतुओं की 4589 प्रजातियों को सूचीबद्ध किया है। ब्रिटेन के केव गार्डेन्स में वैज्ञानिकों ने लगभग 20000 पादप–प्रजातियों को संकटग्रस्त के रूप में सूचीबद्ध किया है। 'अंतर्राष्ट्रीय प्रकृति संरक्षण संघ' की 'संकटग्रस्त पादप इकाई' के अनुसार सन् 2050 तक 60000 पादप–प्रजातियां विलुप्त अथवा संकटग्रस्त हो जाएंगी। ये आकलन दर्शाते हैं कि विलुप्ति की वर्तमान दर उस विलुप्ति–दर से 25000 अथवा अधिक गुनी अधिक है। स्तनपायियों की विलुप्ति–दर सत्रहवीं शताब्दी में एक प्रजाति प्रति पांच वर्ष थी जो कि बीसवीं शताब्दी में बढ़कर एक प्रजाति प्रति दो वर्ष हो गयी।

4.3.1 राष्ट्रीय स्तर पर जैव विविधता और भारत

प्रत्येक देश की पहचान प्राथमिकतया उसकी जलवायु पर निर्भर अपने जैव–वैविध्य से होती है। भारत वनस्पतिजात (पादपजात) एवं जंतुजात के जैव–वैविध्य में अत्यंत समृद्ध है। वैश्विक प्रजातियों की 6 प्रतिशत प्रजातियां भारत में हैं। ऐसे आकलन किये गए हैं कि विश्व के पादप–संपन्न देशों में भारत दसवें स्थान पर आता है, उच्चतर कशेरुकियों की देशज प्रजातियों की संख्या के संदर्भ में ग्यारहवें एवं कृष्य फसलों के उद्भव व वैविध्य के केंद्रों में छठवें स्थान पर है।

हमारे देश में पहचानी जा चुकी जीवित प्रजातियों की कुल संख्या डेढ़ लाख है। विश्व में पच्चीस जैव–वैविध्य केंद्र निर्धारित किये गए हैं जिनमें से दो भारत में हैंः पूर्वोत्तर अंचल में एक एवं पश्चिमी घाटों में एक।

जैव–वैविध्य प्रधान राष्ट्र के रूप में भारत

विश्व के 12 जैव–वैविध्य प्रधान देशों में भारत भी एक है। पर्यावरण एवं वन मंत्रालय (भारत शासन, 2000) ने 47000 पादप–प्रजातियां एवं 81000 जंतु–प्रजातियां रिकॉर्ड की हैं जो कि वैश्विक वनस्पतिजात व जंतुजात की क्रमशः 7 व 6.5 प्रतिशत हैं। इन प्रजातियों के अंतर्गत मुख्यतः देशज (एंडमिक) प्रजातियां, समुद्री प्रजातियां इत्यादि सम्मिलित हैं।

टिप्पणी

भारतीय जैव–वैविध्य का बहुत भाग अब भी अनदेखा है। भारत में 93 मुख्य आर्द्र भूमि, प्रवाल–भित्तियां (मूंगे की चट्टानें) व मैंग्रूव्स हैं जिन्हें सविस्तार अध्ययन करने की आवश्यकता है। पादप जैव–वैविध्यसंपन्न 60.01 मिलियन्स हेक्टेयर्स क्षेत्रफल पर फैले भारतीय वनों में हिमालय–पार, पूर्वोत्तर, पश्चिम, मध्य व पूर्वी हिमालयीन वन, पश्चिमी घाट, समुद्रतट, मरुस्थल, गांगेय मैदान, दक्कन पठार एवं अंदमान, निकोबार व लक्षद्वीप समूह सम्मिलित हैं। अपनी विविधतापूर्ण जलवायुविक स्थितियों के कारण हमारे इस देश में जैव–वैविध्य के भांति–भांति के रूप विद्यमान हैं।

जैव–वैविध्य केंद्र

उच्च प्रजातीय समृद्धि एवं उच्च प्रजातीय देशजता वाले क्षेत्रों को जैव–वैविध्य केंद्र कहा जाता है। स्थानविशेष तक सीमित प्रजातियों को देशज प्रजातियां कहते हैं। भारत में देशज प्रजातियों की संख्या बहुत है। उभयचरों (एम्फीबियन्स) में से 62 प्रतिशत् एवं गिरगिटों में से 50 प्रतिशत् भारत के देशज हैं। पश्चिमी घाटों में अधिकतम देशजता है। विश्व में 25 स्थानों को जैव–वैविध्य केंद्र माना गया है जिनमें से दो जैव–वैविध्य केंद्र भारत में हैं: पूर्वी हिमालय एवं पश्चिमी घाट।

ये जैव–वैविध्य केंद्र विश्व के 2 प्रतिशत से भी कम भौगोलिक क्षेत्र पर हैं एवं यहां विश्व के स्थलीय जैव–वैविध्य का 50 प्रतिशत भाग है। मएर्स के अनुसार किसी क्षेत्र को तब जैव–वैविध्य केंद्र माना जाएगा जब वहां कम से कम 0.5 प्रतिशत प्रजातियां देशज हों।

1. **पूर्वी हिमालय**– यहां की स्थलाकृतियों में अत्यधिक भिन्नता है जहां प्रजातीय वैविध्य एवं देशजता का पालन होता है। हालही के अध्ययनों में स्पष्ट हुआ है कि पूर्वोत्तरी भारत तथा बर्मा एवं युन्नन व षेज़वान नामक दो चीनी प्रांतों में इसका समीपवर्ती अंचल जैविक (ऑर्गेनिक) उद्विकास का सक्रिय केंद्र है एवं इसे 'पुष्पीय पादपों का पालना' कहा जाता है। विश्व की ज्ञात वनस्पतियों में से 30 प्रतिशत प्रजातियां भारत की देशज हैं जिनमें से 35000 प्रजातियां हिमालय में हैं।
2. **पश्चिमी घाट**– इनका विस्तार महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु एवं केरल के वनों में 17000 वर्ग किलोमीटर तक है जिनके अंतर्गत कुल देशज पादप–प्रजातियों का 40 प्रतिशत् भाग सम्मिलित है। वैविध्य के प्रमुख स्थल अगस्त्यमलाई पहाड़ियां व 'शांत उपत्यका' (साइलेण्ट वेली) हैं जो कि नवीन अमाम्बलम रिजर्व बेसिन है। ऐसा माना जाता है कि वर्तमान के वनों का 6.8 प्रतिशत भाग ही मौलिक वन हैं, शेष भाग या तो निर्वनीकृत किया जा चुका है अथवा विकृत हो चुका है जिससे गंभीर चिंता उपजी है क्योंकि हमने पहले ही जैव–वैविध्य का एक विशाल भाग खो दिया है।

4.3.2 आवासीय हानि तथा जैव विविधता के अन्य खतरे

प्रजातियों का विलोपन उद्विकास की एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। भूविज्ञान–अवधि में पृथ्वी व्यापक विलुप्तियों से होकर गुज़र चुकी है। उद्विकास के दौरान प्रजातियां समाप्त हुईं व अन्य प्रजातियां अस्तित्व में आयीं। वैसे भूविज्ञान–काल में प्रजातियों के लोपन की दर धीमी प्रक्रिया में रही है। 444 मिलियन्स वर्ष पूर्व यह एक दीर्घावधि थी। मानवजाति के नगरीकरण के हाल ही के वर्षों के दौरान विलुप्ति की प्रक्रिया तीव्र हो गयी है। बीते

टिप्पणी

कुछ समय से प्रकृति पर मानव का अमानवीय प्रभाव इतना अधिक तीक्ष्ण हो चला है कि सहस्त्रों प्रजातियां व उपजातियां प्रतिवर्ष विलुप्त होती जा रही हैं। एक आकलन के अनुसार तो प्रतिवर्ष 10000 प्रजातियां विलुप्त हो रही हैं, अर्थात् प्रतिदिन 27 प्रजातियां! इन आंकड़ों में जैव–वैविध्य को पहुंचाये जा रहे गंभीर ख़तरे छलक रहे हैं। विगत डेढ़ सौ वर्षों में विलुप्ति–दर और अधिक चिंतनीय स्तर पर जा चुकी है। यदि यह दर जारी रही तो इक्कीसवीं शताब्दी के मध्य तक हमारे वर्तमान जैव–वैविध्य का एक–तिहाई से दो–तिहाई भाग हमसे सदा के लिए बिछड़ जाएगा।

जैव–वैविध्य जिन खतरों से घिरा है उनके प्रमुख कारण व मुद्दे निम्नांकित हैं–

(अ) आवास या पर्यावास का क्षय

जैव–वैविध्य में कमी आने का सबसे प्रधान कारण पर्यावास को उजाड़ दिया जाना है। विकासीय परियोजनाओं, चारागाह निर्माण, मानव–बसाहट, खेत इत्यादि मानवीय स्वार्थों की आड़ में विगत 10000 वर्षों में लाखों हेक्टेयर्स की वनभूमि व तृणभूमि (ग्रासलैण्ड) को वनस्पति–विहीन किया जा चुका है। ये वनभूमि व तृणभूमि न जाने कितनी प्रजातियों की आश्रय–स्थली हुआ करती थी जिनका अब अस्तित्व बचा ही नहीं क्योंकि नैसर्गिक पर्यावास को मानवजाति ने उजाड़ दिया। आर्द्रभूमि (वेटलैण्ड्स) को गंभीर क्षति पहुंचायी गयी है क्योंकि इस नम धरा को अनुपयोगी पारिस्थितिक तंत्र समझा गया। मैंग्रूव्स, वेलासंगम एवं आर्द्रभूमि का अनोखा व संपन्न जैव–वैविध्य आज गंभीर ख़तरों से जूझ रहा है। जल–निकासी करके, मिट्टी व गिट्टी से भरायी करके अथवा प्रदूषण द्वारा आर्द्रभूमि को नष्ट किया गया है जिससे जैव–वैविध्य को अपूरणीय क्षतियां हो रही हैं।

जो पर्यावास बचा है वह भी छोटे–छोटे व छितरे हुए भूखंडों में विभाजित है जिस कारण नैसर्गिक पर्यावास की नैसर्गिक अखंडता अब नहीं रही। इस परिघटना को पर्यावास विखंडन कहा जाता है। उदाहरणार्थ सैकड़ों मील्स तक फैले सघन वनों को मध्य–मध्य में उजाड़कर नगर बसा लिए गए हैं जिससे वन्यजीवन की समग्रता विच्छिन्न हो गयी है, साथ ही आनुवंशिक वैविध्य का भी घाटा पारितंत्र को उठाना पड़ रहा है क्योंकि प्रजाति की (पहले से सीमित) जीवसंख्या बिछड़कर दो भागों में बंट जाती है। इस प्रकार अंतर्प्रजनन की आशंका बनी ही रहती है। भालू व बड़ी बिल्लियों जैसी अनेक प्रजातियां ऐसी हैं जिन्हें विचरण के बड़े वनक्षेत्र निरंतरता में चाहिए होते हैं अर्थात् इनके लिए वन का सुदीर्घ व निर्जन होना आवश्यक है– इनके आवासीय व भ्रमण क्षेत्र में दूर–दूर तक मानव–बसाहट नहीं होनी चाहिए। ये वनों के भीतरी भागों में ही प्रजनन करते हैं, इस कारण इनके लिए विस्तृत वनक्षेत्र निर्विघ्न रूप में आवश्यक है। पर्यावास विखंडन के कारण कई पक्षी प्रजातियां लुप्त हो चुकी हैं।

हमारे देश में उष्णकटिबंधीय वन द्रुतगति से लुप्त होते जा रहे हैं। इनकी विलुप्ति–दर 0.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष है। वन पर्यावास के लोपन की वर्तमान दर जारी रहने पर विश्व की 20–25 प्रतिशत पादप–प्रजातियों के कुछ ही वर्षों में समाप्त हो जाने की आशंका है। समुद्री जैव–वैविध्य को सर्वाधिक खतरा मत्स्य व अन्य प्रजातियों के आहार–केंद्रों एवं भंगुर प्रजनन–केंद्रों के नाश से है जो कि बड़े पैमाने पर किया जा रहा है।

टिप्पणी

(ब) आखेट (शिकार)

विशेषतया संकटग्रस्त जंतुप्रजातियों के जंतुओं को मारकर व अंग–व्यापार अर्थात आखेट से वन्यजीवन को गंभीर क्षतियां प्रतिदिन पहुंचायी जा रही हैं। संकटग्रस्त प्रजातियों (जंतु व पादप प्रजातियों) के उत्पादों के व्यापार पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिबन्ध के बावजूद चर्म, रोएं, सींग, कस्तूरी, गजदंत, औषधीय उत्पादों इत्यादि वन्यजीव उत्पादों का अवैध कारोबार लाखों डॉलर्स में अब भी प्रतिवर्ष किया जा रहा है। एशिया, लॅटिन अमेरिका व अफ्रीका के विकासशील देश जैव–वैविध्य के समृद्धतम स्रोत हैं एवं यहां वन्यजीवन की अकूत संपदा विद्यमान है। यूरोप, उत्तर अमेरिका सहित एशिया के जापान, ताइवान व हॉन्ग कॉन्ग जैसे धनाढ्य स्थान वन्यजीवों अथवा/एवं इनके उत्पादों के प्रमुख वैश्विक आयातक हैं।

इन वन्यजीव उत्पादों का व्यापार तस्करों व आखेटकों को अत्यधिक लाभदायी कार्य प्रतीत होता है जिसके लिए माफिया द्वारा विदेशों से संबंध बना लिए जाते हैं। 'करेला नीम चढ़ा' वाली बात यह है कि अंततः बाजार में लाये गए प्रत्येक पशु को पकड़ने के चक्कर में औसतन पचास पशुओं की हत्या कर दी गयी होती है।

यदि आपको विरल (रेयर) मत्स्यों अथवा पक्षियों से प्रेम है तो सुनिश्चित कर लें कि आप इनके किसी उत्पाद का प्रयोग न तो स्वयं करें, न ही करने दें। यदि कोई इनका प्रयोग करता दिखे तो संबंधित विभागों की सहायता करके दोषियों को पकड़वायें। ऐसा करके आप इन प्रजातियों को बचाने में अपनी भूमिका निभा पायेंगे। चर्म उत्पाद, रोएं, मगरमच्छ व अजगर को मारकर बनायी गयी सामग्रियों का बहिष्कार करें।

4.3.3 वन्य जीवन में अनाधिकार घुसपैठ और मानव–वन्यजीव संघर्ष

हम वन्यजीवन को सुरक्षित व संरक्षित की आवश्यकता पर बल दे चुके हैं परंतु कभी–कभी ऐसी विरोधाभासी परिस्थितियां प्रत्यक्षतः उत्पन्न हो जाती हैं जब वन्यजीव खेतों में घुसकर फसल खाने लगते हैं अथवा आंगन से पालतू पशुओं को उठा ले जाते हैं। ऐसी स्थिति में वनविभाग के लिए स्थानीय निवासियों को समझाना कठिन हो जाता है कि वे वन्यजीव संरक्षण की दिशा में सहयोग करें।

हमारे देश में भी मानव–पशु संघर्ष के अनेक उदाहरण दिखायी दे चुके हैं। उड़ीसा के संबलपुर में बीते कुछ वर्षों में 195 लोग हाथियों से हुए संघर्ष में मृत हुए। उत्तराखंड के स्थानीय समाचार–पत्रों में ऐसे समाचार दिख जाएंगे कि जब कोई बाघ अथवा तेंदुआ किसी के परिजन को उठा कर ले गया हो। मैसूर में तो स्थानीय ग्रामीणों ने मिलकर कई हाथियों को मार ही डाला। जब वन्यजीवों के लिए पर्याप्त वनभूमि है ही नहीं तो वे जाएं तो जाएं कहां? झारखण्ड व छत्तीसगढ़ में गन्ने व कपास के खेतों में घूमने आए हाथियों को दूर करने के लिए ग्रामीण आतिशों व विद्युत–तारों का प्रयोग करते हैं। इस कारण शांत स्वाभाव के हाथी हिंसक होकर आसपास के अन्य खेतों व बस्तियों में अपना क्रोध व्यक्त करते हैं। आखेटकों (शिकारियों) से अधिक पशुहत्या तो ये स्थानीय निवासी कर देते हैं। यह सब मूलतः वन्यजीवों का ही आवास है किंतु मनुष्यों ने उनके निवास–स्थानों को उजाड़कर अतिक्रमण कर रखा है। इस प्रकार अनेक संरक्षित क्षेत्र मानव–पशु संघर्ष के मुख्य बिंदु बने हुए हैं। भक्ष्य प्रजातियों में जीवों की संख्या में कमी

टिप्पणी

व मानव के हस्तक्षेप के कारण तेंदुआ व बाघ जैसे मांसाहारी पशु मानव–बसाहट में आ जाते हैं तथा एक बार किसी मनुष्य से हिंसक दुर्घटना हो जाने पर ये सहज उपलब्धता के कारण एवं/अथवा आत्मरक्षा के प्रयास में मनुष्यों पर आक्रमण करने लगते हैं। इसी का एक उदाहरण सुंदरवन क्षेत्र में पश्चिम बंगाल स्थित चौबीस परगना का एक गांव गोसावा है जहां विधवा स्त्रियों की संख्या अधिक है क्योंकि पति वनोपज एकत्र करने के लिए वनों के भीतर जाते हैं व वन्यजीवों को असुरक्षाबोध होने लगता है जिससे बंगाली बाघ (बंगाल टाइगर) यहां के कई पुरुषों का वध कर चुके हैं। फिर स्थानीय स्तर पर ऐसे पशुओं को नरभक्षी अथवा मानव–भक्षी कह दिया जाता है।

मानव–वन्य प्राणी संघर्ष के मुद्दे

1. मानव–स्वार्थों के कारण एक सींग वाले गैण्डों, बाघों, हाथियों, भालुओं व तेंदुओं का प्राकृतिक वनावास सीमित होता जा रहा है जिससे वे न चाहते हुए भी वनों के बाहर निकलने को विवश हैं। जब मानव अपने विस्तार के लिए वन्य जंतुओं की आवास सीमा में अतिक्रमण करता है तो पशु अधिक सुरक्षित आश्रय की आस में मानव–आवासों के निकट आ जाते हैं। इस प्रकार यदि उस क्षेत्र को मानव के क्रूर हस्तक्षेप से मुक्त नहीं किया जाता तो मानव–पशु संघर्ष के प्रकरण पनपने लगते हैं।
2. प्रायः दुर्बल पड़ चुके अथवा रुग्ण अथवा घायल पशु मानवों को अपना सरल आहार समझ कर अथवा असुरक्षा के भाव से आक्रमण कर देते हैं। बाघिन द्वारा मनुष्यों पर आक्रमण किये जाने के कई प्रकरण सामने आए हैं क्योंकि गर्भावस्था में यह स्वयं के प्रति अत्यधिक सजग रहती है व शिशुओं की रक्षा के लिए अपनी प्रतिबद्धता व ममता के कारण यदि इसे तनिक भी असुरक्षा–बोध हो तो यह तत्काल आक्रमण कर देती है क्योंकि इसे लगने लगता है कि किसी भी मानव का सामीप्य इसके नवजात के लिए घातक होगा। एक बार मानव–मांस खा लेने के बाद कुछ पशु मानवों पर आक्रमण करना जारी रखते हैं क्योंकि एक ओर तो मानव को पकड़ना उनके लिए अत्यधिक सरल रहता है(जनसंख्या अधिक होने व निर्बल मानवीय शरीर के कारण) तथा दूसरी ओर मानवों में स्व–रक्षा के लिए तीक्ष्ण दंत, मजबूत नख इत्यादि नहीं होते। इस कारण मानव–भक्षी मान लिए गए पशु की हत्या के प्रयास किये जाने आरंभ कर दिए जाते हैं। इस प्रकार समान प्रजाति के अन्य पशुओं को भी मार दिया जाता है क्योंकि मानव के लिए सबका शरीर एक समान होता है। किसी भी स्थिति में हानि तो जैव–वैविध्य को ही होती है।
3. पहले वन विभाग ने धान, गन्ने इत्यादि फसलों की खेती करने की अनुमति अभयारण्यों की सीमा में दे रखी थी। बांस की पत्तियों जैसी प्रिय खाद्य–सामग्रियां प्रचुर मात्रा में हाथियों को न मिलने पर ये समीपवर्ती खेतों में आकर धान व गन्ने उखाड़ ले जाते हैं। इनके चलने मात्र से खेत की फसल टूट जाती है। वैसे इसका एक लाभ यह हो सकता है कि अभयारण्य के आसपास के खेतों में ही संतुष्ट हो जाने पर हाथी नगरों के निकट नहीं आएंगे। एक वयस्क हाथी को प्रतिदिन दो क्विण्टल्स हरे चारे व डेढ़ क्विण्टल्स जल की आवश्यकता रहती है तथा वन में ये आवश्यकताएं पूर्ण न होने की स्थिति में इन्हें बाहर जाना पड़ता है।

टिप्पणी

4. कई बार ग्रामीण अपने खेतों की मेंड़ पर बिजली के तार लगा देते हैं जिससे हाथियों को चोट पहुंचने की आशंका बनी रहती है व उनके उग्र हो जाने का भी आशंका उत्पन्न हो जाती है।
5. दो विशाल वनक्षेत्रों के मध्य की भूमि पर सघन वृक्षारोपण करके इस हरे गलियारे से दोनों विशाल वनक्षेत्रों को जोड़ा जा सकता है। इस प्रकार वन्य पशु एक से अन्य वनक्षेत्रों में इच्छा व ऋतु अनुसार प्रवास सहजता से कर पाते हैं। परिवहन एवं आवासीय विनिर्माण कार्यकलापों के कारण ऐसे प्राकृतिक गलियारे नष्ट किये जा चुके हैं। इस कारण वन्यजीवों का नैसर्गिक आवागमन बाधित हो गया व ये मानव–बसाहटों पर आक्रमण करने लगे।
6. किसानों के खेतों अथवा पालतू पशु अथवा परिजन पर वन्यजीवों द्वारा आक्रमण किये जाने के प्रकरणों में शासन द्वारा नगद क्षतिपूर्ति किये जाने का प्रावधान है परंतु वन्यजीव–संरक्षण के लिए उनका सहयोग वापस मिलने की संभावना सिमट ही जाती है। इसके अतिरिक्त यह आर्थिक क्षतिपूर्ति वास्तविक घाटे से कम होती है। उदाहरणार्थ मैसूर में किसानों को प्रत्याशित उपज के मान से 400 रुपये प्रति क्विण्टल दिए गए परंतु बाजार–भाव 2400 रुपये प्रति क्विण्टल है। यह भी एक कारण है कि जिससे किसान वन्य पशुओं के लिए अपने मन में प्रतिशोध जैसा भाव ले आता है व उन्हें मार डालने का कुप्रयास करता है।

संघर्ष रोकने के उपाय

1. बाघ संरक्षण परियोजना में ऐसे आसन्न खतरों को टालने के लिए वाहन, प्रशांतक (ट्रेंक्यूलाइज़र) बंदूकें, दूरबीन व रेडियो सेट्स उपलब्ध कराये जाएं।
2. यथेष्ट फसल क्षतिपूर्ति व पशु क्षतिपूर्ति योजनाएं लायी जानी चाहिए एवं जनहानि होने की स्थिति में नगदी के रूप में दी जाने वाली क्षतिपूर्ति राशि को बढ़ाना चाहिए।
3. विद्युत–धारा के बजाय सौर–ऊर्जा से संचालित बागुड़ (फेन्सिंग) की व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि वन्य पशुओं को खेतों में आने से रोका जा सके।
4. वन–सीमाओं के समीप फसल–प्रणाली को बदला जाना चाहिए तथा वनक्षेत्रों के भीतर हाथियों को चारे, फल व जल की पर्याप्त उपलब्धता सुनिश्चित करनी चाहिए।
5. ऋत्विक व स्वच्छंद विचरण के लिए वन्यजीव–गलियारों की स्थापना व जीर्णोद्धार किया जाना चाहिए ताकि विशेषतया बड़े व मांसाहारी पशु अनेक वनक्षेत्रों में निर्बाध भ्रमण कर सकें। हाथियों के ऋत्विक भ्रमण के लिए लगभग 300 वर्ग किलोमीटर्स का क्षेत्र अर्थात् गज–गलियारा आवश्यक होता है।
6. उड़ीसा में सिमिलीपाल अभयारण्य में अप्रैल–मई के दौरान वन्य पशुओं का आखेट किये जाने की एक कुपरंपरा है जिसमें पशुओं को बाहर निकालने के लिए वन में आग लगा दी जाती है। इन आखेटों के कारण वन में बाघ इत्यादि परभक्षी जीवों के लिए भक्ष्य प्रजातियों की जीवसंख्या कम हो जाती है जिससे ये मांसभक्षी प्राणी भक्ष्य की खोज में मानव–बसाहट के पास आ जाते हैं। 'अखंड शिकार' की इस अधर्मी प्रथा को बंद कराने की पहल WWF-TCP ने की है।

जैव–वैविध्य की अनमोल महत्ता के कारण इसे अंचल व राष्ट्र की परिसंपत्ति माना जाता है। अपने बहु–आयामी लाभोंः वाणिज्यिक मूल्य, औषधीय मूल्य, सामाजिक व सांस्कृतिक

टिप्पणी

मूल्यों, साम्प्रदायिक व अज्ञात मूल्यों के कारण जैव–वैविध्य को संरक्षित किये जाने की आवश्यकता है। अतिदोहन व शोषण किये जाने के कारण इस वैविध्य के हो रहे विलोपन को ध्यान में रखते हुए संरक्षण व संवर्द्धन पर ज़ोर देना अपेक्षाकृत और अधिक आवश्यक हो चला है। जैव–वैविध्य के संरक्षण की दो विधियां विभिन्न देशों में प्रचलित हैं–

1. बहिर्स्थान (एक्स–सीटू)
2. स्व–स्थान (इन–सीटू)

बहिर्स्थान संरक्षण का तात्पर्य जैव–वैविध्य का संरक्षण ऐसे स्थान पर करने से है जहां अभी उसका प्राकृतिक पर्यावास नहीं है। चिड़ियाघर व वानस्पतिक अथवा जंतु उद्यान ऐसे ही बाहरी स्थानों के उदाहरण हैं जहां संकटग्रस्त पादप व जंतु प्रजातियों को मानवीय देखरेख में रखा जाता है। स्व स्थान का आशय जीवों के प्राकृतिक पर्यावरण से है।

4.3.4 भारत के प्रमुख राष्ट्रीय उद्यान, वन्य जीव अभयारण्य तथा बायोस्फीयर रिजर्व

भारतीय उप–महाद्वीप न केवल अपनी सांस्कृतिक विविधता के लिए जाना जाता है बल्कि यहां पर वनस्पतियों और जीवों की विविध प्रजातियां भी पाई जाती हैं। वन्य जीव जंतु अपने प्राकृतिक निवास स्थानों में सुरक्षित जीवन जी पायें तथा लुप्तप्राय पक्षी एवं जानवर संरक्षित वन्य क्षेत्रों में अपनी व्यवहार्य जनसंख्या बनाए रख सकें इस हेतु भारत में वन्य जीव अभयारण्यों तथा राष्ट्रीय उद्यानों का निर्माण बड़ी संख्या में किया गया है ताकि इन पक्षियों और जानवरों के विलोपन को रोका जा सके। बड़े जंगल से लेकर विशेष प्रजातियों के लिए छोटे स्थल एवं संरक्षित क्षेत्र नियंत्रित उपयोग के लिए आरक्षित किए गए हैं। जंगली पौधों, जानवरों और प्राकृतिक आवासों की रक्षा के लिए ऐसे निर्दिष्ट स्थानों को राष्ट्रीय उद्यान, वन्यजीव अभयारण्य तथा बायोस्फीयर रिजर्व नाम दिया गया है। भारत के ऐसे संरक्षित क्षेत्रों की परिभाषा, विशेषताओं और प्रयोजन आदि का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है–

राष्ट्रीय उद्यान (National Park)– ये पक्षियों और जानवरों की कई प्रजातियों के संरक्षण के लिए केंद्र और राज्य सरकार द्वारा स्थापित वन क्षेत्र हैं। भारत में पहला राष्ट्रीय उद्यान वर्ष 1936 में हैली नेशनल पार्क के रूप में उत्तराखंड में स्थापित किया गया था और बाद में इसका नाम कॉर्बेट नेशनल पार्क रखा गया। भारत सरकार ने देश के वन्यजीवों को प्रभावी ढंग से बचाने, अवैध शिकार, तस्करी और वन्यजीवों के अवैध व्यापार को रोकने के उद्देश्य से 1972 में वन्यजीव संरक्षण अधिनियम बनाया जिसके अंतर्गत भारत के सभी संरक्षित वन्य क्षेत्रों को निर्धारित किया गया है। भारत में 101 राष्ट्रीय उद्यान हैं।

राष्ट्रीय उद्यान की विशेषताएं

भूमि का आरक्षित क्षेत्र, सरकार के स्वामित्व में होता है। इसकी निश्चित सीमाएं होती हैं। किसी क्षेत्र की प्राकृतिक, ऐतिहासिक वस्तुओं और वन्य जीवन (वनस्पति, जीव, परिदृश्य, आदि) की रक्षा करना इनका उद्देश्य होता है। यह अत्यधिक प्रतिबंधित क्षेत्र

टिप्पणी

होता है, लोगों तक यादृच्छिक पहुंच की अनुमति नहीं होती है, आधिकारिक अनुमति की जरूरत होती है। राष्ट्रीय उद्यान में शिकार पूरी तरह से निषिद्ध है। राष्ट्रीय पार्क में मानव गतिविधियां पूरी तरह से प्रतिबंधित रहती हैं तथा वनों की कटाई और चराई वर्जित है। यह क्षेत्र मानव शोषण, औद्योगीकरण और प्रदूषण से भी सुरक्षित है।

यह "संरक्षित क्षेत्र" नामक श्रेणी के अंतर्गत आता है। संरक्षित क्षेत्र वन्यजीव (संरक्षण) अधिनियम, 1972 के अंतर्गत घोषित किए जाते हैं। प्रकृति के संरक्षण के लिए अंतर्राष्ट्रीय संघ (IUCN) और संरक्षित क्षेत्रों हेतु इसके विश्व आयोग ने इसे संरक्षित क्षेत्रों की श्रेणी II के रूप में परिभाषित किया है।

वन्यजीव अभयारण्य (Wild Life Sancturies)– वन्य जीव अभयारण्य की स्थापना 1972 के वाइल्डलाइफ एक्ट के अंतर्गत की जाती है। वन्यजीव अभयारण्य, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, वह स्थान है जो वन्यजीवों के उपयोग के लिए विशेष रूप से आरक्षित है, जिसमें पशु, सरीसृप, कीड़े, पक्षी आदि शामिल हैं। ये यहां जीवन भर के लिए शांति से रह सकते हैं और अपनी जनसंख्या को व्यवहार्य बनाए रख सकते हैं। इन अभयारण्यों का गठन किसी एक प्रजाति अथवा कुछ विशिष्ट प्रजातियों के संरक्षण के लिए भी किया जा सकता है। अर्थात यह विशिष्ट प्रजाति आधारित संरक्षित क्षेत्र होते हैं। यहां सामान्यतया कुछ ही मानवीय गतिविधियों की अनुमति होती है जिससे यहां रहने वाले जानवर तनावपूर्ण स्थिति से बचे रहें। भारत में 553 वन्यजीव अभयारण्य हैं।

वन्यजीव अभयारण्य की विशेषताएं

वन्यजीव अभयारण्य एक प्राकृतिक आवास है, ये सरकारी या निजी एजेंसी के स्वामित्व में होते हैं, जो पक्षियों और जानवरों की विशेष प्रजातियों को सुरक्षित वातावरण प्रदान करते हैं। ये वन्यजीवों की उनके आवासों में व्यवहार्य आबादी को सुनिश्चित करने के लिए बनाए गए हैं। वन्यजीव अभयारण्य में प्रतिबंध कम होते हैं और यह जनता के लिए खुला भी होता है। आधिकारिक अनुमति की जरूरत नहीं है तथा वन्यजीव अभयारण्य में मानव गतिविधियों की अनुमति दे दी जाती है। एक अभयारण्य में अनुमति के बिना शिकार निषिद्ध है। हालांकि चराई और मवेशियों की आवाजाही की अनुमति होती है।

इंटरनेशनल यूनियन फॉर कंजर्वेशन ऑफ नेचर (IUCN) ने अपने श्रेणी IV प्रकार के अंतर्गत ऐसे संरक्षित क्षेत्रों को परिभाषित किया है।

बायोस्फीयर रिजर्व (Biosphere Reserves)– बायोस्फीयर रिजर्व एक विशेष पारिस्थितिकी तंत्र या वनस्पति और जीवों का एक विशेष वातावरण होता है, जिन्हें सुरक्षा और पोषण की आवश्यकता होती है। ये रिजर्व पूरी तरह से व्यवस्थित होते हैं और दुनियाभर में पाए जाने वाले विभिन्न जीवों के संरक्षण के लिए इन रिजर्वों की स्थापना की जाती है। ये रिजर्व वैज्ञानिक और प्राकृतिक रुचि के विषयों पर आधारित होते हैं।

यूनेस्को के अनुसार, "बायोस्फीयर रिजर्व स्थलीय और तटीय पारिस्थितिक तंत्र के क्षेत्र हैं, जो अपने सतत उपयोग के साथ जैव विविधता के संरक्षण के समाधान को बढ़ावा देते हैं। राज्यों के सर्वोच्च अधिकार वाले क्षेत्र में स्थित बायोस्फीयर रिजर्व, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त और राष्ट्रीय (केन्द्र) सरकार द्वारा मनोनीत होते हैं।"

टिप्पणी

1971 में, यूनेस्को ने मानव और उसके प्राकृतिक पर्यावरण के बीच वैज्ञानिक संबंध को औपचारिक रूप देने के लिए एक वैश्विक कार्यक्रम का शुभारंभ किया। इस कार्यक्रम को 'मैन एंड बायोस्फीयर' प्रोग्राम (एमएबी) भी कहा जाता है। वर्ल्ड नेटवर्क ऑफ बायोस्फीयर रिजर्व के प्रयासों से 129 देशों में 714 बायोस्फीयर रिजर्व स्थापित हो गए हैं। पारिस्थितिकी और पर्यावरण को संरक्षित करने के उद्देश्य से एमएबी (मैन एंड बायोस्फीयर) एक उपयुक्त पहल है, जो वनस्पतियों और कई दुर्लभ जीवों और संकटग्रस्त प्रजातियों के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। भारत अपनी जैव विविधता रूपी समृद्ध खजाने के साथ भौगोलिक रूप से विभिन्न बायोस्फीयर रिजर्व की स्थापना व उसके विकास और बायोस्फीयर रिजर्व का संरक्षण करने में पूर्ण रूप से सक्षम है।

भारत के बायोस्फीयर रिजर्व

पर्यावरण, वन, जलवायु परिवर्तन मंत्रालय और भारत सरकार ने बायोस्फीयर रिजर्व को इस प्रकार परिभाषित किया है कि "बायोस्फीयर रिजर्व (बीआरएस) प्राकृतिक और सांस्कृतिक रूप से प्रकृति छवि के मुख्य भाग हैं, जो बड़े पैमाने पर स्थलीय, तटीय और समुद्री पारिस्थितिकी प्रणालियों के बड़े क्षेत्र या इसके संयोजन और जैव–भौगोलिक क्षेत्रों या प्रांत के प्रतिनिधि उदाहरणों का एकीकरण करते हैं।" भारत सरकार ने देश में 18 अलग–अलग बायोस्फीयर रिजर्व स्थापित किए हैं। इनमें से 10, यूनेस्को मैन एंड बायोस्फीयर (एमएबी) प्रोग्राम के तत्वावधान में स्थापित वर्ल्ड नेटवर्क ऑफ बायोस्फीयर रिजर्व का हिस्सा हैं। हमारे देश में बायोस्फीयर रिजर्व के जरिए न केवल जानवरों का संरक्षण किया जाता है, बल्कि देश के लोगों की प्राकृतिक जीवनशैली को भी बढ़ावा दिया जाता है। इन क्षेत्रों के समुदायों को अपनी कृषि जीवन शैली को बनाए रखने तथा पौधों और जानवरों के साथ सामंजस्य विकसित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। भारत के बायोस्फीयर रिजर्व आईयूसीएन (IUCN) श्रेणी की 'V' संरक्षित क्षेत्रों की सूची से मेल खाते हैं और यह अक्सर एक या एक से अधिक राष्ट्रीय उद्यानों और राष्ट्रीय अभयारण्यों को शामिल करके बनाए जाते हैं। बायोस्फीयर रिजर्व के बफर जोन आर्थिक गतिविधियों की सुविधा भी प्रदान करते हैं।

बायोस्फीयर रिजर्व की विशेषताएं

बायोस्फीयर रिजर्व के अंतर्गत भूमि के बहुत बड़े भूभाग को अधिसूचित किया जाता है। इसमें एक से अधिक राष्ट्रीय उद्यान तथा अनेकानेक अभयारण्य शामिल किए जा सकते हैं। यह क्षेत्र एक विशिष्ट क्षेत्र की जैव विविधता के संरक्षण के लिए हैं। इसमें तीन क्षेत्र– कोर, बफर और सीमांत होते हैं।

ये अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर यूनेस्को के मैन एंड बायोस्फियर (एमएबी) कार्यक्रम की संरचना के भीतर मान्यता प्राप्त हैं और राष्ट्रीय सरकारों द्वारा नामित हैं। पर्यावरण और वन मंत्रालय परिदृश्य और जैविक विविधता तथा सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण के लिए संबंधित राज्य सरकारों को वित्तीय सहायता प्रदान करता है।

स्रोत : http://wiienvis.nic.in/Database/Protected_Area_854.aspx

टिप्पणी

भारत के प्रमुख राष्ट्रीय उद्यान एवं वन्य जीव अभयारण्य की सूची इस प्रकार है–

उत्तराखंड जिम कार्बेट राष्ट्रीय उद्यान (1936 में बना भारत का पहला राष्ट्रीय पार्क, इसका पूर्व नाम हैली राष्ट्रीय उद्यान था) फूलों की घाटी राष्ट्रीय उद्यान नन्दा देवी राष्ट्रीय उद्यान राजाजी राष्ट्रीय उद्यान गंगोत्री राष्ट्रीय उद्यान	**जम्मू–कश्मीर** हैमिश हाई आल्टीटयूड राष्ट्रीय उद्यान (भारत का सबसे बड़ा राष्ट्रीय उद्यान) दाचीगाम राष्ट्रीय उद्यान (एकमात्र राष्ट्रीय उद्यान जहां कश्मीरी महामृग – हंगुल पाए जाते हैं) सलीम अली राष्ट्रीय उद्यान किश्तवार राष्ट्रीय उद्यान
मणिपुर केबुल – लामजाओ राष्ट्रीय उद्यान (विश्व का एक्मात्र तैरता राष्ट्रीय पार्क) सिरोही राष्ट्रीय उद्यान	**अरुणाचल प्रदेश** नमदाफा राष्ट्रीय उद्यान पखुई वन्यजीव अभयारण्य दिबांग वन्यजीव अभयारण्य
गुजरात गिर राष्ट्रीय उद्यान (ऐशियाई शेरों के लिए प्रसिद्ध) घुड़खर अभयारण्य (जंगली गधों के लिये प्रसिद्ध) ब्लैकबक राष्ट्रीय उद्यान वांसदा राष्ट्रीय उद्यान समुद्री (कच्छ की खाड़ी) राष्ट्रीय उद्यान	**ओडिशा** सिंमली पाल राष्ट्रीय उद्यान भीतरकनिका राष्ट्रीय उद्यान नन्दनकानन राष्ट्रीय चिड़ियाघर चिल्का झील अभयारण्य
उत्तर प्रदेश दुधवा राष्ट्रीय उद्यान चन्द्रप्रभा वन्यजीव अभयारण्य रानीपुर वन्यजीव अभयारण्य	**झारखंड** बेतला राष्ट्रीय उद्यान धीमा राष्ट्रीय उद्यान हजारीबाग वन्यजीव अभयारण्य
त्रिपुरा क्लाउडेड लैपर्ड राष्ट्रीय उद्यान	**सिक्किम** कंचनजंगा राष्ट्रीय उद्यान
छत्तीसगढ़ कांगेर घाटी (कांगेर वैली) राष्ट्रीय उद्यान इन्द्रावती राष्ट्रीय उद्यान गुरु घासीदास (संजय) राष्ट्रीय उद्यान	**मिजोरम** मुरलेन राष्ट्रीय उद्यान फौंगपुइ राष्ट्रीय उद्यान डाम्फा अभयारण्य
तमिलनाडु गल्फ आफ मन्नार राष्ट्रीय उद्यान इन्दिरा गांधी (अन्नामलाई) राष्ट्रीय उद्यान मुदुमलाई राष्ट्रीय उद्यान प्लानी हिल्स राष्ट्रीय उद्यान मुकुर्थी राष्ट्रीय उद्यान गुंडी राष्ट्रीय उद्यान नेल्लई वन्यजीव अभयारण्य प्वाइंट कैलीमर वन्यजीव अभयारण्य	**आंध्र प्रदेश** इन्दिरा गांधी प्राणी विज्ञान पार्क राजीवगांधी (रामेश्वरम) राष्ट्रीय उद्यान पापीकोंडा राष्ट्रीय उद्यान श्री वेंकटेश्वरम राष्ट्रीय उद्यान नागार्जुन सागर – श्रीशैलम राष्ट्रीय उद्यान (यह भारत का सबसे बडा Project Tiger है) पुलिकट झील अभयारण्य कोरिंगा वाइल्डलाइफ सैंचुरी
महाराष्ट्र बोरीवली (संजय गांधी) राष्ट्रीय उद्यान चांदोली राष्ट्रीय उद्यान ताडोबा राष्ट्रीय उद्यान गुगामल राष्ट्रीय उद्यान नवागांव राष्ट्रीय उद्यान मेलघाट राष्ट्रीय अभयारण्य पश्चिम	**पश्चिम बंगाल** सुन्दरवन राष्ट्रीय उद्यान बुक्सा राष्ट्रीय उद्यान जलदापारा राष्ट्रीय उद्यान गोरूमारा राष्ट्रीय उद्यान सिंगलीला राष्ट्रीय उद्यान नेओरा वैली राष्ट्रीय उद्यान
गोआ सलीम अली पक्षी अभयारण्य भगवान महावीर (मोल्लेम) राष्ट्रीय उद्यान	**तेलंगाना** कासु ब्रह्मानंदा रेड्डी राष्ट्रीय उद्यान मृगावनी राष्ट्रीय उद्यान

टिप्पणी

केरल साइलेंट वैली राष्ट्रीय उद्यान पेरियार राष्ट्रीय उद्यान (जंगली हाथियों के लिए प्रसिद्ध) अन्नामुदाई राष्ट्रीय उद्यान एर्नाकुलम राष्ट्रीय उद्यान परांबिकुलम अभयारण्य इडुक्की अभयारण्य	**अंडमान निकोबार** सैडिल पीक राष्ट्रीय उद्यान महात्मा गांधी मैरीन (वंदूर) राष्ट्रीय उद्यान कैंपबैल राष्ट्रीय उद्यान माऊंट हैरियट राष्ट्रीय उद्यान रानी झांसी मरीन राष्ट्रीय उद्यान साउथ बटन राष्ट्रीय उद्यान (भारत का सबसे छोटा राष्ट्रीय उद्यान)
हिमाचल प्रदेश पिन वैली राष्ट्रीय उद्यान ग्रेट हिमालय राष्ट्रीय उद्यान रोहल्ला राष्ट्रीय उद्यान खिरगंगा राष्ट्रीय उद्यान इन्द्रकिला राष्ट्रीय उद्यान शिकरी देवी अभयारण्य	**कर्नाटक** बांदीपुर राष्ट्रीय उद्यान नागरहोल (राजीव गांधी) राष्ट्रीय उद्यान अंसी राष्ट्रीय उद्यान बन्नेरघट्टा राष्ट्रीय उद्यान कुद्रेमुख राष्ट्रीय उद्यान तुंगभद्रा राष्ट्रीय उद्यान
मेघालय नोक्रेक राष्ट्रीय उद्यान	**पंजाब** हरिकै झील वैटलैण्ड राष्ट्रीय उद्यान
असम मानस राष्ट्रीय उद्यान (एक सींग वाले गैंडे के लिए प्रसिद्ध) काजीरंगा राष्ट्रीय उद्यान (एक सींग वाले गैंडे के लिए प्रसिद्ध) राजीव गांधी ओरांग राष्ट्रीय उद्यान डिब्रू–सैखोवा राष्ट्रीय उद्यान नामेरी राष्ट्रीय उद्यान	**राजस्थान** केवला देवी राष्ट्रीय उद्यान (साइबेरियन क्रेन नामक प्रवासी पक्षी का आश्रय स्थल) रणथंभोर राष्ट्रीय उद्यान सरिस्का राष्ट्रीय उद्यान मरुस्थलीय राष्ट्रीय उद्यान मुकिंद्रा हिल्स राष्ट्रीय उद्यान घाना पक्षी राष्ट्रीय उद्यान माउंट आबू वन्यजीव अभयारण्य
हरियाणा सुलतानपुर राष्ट्रीय उद्यान कलेशर राष्ट्रीय उद्यान	**बिहार** वाल्मीकि राष्ट्रीय उद्यान विक्रमसिला गंगा डॉल्फिन अभयारण्य गौतम बुद्ध अभयारण्य
मध्यप्रदेश कान्हा राष्ट्रीय उद्यान पेंच राष्ट्रीय उद्यान पन्ना राष्ट्रीय उद्यान (यूनेस्को की विश्व विरासत सूची में शामिल) सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान वन विहार राष्ट्रीय उद्यान बांधवगढ़ राष्ट्रीय उद्यान (सफेद बाघों के लिए प्रसिद्ध है) संजय राष्ट्रीय उद्यान माधव राष्ट्रीय उद्यान पालपुर कुनो राष्ट्रीय उद्यान मण्डला प्लांट फौसिल राष्ट्रीय उद्यान रातापानी बाघ वन्यजीव अभयारण्य राष्ट्रीय चंबल वन्यजीव अभयारण्य (घड़ियाल के लिए प्रसिद्ध)	

टिप्पणी

भारत में बायोस्फीयर रिजर्व की सूची इस प्रकार है–

नीलगिरि बायोस्फीयर रिजर्व (एमएबी से संबंधित)

• यह देश में स्थापित पहला बायोस्फीयर रिजर्व है।

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
1 अगस्त 1986	तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल	वायनाड, नागरहोल, बांदीपुर और मुदुमलै, नीलांबुर, साइलेंट वैली और सिरुवानी पहाड़ियों के कुछ हिस्से	पश्चिमी घाट	5,520	नीलगिरि लहर और शेर–पूंछ मकाक

मन्नार की खाड़ी (एमएबी से संबंधित)

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
18 फरवरी 1989	तमिलनाडु	दक्षिण कन्याकुमारी व उत्तर रामेश्वरम के हिस्से	तटीय	10,500	डूगोंग या समुद्री गाय

सुंदरवन (एमएबी से संबंधित)

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
29 मार्च 1989	पश्चिम बंगाल	गंगा और ब्रह्मपुत्र नदी के डेल्टा के कुछ हिस्से	गंगा के डेल्टा	9,630	रॉयल बंगाल टाइगर

नंदा देवी नेशनल पार्क और बायोस्फीयर रिजर्व (एमएबी से संबंधित)

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
18 जनवरी 1988	उत्तराखण्ड	उत्तराखण्ड के चमौली, पिथौरागढ़ और अल्मोड़ा जिले के कुछ हिस्से	पश्चिमी हिमालय	5,860	हिमालयी या हिम तेंदुआ

नोकरेक (एमएबी से संबंधित)

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
1 सितंबर 1988	मेघालय	पूर्व, पश्चिम और दक्षिण गारो पहाड़ी के जिले	पूर्वी हिमालय	820	लाल पांडा

टिप्पणी

पचमढ़ी बायोस्फीयर रिजर्व (एमएबी से संबंधित)

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
30 मार्च 1999	मध्य प्रदेश	बेतुल, होशंगाबाद और छिंदवाड़ा का कुछ हिस्सा	अर्द्ध–शुष्क	4,981	बड़ी गिलहरी और उड़ने वाली गिलहरी

सिमलीपाल (एमएबी से संबंधित)

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
21 जून 1994	उड़ीसा	मयूरभंज जिले के कुछ हिस्से	डेक्कन प्रायद्वीप	4,374	गौर, रॉयल बंगाल टाइगर और जंगली हाथी

अचानकमार–अमरकंटक (एमएबी से संबंधित)

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
30 मार्च 2005	मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़	अनूपपुर, दिंडोरी और बिलासपुर जिले के कुछ हिस्से	माइकल हिल्स	3,835	तेंदुए, गौर और चीतल

ग्रेट निकोबार द्वीप बायोस्फीयर रिजर्व (एमएबी से संबंधित)

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
06 जनवरी 1989	अंडमान व निकोबार द्वीप समूह	अंडमान एवं निकोबार का दक्षिण द्वीप समूह	द्वीप समूह	885	समुद्री मगरमच्छ

अगस्त्यमलाई बायोस्फीयर रिजर्व (एमएबी से संबंधित)

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
12 नवम्बर 2001	तमिलनाडु, केरल	तिरुनलवेली, कन्याकुमारी, तिरुवनंतपुरम, कोल्लम और पथानामथिट्टा जिले के हिस्से	पश्चिमी घाट	3,500	नीलगिरि तहर और हाथी

टिप्पणी

मानस

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
14 मार्च 1989	असम	कोकराझार, बोंगाईगांव, बारपेटा, नलबारी, काम रूप और दारांग जिलों के हिस्से	पूर्वी हिमालय	2,837	सुनहरा लंगूर और लाल पांडा

डिब्रू–सैखोवा

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
28 जुलाई 1997	असम	डिब्रूगढ़ और तिनसुकिया जिलों के हिस्से	पूर्वी हिमालय	765	सुनहरा लंगूर

दिहांग–दिबांग

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
02 सितंबर 1998	अरुणाचल प्रदेश	ऊपरी सियांग, पश्चिम सियांग और दिबांग घाटी के हिस्से	पूर्वी हिमालय	5,111	अनुपलब्ध

कंचनजंघा

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
7 फरवरी 2000	सिक्किम	उत्तर और पश्चिम सिक्किम जिलों के हिस्से	पूर्वी हिमालय	2,931	हिम तेंदुए, लाल पांडा

कच्छ का रण

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
29 जनवरी 2008	गुजरात	कच्छ, राजकोट, सुरेंद्रनगर और पाटन जिलों के हिस्से	रेगिस्तान	12,454	भारतीय जंगली गधा

टिप्पणी

कोल्ड डेजर्ट

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
28 अगस्त 2009	हिमाचल प्रदेश	पिन वैली राष्ट्रीय उद्यान और इसके आसपास चंद्रतल, सरचू और किब्बर का वन्यजीव अभयारण्य	पश्चिमी हिमालय	7,770	हिम तेंदुआ

शेषचलम पहाड़ियां

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
20 सितंबर 2010	आन्ध्र प्रदेश	पूर्वी घाट में शेषचलम की पर्वत श्रृंखला, चित्तूर और कडपा जिलों के हिस्से	पूर्वी घाटी	4,775	अनुपलब्ध

पन्ना

स्थापना वर्ष	राज्य	आवृत्त क्षेत्र	प्रकार	क्षेत्र (वर्ग किलोमीटर)	प्रमुख जीव
25 अगस्त 2011	मध्य प्रदेश	पन्ना और छतरपुर जिले के हिस्से	नदी घाटी	2,998	चीता, चीतल, चिंकारा, सांभर और सुस्त भालू

अपनी प्रगति जांचिए

3. भारतीय संसद ने जैव–वैविध्य के लिए राष्ट्रीय नीति एवं कार्य रणनीति विधेयक कब पारित किया था?

   (क) 1999 (ख) 2000

   (ग) 2001 (घ) 2002

4. भारत में उष्णकटिबंधीय वनों की वार्षिक विलुप्ति दर कितने प्रतिशत है?

   (क) 0.5 (ख) 0.6

   (ग) 0.7 (घ) 0.4

4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)

3. (घ)

4. (ख)

4.5 सारांश

टिप्पणी

आनुवंशिक सूचनाओं की आधारभूत इकाई अनुवंशक हैं। इन्हीं अनुवंशकों के माध्यम से आनुवंशिक सूचनाओं का प्रवाह भावी पीढ़ियों में होता रहता है। जब किसी प्रजाति में अनुवंशकों द्वारा (नवीन संयोजनों के कारण) भिन्न रूपांतर दर्शाया जाता है तो इसे आनुवंशिक भिन्नता कहते हैं। उदाहरण हेतु चावल की समस्त किस्में ऑराइज़ा सैटाइवा प्रजाति से संबंध रखती हैं परंतु वन्य एवं फसलीय किस्मों की ऐसी सहस्त्रों चावल–प्रजातियां हैं जो आनुवंशिक स्तर पर भिन्नता लिए हुए हैं। यह भिन्नता वर्ण, आकार, आकृति, सुगंध आदि के पोषक संघटन के रूप में छलकती है। इस प्रकार यह चावल का आनुवंशिक जैव–वैविध्य हुआ। आनुवंशिक जैव–वैविध्य का आशय प्रजाति के भीतर अनुवंशकों की भिन्नता से है। प्रजाति विशेष में प्रत्येक किस्म के अपने अनुवंशक होते हैं अर्थात उनकी अपनी भिन्न आनुवंशिक बुनावट होती है।

यदि कोई नवीन प्रतिबल (यथा पर्यावरणीय विपदा) पड़ता है तो उच्च आनुवंशिक वैविध्य वाली नस्लें/किस्में अर्थात् उपजातियों में कुछ जीव तो अवश्य बचे रह पायेंगे। ऐसी संभावना बनी रहती है क्योंकि आनुवंशिक विविधतासंपन्न ये जीव ही आगे अपने समकक्ष आनुवंशिक विविधतासंपन्न जीवसंख्या को जन्म देंगे जो प्रतिकूल पारिवेशिक परिस्थितियों में भी जीवन–निर्वाह कर सकेंगे। वर्तमान जीवसंख्या में आनुवंशिक विविधता कम होने से दो हानियां हैं: ये पर्यावरणीय प्रतिकूलताओं में स्वयं को ढाल पाने में अक्षम पड़ सकते हैं एवं इनमें स्वयं की आनुवंशिक विविधता कम है। इसलिए ये अधिक नवीन आनुवंशिक संयोजनों का सृजन नहीं कर पायेंगे। आनुवंशिक विविधता जितनी निम्न होगी उस प्रजाति/उपजाति के जीव विपरीत स्थितियों में स्वयं को संभाल पाने में उतने ही विफल रहेंगे क्योंकि इन विविधतापूर्ण अभिलक्षणों के अभाव में पूरी की पूरी प्रजाति अकस्मात् लुप्त हो सकती है।

हमारे देश में भी मानव–पशु संघर्ष के अनेक उदाहरण दिखायी दे चुके हैं। उड़ीसा के संबलपुर में बीते कुछ वर्षों में 195 लोग हाथियों से हुए संघर्ष में मृत हुए। उत्तराखंड के स्थानीय समाचार–पत्रों में ऐसे समाचार दिख जाएंगे कि जब कोई बाघ अथवा तेंदुआ किसी के परिजन को उठा कर ले गया हो। मैसूर में तो स्थानीय ग्रामीणों ने मिलकर कई हाथियों को मार ही डाला। जब वन्यजीवों के लिए पर्याप्त वनभूमि है ही नहीं तो वे जाएं तो जाएं कहां? झारखण्ड व छत्तीसगढ़ में गन्ने व कपास के खेतों में घूमने आए हाथियों को दूर करने के लिए ग्रामीण आतिशों व विद्युत–तारों का प्रयोग करते हैं। इस कारण शांत स्वाभाव के हाथी हिंसक होकर आसपास के अन्य खेतों व बस्तियों में अपना क्रोध व्यक्त करते हैं। आखेटक (शिकारियों) से अधिक पशुहत्या तो ये स्थानीय निवासी कर देते हैं। यह सब मूलतः वन्यजीवों का ही आवास है किंतु मनुष्यों ने उनके निवास–स्थानों को उजाड़कर अतिक्रमण कर रखा है। इस प्रकार अनेक संरक्षित क्षेत्र मानव–पशु संघर्ष के मुख्य बिंदु बने हुए हैं।

टिप्पणी

पर्यावरण के विघटन को रोकने व निसर्ग का संतुलन पुनर्स्थापित करने के लिए मानव ही एकमात्र उत्तरदायी है। हॅज़ल हेंडर्सन ने अपनी पुस्तक 'वैकल्पिक भविष्य का निर्माण' में यह उल्लेख किया है कि जब हम ऊर्जा संकट, नगरीय संकट, पर्यावरण संकट अथवा जनसंख्या संकट के विषय की चर्चा करते हैं तो सर्वप्रथम हमें यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि इन सभी संकटों की जड़ कहां है? समस्याओं का मूल है– यथार्थता की गंभीरता के प्रति हमारी अल्पज्ञता।

मानव–इतिहास में 'प्रकृति–विरोधी मानव–कृत्यों' के उदाहरण भरे पड़े हैं जहां प्रकृति–शोषण के माध्यम से अमानवीय इच्छाओं की पूर्ति के प्रयास किये गए। वन्य चौपायों, बाढ़ व संभावित रोगों को मानवता अपने शत्रु मानती रही है। समृद्धि प्राप्त करने व अपनी इच्छाओं के पीछे भागने में मानव ने प्रकृति पर अपना वर्चस्व जमाना चाहा। वन्य चौपायों की हत्याएं की, बाढ़ रोकने हेतु बांध बनाये, रोगों से लड़ने के लिए औषधियां खोजीं एवं पीड़कों के नियंत्रण के लिए रसायनों का प्रयोग किया। मानव अपनी इस 'प्रकृति माता' से ही संघर्ष करता रहा। परिणामतः हम विभिन्न छोटे–छोटे संग्रामों में तो जीत गए परंतु संपूर्ण युद्ध हार रहे हैं।

वन्य जीव जंतु अपने प्राकृतिक निवास स्थानों में सुरक्षित जीवन जी पायें तथा लुप्तप्राय पक्षी एवं जानवर संरक्षित वन्य क्षेत्रों में अपनी व्यवहार्य जनसंख्या बनाए रख सकें इस हेतु भारत में वन्य जीव अभयारण्यों तथा राष्ट्रीय उद्यानों का निर्माण बड़ी संख्या में किया गया है ताकि इन पक्षियों और जानवरों के विलोपन को रोका जा सके। बड़े जंगल से लेकर विशेष प्रजातियों के लिए छोटे स्थल एवं संरक्षित क्षेत्र नियंत्रित उपयोग के लिए आरक्षित किए गए हैं। जंगली पौधों, जानवरों और प्राकृतिक आवासों की रक्षा के लिए ऐसे निर्दिष्ट स्थानों को राष्ट्रीय उद्यान, वन्यजीव अभयारण्य तथा बायोस्फीयर रिजर्व नाम दिया गया है।

वन्यजीव अभयारण्य, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, वह स्थान है जो वन्यजीवों के उपयोग के लिए विशेष रूप से आरक्षित है, जिसमें पशु, सरीसृप, कीड़े, पक्षी आदि शामिल हैं। ये यहां जीवन भर के लिए शांति से रह सकते हैं और अपनी जनसंख्या को व्यवहार्य बनाए रख सकते हैं। इन अभयारण्यों का गठन किसी एक प्रजाति अथवा कुछ विशिष्ट प्रजातियों के संरक्षण के लिए भी किया जा सकता है। अर्थात यह विशिष्ट प्रजाति आधारित संरक्षित क्षेत्र होते हैं। यहां सामान्यतया कुछ ही मानवीय गतिविधियों की अनुमति होती है जिससे यहां रहने वाले जानवर तनावपूर्ण स्थिति से बचे रहें।

बायोस्फीयर रिजर्व एक विशेष पारिस्थितिकी तंत्र या वनस्पति और जीवों का एक विशेष वातावरण होता है, जिन्हें सुरक्षा और पोषण की आवश्यकता होती है। ये रिजर्व पूरी तरह से व्यवस्थित होते हैं और दुनियाभर में पाए जाने वाले विभिन्न जीवों के संरक्षण के लिए इन रिजर्वों की स्थापना की जाती है। ये रिजर्व वैज्ञानिक और प्राकृतिक रुचि के विषयों पर आधारित होते हैं। यूनेस्को के अनुसार, बायोस्फीयर रिजर्व स्थलीय और तटीय पारिस्थितिक तंत्र के क्षेत्र हैं, जो अपने सतत उपयोग के साथ जैव विविधता के संरक्षण के समाधान को बढ़ावा देते हैं।

हमारे देश में बायोस्फीयर रिजर्व के जरिए न केवल जानवरों का संरक्षण किया जाता है, बल्कि देश के लोगों की प्राकृतिक जीवनशैली को भी बढ़ावा दिया जाता है।

इन क्षेत्रों के समुदायों को अपनी कृषि जीवन शैली को बनाए रखने तथा पौधों और जानवरों के साथ सामंजस्य विकसित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

टिप्पणी

4.6 मुख्य शब्दावली

- **वैविध्य** : विविधता।
- **मृदा** : मिट्टी।
- **परिप्रेक्ष्य** : संदर्भ।
- **आनुवंशिक** : वंश से संबंधित, वंशानुगत।
- **सहस्रों** : हजारों।
- **परिदृश्य** : परिवेश।
- **विलुप्त होना** : न दिखाई देना, समाप्त होना।
- **कुपरंपरा** : गलत परंपरा/रिवाज।
- **चिकित्सात्मक** : चिकित्सा से संबंधित।
- **पारिस्थितिक** : पर्यावरण से संबंधित।
- **ऊर्जा** : शक्ति, एनर्जी।

4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. जैविक भिन्नता की पहचान किन तीन स्तरों पर की गई है?
2. अक्षांशीय प्रवणता से आप क्या समझते हैं?
3. पारितंत्रीय वैविध्य से क्या आशय है?
4. आनुवंशिक जैव–वैविध्य के संरक्षण की युक्तियों का नामोल्लेख कीजिए।
5. भारत का जैव–भौगोलिक वर्गीकरण कीजिए।
6. मानव वन्य–जीव संघर्ष के कौन–कौन से प्रमुख मुद्दे हैं?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. जैव–वैविध्य से आप क्या समझते हैं? इसके विविध प्रकारों एवं उनमें निहित मूल्यों का वर्णन कीजिए।
2. वैश्विक जैव–वैविध्य पर प्रकाश डालते हुए इसके खतरे व संरक्षण पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।
3. पर्यावरणीय ह्रास एवं इसके लिए उत्तरदायी कारकों की विवेचना कीजिए।
4. 'प्रकृति के साथ सद्भावपूर्ण जीवन' आवश्यक प्राथमिकता क्यों है? व्याख्यात्मक उत्तर दीजिये।

टिप्पणी

4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

Allaby, M. Environment. York: Gareth Stevens Publishing, 2000.

Carson, R. Silent Spring. Boston: Houghton Miffin Harcourt, 1962.

Rajagopalan, R. Environmental Studies, 2nd edn. New Delhi: Oxford University Press.

Rangarajan M. and K. Sivaramakrishnan (eds). India's Environmental History-A Reader: (Vol. 1: From Ancient Times to the Colonial Period, Vol. 2: Colonialism, Modernity, and the Nation). New Delhi: Orient Blackswan Press, 2011.

Rangarajan, M (ed). Environmental Issues in India: A Reader. New Delhi: Pearson Longman, 2007.

WCED (World Commission on Environment and Development). Our Common Future. New York: Oxford University Press, 1987.

इकाई 5 आपदा प्रबंधन तथा पर्यावरण संरक्षण कानून

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 आपदा प्रबंधन एवं पर्यावरण संरक्षण विधान
- 5.2.1 बाढ़, भूकम्प, चक्रवात तथा भू–स्खलन आदि आपदाएं और उनका प्रबंधन
- 5.2.2 प्राकृतिक संसाधनों का क्षरण एवं पर्यावरण प्रबंधन
- 5.2.3 पर्यावरण क्षरण तथा प्रदूषण नियंत्रण
- 5.2.4 राष्ट्रीय पर्यावरण नीति
- 5.2.5 पर्यावरणीय बहिर्भाव तथा जलवायु परिवर्तन
- 5.2.6 पर्यावरण संरक्षण हेतु विधायी प्रावधान

5.3 वायु एवं जल प्रदूषण संरक्षण कानून
5.4 वन्य प्राणी संरक्षण कानून
5.5 पर्यावरण तथा स्वास्थ्य रक्षा में सूचना प्रौद्योगिकी
5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.7 सारांश
5.8 मुख्य शब्दावली
5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

जीवधारियों के जीवन–यापन और कुशलता के लिये प्रकृति में भरपूर संसाधन हैं। परन्तु प्रकृति के अपने नियंत्रण साधन भी होते हैं। प्रयोग में आये संसाधनों को प्रकृति पुनः भर देती है, आधिक्यता को नियंत्रण में रखती है और यह सब प्राकृतिक रूप से जैवीय, भू–रासायनिक चक्र के द्वारा होता है। इस प्रकार प्रकृति में संतुलन बना रहता है। इसमें खाद्य श्रृंखला और खाद्य जाल तथा अन्य प्राकृतिक घटनाओं का बहुत बड़ा हाथ है। इस प्रकार प्रकृति में प्राकृतिक संतुलन को नियमित किया जाता है। इसको पारिस्थितिकी संतुलन भी कहते हैं और आज के सन्दर्भ में प्रकृति का यह संतुलन मानव गतिविधियों के कारण गड़बड़ा गया है।

विभिन्न कानूनों और प्रावधानों के जरिए भारत का संविधान पर्यावरण और वन्य जीवन को पर्याप्त सुरक्षा मुहैया करवाता है। दरअसल 5 जून, 1972 को स्टॉकहोम में मानव पर्यावरण पर आयोजित पहले संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (इसके बाद से ही 5 जून को दुनिया भर में विश्व पर्यावरण दिवस के रूप में मनाया जाता है) का अनुसरण करते हुए पर्यावरण संरक्षण के लिए संवैधानिक प्रावधान बनाने की प्रक्रिया में शुरुआती देशों में से भारत भी एक था। पर्यावरण से संबंधित विभिन्न अपराधों के लिए सजा निर्धारित करने के अलावा यह कानून सरकारों और अन्य हितधारकों के लिए वन और पर्यावरण संरक्षण के लिए उठाए जाने वाले कदमों पर दिशानिर्देश भी उपलब्ध करवाते हैं।

टिप्पणी

इस इकाई में आपदा प्रबंधन और विभिन्न प्रकार के पर्यावरणीय प्रदूषणों की चर्चा करते हुए उन संवैधानिक एवं सांस्थानिक प्रावधानों का परिचय दिया गया है, जो पर्यावरण के संरक्षण को सुनिश्चित करते हैं।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- आपदा प्रबंधन एवं पर्यावरण संरक्षण के विभिन्न मुद्दों एवं पहलुओं को जान पाएंगे;
- बाढ़, भूंकप, चक्रवात एवं भूस्खलन आदि प्राकृतिक आपदाओं के कारण, प्रभाव एवं उनके प्रबंधन का विश्लेषण कर पाएंगे;
- पर्यावरण संरक्षण हेतु किये गये विधायी प्रावधानों की जानकारी प्राप्त कर पाएंगे;
- वायु एवं जल प्रदूषण से संबंधित कानूनों से अवगत हो पाएंगे;
- वन्य प्राणी संरक्षण कानूनों से परिचित हो पाएंगे;
- पर्यावरण एवं स्वास्थ्य रक्षा के क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी की भूमिका को जान पाएंगे।

5.2 आपदा प्रबंधन एवं पर्यावरण संरक्षण विधान

भारतीय उपमहाद्वीप प्राकृतिक आपदाओं के लिये सबसे अधिक संभावित क्षेत्र है। बाढ़, सूखा, चक्रवात और भूकम्प भारत में बार–बार और जल्दी–जल्दी आते ही रहते हैं। प्राकृतिक आपदा मानवनिर्मित आपदाओं जैसे आग आदि की पुनरावृति से मिल कर और बढ़ जाते हैं। पर्यावरण के अवक्रमण से स्थलाकृति (टोपो = भूमि) परिवर्तित हो जाती है। इसके साथ ही प्राकृतिक आपदाओं के लिये असुरक्षा भी बढ़ जाती है। 1988 में कुल भूमि का 11.2 प्रतिशत क्षेत्र ही बाढ़ संभावित था परन्तु 1998 तक यह भू–भाग बढ़ कर 37 प्रतिशत हो गया। अभी हाल ही में जिन चार सबसे बड़ी आपदाओं का सामना भारत को करना पड़ा है वह हैं– महाराष्ट्र के लातूर जिले में 1993 में आने वाला भूकम्प, 1999 में उड़ीसा का बड़ा चक्रवात, 2001 में गुजरात का भूकम्प और दिसम्बर 2004 में आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु में आयी सुनामी।

बार–बार आने वाली इन आपदाओं में जान और माल की बहुत हानि होती है। भौतिक सुरक्षा, विशेष कर जहां असुरक्षा अधिक है, इन बाधाओं के कारण खतरे में पड़ गई है। प्राकृतिक आपदाओं को रोका तो नहीं जा सकता परन्तु उनसे होने वाले दुष्परिणामों और क्षति को कुछ सावधानियां अपना कर रोका जरूर जा सकता है जैसे अधिक कुशल भविष्यवाणी और प्रभावशाली बचाव साधनों के लिये अच्छी तैयारी होना। ऊपर बतायी गयी चारों प्राकृतिक आपदाओं से यह स्पष्ट रूप से पता चलता है कि हमें बहुबाधा से होने वाली जान माल की हानि को कम करने और पुनः सुचारु करने के लिये उचित योजनाओं और तैयारियों की आवश्यकता है। आपदाओं के खतरे का प्रबन्धन वास्तव में विकास की समस्या है। पर्यावरण की जिस स्थिति को देश आज झेल

रहा है, उसे ध्यान में रखते हुए आपदा प्रबन्धन की तैयारी और योजना तैयार करनी होगी।

टिप्पणी

आपदाएं दो प्रकार की होती हैं– प्राकृतिक और मानव निर्मित आपदा। उदाहरण के लिये– आग, दुर्घटनाएं (सड़क, रेल या वायु) औद्योगिक दुर्घटनाएं या महामारी मानव निर्मित आपदाओं के कुछ उदाहरण हैं। प्राकृतिक और मानवनिर्मित दोनों ही आपदाएं भयानक विनाश करती हैं। मानव जीवन की क्षति, जीविका उपार्जन के साधनों, सम्पत्ति और पर्यावरण का अवक्रमण इन आपदाओं का परिणाम होता है। आपदाओं से समाज के सामान्य क्रियाकलापों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और इसका दुष्प्रभाव दीर्घकालीन होता है। भूकम्प, चक्रवात, बाढ़ और भू–स्खलन प्राकृतिक आपदाओं के उदाहरण हैं।

आपदाएं और उनका प्रबंधन

आपदा प्रबंधन के दो विभिन्न एवं महत्वपूर्ण पहलू हैं– आपदा पूर्व व आपदा पश्चात का प्रबंधन। आपदा पूर्व प्रबन्धन को जोखिम प्रबन्धन के नाम से भी जाना जाता है। आपदा के जोखिम भयंकरता व संवेदनशीलता के संगम से पैदा होते हैं, जो मौसमी विविधता व समय के साथ बदलते रहते हैं। जोखिम प्रबन्धन के तीन अंग हैं– जोखिम की पहचान, जोखिम में कमी व जोखिम का स्थानान्तरण। किसी भी आपदा के जोखिम को प्रबन्धित करने के लिये एक प्रभावकारी रणनीति की शुरुआत जोखिम की पहचान से ही होती है। इसमें प्रकृति, ज्ञान और बहुत सीमा तक उसमें जोखिम के बारे में सूचना शामिल होती है। इसमें विशेष स्थान के प्राकृतिक वातावरण के बारे में जानकारी के अलावा वहां आ सकने का पूर्व निर्धारण शामिल है। इस प्रकार एक उचित निर्णय लिया जा सकता है कि कहां व कितना निवेश करना है। इससे एक ऐसी परियोजना को डिजाइन करने में मदद मिल सकती है, जो आपदाओं के गम्भीर प्रभाव के सामने स्थिर रह सकें। अतः जोखिम प्रबन्धन व इससे जुड़े पेशेवरों का कार्य जोखिम क्षेत्रों का पूर्वानुमान लगाना, उसके खतरे के निर्धारण का प्रयास करना, उसके अनुसार सावधानी बरतना और मानव संसाधन एवं वित्त जुटाना आदि आपदा प्रबन्धन की इस उपशाखा के ही अंग हैं।

आपदाओं का प्रबन्धन कई स्तरों पर होता है :

केन्द्रीय स्तर पर आपदा प्रबन्धन– उच्च अधिकार प्राप्त समिति (एच.पी.सी.) का कहना है कि राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक एवं प्रभावी आपदा प्रबन्धन व्यवस्था बनाए रखने के लिए आपदा प्रबन्धन मन्त्रालय को सुचारू किया जाए जो कि बाढ़ में एन.सी.सी.एम. जैसे केन्द्रों और प्राधिकरणों सहित उचित सहायक निकायों का गठन कर सकता है अथवा सहायता के लिये वर्तमान केन्द्रों का उपयोग हो सकता है। आपदा प्रबन्धन हेतु केन्द्र सरकार द्वारा जो सर्वदलीय समिति का गठन किया गया है उसके अध्यक्ष प्रधानमंत्री हैं। इस योजना के संचालन हेतु एवं वैज्ञानिक एवं तकनीकी सलाहकार समिति भी उसकी सहायता करेगी।

राज्य स्तर पर आपदा प्रबन्धन– हमारे देश में राष्ट्रीय आपदाओं से निपटने की जिम्मेदारी अनिवार्य रूप से राज्यों की है। केन्द्र सरकार की भूमिका भौतिक एवं वित्तीय संसाधनों की सहायता देने की है। अधिकतर राज्यों में राहत आयुक्त हैं, जो अपने राज्यों में प्राकृतिक आपदाओं की स्थिति में राहत एवं पुनर्वास कार्यों के प्रभारी हैं। पूर्ण प्रभारी मुख्य सचिव होता है तथा राहत आयुक्त उसके निर्देश एवं नियंत्रण में कार्य

करते हैं। आपदा के समय प्रभावित लोगों तक पहुंचने के प्रयासों में सम्मिलित करने के लिये राज्य सरकार गैर सरकारी संगठनों तथा अन्य राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय संगठनों को आमन्त्रित करती है।

टिप्पणी

जिला–स्तर पर आपदा प्रबन्धन– आपदा प्रबन्धन हेतु सभी सरकारी योजनाओं और गतिविधियों के क्रियान्वयन के लिये जिला प्रशासन केन्द्र बिन्दु है। कम से कम समय में राहत कार्य चलाने के लिये जिला अधिकारी को पर्याप्त अधिकार दिये गये हैं। प्रत्येक जिले में आने वाली आपदाओं से निपटने के लिये अग्रिम आपात योजना बनाना जरूरी है तथा निगरानी का अधिकार जिला मजिस्ट्रेट को है।

आपदा प्रबन्धन में महत्वपूर्ण क्षेत्र

1. **संचार–** संचार आपदा प्रबन्धन में अत्यधिक उपयोगी हो सकता है। संचार साधनों के माध्यम से जागरुकता, प्रचार–प्रसार तथा आपदा प्रतिक्रिया के समय आवास सूचना व्यवस्था के माध्यम से काफी सहायक हो सकता है।
2. **अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी–** अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी आपदा के प्रभाव को कारगर ढंग से करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इसका उपयोग– 1. शीघ्र चेतावनी रणनीति को विकसित करने में, 2. विकास योजनाएं बनाने एवं लागू करने में, 3. संचार और सुदूर चिकित्सा सेवाओं सहित संसाधन जुटाने में और 4. पुनर्वास एवं आपदा पश्चात् पुनर्निर्माण में सहायता हेतु किया जा सकता है।
3. **भौगोलिक सूचना प्रणाली–** भौगोलिक सूचना प्रणाली सॉफ्टवेयर भूगोल और कम्प्यूटर द्वारा बनाए गए मानचित्रों का उपयोग स्थान आधारित सूचना के भण्डार के समन्वय एवं आकलन के लिये करती है। भौगोलिक सूचना प्रणाली का उपयोग वैज्ञानिक जांच, संसाधन प्रबन्धन तथा आपदा एवं विकास योजना में किया जा सकता है।

• सामुदायिक स्तर पर आपदा प्रबन्धन

जब कभी कोई आपदा आती है, तब अनेक सरकारी और गैर–सरकारी संस्थाएं और समाज (समुदाय) आपदा प्रबन्धन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उनकी तैयारी, प्रतिक्रिया, पुनःप्राप्ति और बचाव का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है :

आपदा प्रबन्धन के चार मुख्य घटक होते हैं :

तैयारी : इसका अभिप्राय है कि समाज और संस्थाएं आपदा के दुष्प्रभावों का सामना करने के लिये तैयार हैं या नहीं। इससे जुड़ी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :

– सामुदायिक जागरूकता और शिक्षा।
– आपदा प्रबन्धन योजना की तैयारी समुदाय, स्कूल और व्यक्तिगत स्तर पर।
– नकली (मॉकड्रिल) अभ्यास और प्रशिक्षण।
– सामग्री और मानव कुशलता दोनों की उपलब्धता की सूची तैयार होना।
– उचित चेतावनी व्यवस्था।
– पारस्परिक सहायता व्यवस्था।
– संवेदनशील समूह की पहचान।

टिप्पणी

प्रतिक्रिया : पूर्वानुमान से, आपदा के समय और आपदा के तुरन्त बाद आपदा के दुष्प्रभावों को कम करने के लिये किये गये उपाय/कार्यवाही। इसके लिये मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं :

- आपातकालीन ऑपरेशन केन्द्र को क्रियान्वित करना (कंट्रोल रूम)।
- खोजी और सुरक्षा टीमों का विस्तार।
- अद्यतन (अपडेट) चेतावनी का प्रसारण।
- सामुदायिक रसोईघरों की स्थापना, जिसमें स्थानीय लोगों को लें।
- अस्थायी निवास और शौचालयों की व्यवस्था।
- मेडिकल कैम्प की व्यवस्था।
- संसाधनों का संग्रह करना।

पुनःप्राप्ति या पुनर्स्थापन : इसमें भौतिक ढांचे के पुनः निर्माण के साथ आर्थिक और भावात्मक पुनरुद्धार भी किया जाता है। इसके मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं :

- स्वास्थ्य और सुरक्षा उपायों के लिये सामुदायिक जागरूकता।
- जिन्होंने अपने सगे सम्बन्धियों को खोया है, उनके लिये सांत्वना और परामर्श केन्द्र।
- यातायात, संचार और बिजली जैसी व्यवस्थाओं का पुनर्प्रबन्धन/पुर्नव्यवस्था।
- शरणस्थल की उपलब्धता।
- मलबे से निर्माण संबंधी उपयोगी पदार्थों को एकत्र करना।
- आर्थिक सहायता प्रदान करना।
- रोजगार के अवसर तलाशना।
- नयी इमारतों का निर्माण करना।

रोकथाम/बचाव : आपदा की भीषणता को रोकने या कम करने के उपाय करने चाहिए।

- भूमि के उपयोग की योजना।
- खतरे वाले स्थान में बसने पर रोक।
- आपदा–प्रतिरोधक बिल्डिंग/इमारतें।
- आपदा के आने से पूर्व ही खतरे को कम करने के तरीके ढूंढ़ना।
- सामुदायिक जागरूकता और शिक्षा।

आपदा से पहले और बाद के कुछ घंटे जीवन बचाने और क्षति को कम करने के लिये बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। अकसर आपदा स्थल पर बाहरी सहायता को पहुंचने में वक्त लग जाता है। किसी भी आपदा के समय सर्वप्रथम पड़ोस से ही सहायता पहुंचती है। आपदा की स्थिति में सर्वप्रथम सहायता पहुंचाने वाले लोग प्रायः मेडिकल और अन्य घटनाओं को समझ पाने और संभालने के उचित ढंग से अनभिज्ञ होते हैं। उन्हें स्थिति का सामना करने का प्रशिक्षण और कौशल नहीं होता। अतः सामुदायिक स्तर पर प्रबन्धन का उद्देश्य स्थानीय लोगों को आपातकालीन स्थिति का प्रभावपूर्ण ढंग से सामना

करने का प्रशिक्षण देना होना चाहिये। प्रशिक्षित समुदाय के सदस्य इस प्रकार की परिस्थितियों के समय में जीवनरक्षक सिद्ध होते हैं। अतः इस प्रकार प्रशिक्षित करने से समुदाय प्रबन्धन लोगों की भागीदारी को प्रोत्साहित करता है।

टिप्पणी

आपदा प्रबन्धन में सरकारी पहल

भारत सरकार ने प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में आपदा प्रबन्धन के लिये राष्ट्रीय कमेटी (National committee on Disaster Management- NCDM) की स्थापना की है। इस राष्ट्रीय कमेटी के प्रस्ताव राष्ट्रीय आपदा प्रबन्धन कार्यक्रम का आधार होंगे और प्राकृतिक आपदा प्रबन्धन और प्रतिक्रिया तंत्र को इससे बल मिलेगा। यूनाइटेड नेशंस डेवेलपमेंट प्रोग्राम (यूएनडीपी) भी सरकार की आपदा प्रबन्धन की क्षमता को मजबूत करने में सहायक होती है।

कार्यक्रम में निम्नलिखित घटक सम्मिलित होंगे–

- प्रान्त और जिले के आपदा प्रबन्धन योजना का विकास।
- आपदा खतरा प्रबन्धन और प्रतिक्रिया योजना का विकास गांव/वार्ड, ग्राम पंचायत, ब्लॉक/शहरी स्थानीय स्तर पर।
- सभी स्तरों पर आपदा प्रबन्धन टीम बनायी जाये और इनमें सभी कमेटी और टीमों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व भी उचित अनुपात में होना आवश्यक है (गांव/वार्ड, ग्राम पंचायत, ब्लॉक/शहरी स्थानीय ढांचा, जिला और राज्य)।
- सभी स्तरों पर आपदा प्रबन्धन टीम की क्षमता बढ़ायी जाय। प्राथमिक उपचार, शरणस्थलों का प्रबन्धन, पानी और सफाई, बचाव और निकास/रिक्तीकरण में महिलाओं को विशेष प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये।
- आपदा प्रवृत स्थानों में इमारतों में चक्रवात और भूकम्प प्रतिरोधक क्षमता वाले फीचर लगाने चाहिये। पुनर्स्थापन के प्रशिक्षण और निर्माण की ट्रेनिंग के लिये प्रदर्शन टीम हों।
- आपदा प्रबन्धन योजना और स्थानीय स्वयं सरकारी विकास योजनाओं का परस्पर तालमेल होना चाहिये।

5.2.1 बाढ़, भूकम्प, चक्रवात तथा भू–स्खलन आदि आपदाएं और उनका प्रबंधन

यहां हम बाढ़, भूकम्प चक्रवात और भूस्खलन जैसी कुछ बड़ी प्राकृतिक आपरदाओं एवं उनके प्रबंधन के बारे में चर्चा करेंगे।

- **बाढ़**

किसी बड़े भू–भाग का जलमग्न होना, जिसमें अपार जनधन की हानि होती है, बाढ़ कहलाता है। इसके उत्तरदायी कारकों में अतिवृष्टि, पर्यावरण विनाष, भूस्खलन, बांध, तटबंध तथा बैराज का टूटना, सड़क तथा अन्य निर्माण कार्य, नदियों में गाद बढ़ना, नदियों में निर्मित बांधों में तलछट भरना आदि हैं। केन्द्रीय बाढ़ आयोग की रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 1953 से 1990 के मध्य औसत रूप से प्रतिवर्ष 7944 मि.हे. क्षेत्र बाढ़ से प्रभावित होता रहता है। बाढ़ द्वारा सर्वाधिक प्रभावित क्षेत्र वर्ष 1978 में 17500 मि.हे. क्षेत्र

भी रहा है। 1953 से 1990 के मध्य की अवधि में औसत रूप से प्रतिवर्ष 12, 18, 690 भवन तथा 1532 व्यक्ति बाढ़ आपदा के शिकार हुए हैं। जबकि इसी अवधि में सर्वाधिक 35,07,542 भवन वर्ष 1978 में तथा सर्वाधिक 11,316 व्यक्ति वर्ष 1977 में बाढ़ के शिकार हुए हैं। हमारे देश में न केवल बाढ़ प्रभावित भूभाग बढ़ता जा रहा है, बल्कि बाढ़ प्रभावित जनसंख्या भी बढ़ती जा रही है। खाद्य एवं कृषि संगठन के एक ताजा अनुमान के अनुसार देश की लगभग 25 करोड़ आबादी उन क्षेत्रों में निवास कर रही है, जहां बाढ़ के प्रकोप की आशंका है।

सुनामी आपदा– सुनामी दो शब्दों से मिल कर बना है– TSU का अर्थ है बन्दरगाह और NAMI का अर्थ है लहरें। इसे ज्वारीय या भूकम्पीय लहरें भी कहते हैं। समुद्र की सतह हिलने के कारण तली के ऊपर भरा पानी ऊपर नीचे उठता गिरता है, जिससे सुनामी लहरें पैदा होती हैं। भारत में सुनामी का मुख्य केन्द्र उत्तरी भाग एक ही संवेदनशील भूकम्पीय पट्टी से जुड़ा है। यह पट्टी गुजरात के भुज क्षेत्र से हिमालय की तलहटी और म्यांमार होती हुई सुमात्रा द्वीप तक फैली है।

बादल फटना– इनमें हवाएं तेजी से उठती हैं। बिजली की चमक एवं बादलों की गरज के साथ तीव्र वर्षा होती है। ओलापात भी हो सकता है। मूसलाधार वृष्टि के कारण गांव के गांव बह जाते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक मानव जनित आपदाएं होती हैं। इनका निराकरण हमारी सूझबूझ, सावधानी, विवेक व परस्पर सहयोग से संभव है। देश में लगभग हर समय किसी न किसी प्रकार की प्राकृतिक, मानव–जनित या अन्य प्रकार की आपदाएं आती रहती हैं। इनका प्रबन्धन करने की आवश्यकता होती है।

बाढ़ के प्रभाव

हताहत (घायल)– डूबने, गम्भीर चोट, या महामारियों जैसे डायरिया, हैजा, पीलिया या वाइरल संक्रमण के कारण मनुष्य और पशुओं की मृत्यु बाढ़ प्रभावित क्षेत्रों की सामान्य समस्या है। बाढ़ के समय कुएं तथा पेयजल के अन्य स्रोत भी जलमग्न हो जाते हैं, जिसके कारण शुद्ध पेयजल की बहुत कमी हो जाती है। कभी–कभी लोगों को मजबूरी में बाढ़ का संक्रमित जल ही पीना पड़ता है जिससे गम्भीर रोग पैदा हो जाते हैं।

इमारतों की क्षति (संरचनात्मक क्षति)– बाढ़ के दौरान मिट्टी के घर और कमजोर नींव पर खड़े भवन ढह जाते हैं और जान माल के लिये खतरा और क्षति पैदा हो जाती है। सड़कों, रेल पटरियों, बांधों, स्मारकों, फसलों और पशुओं की भी भारी हानि होती है। बाढ़ों के कारण बड़े–बड़े पेड़ भी उखड़ जाते हैं जिसके कारण भूस्खलन और मृदा–अपरदन हो सकता है।

माल, सामान, सामग्री की क्षति– घरेलू सामान के साथ खाद्य पदार्थ, बिजली के उपकरण, फर्नीचर, कपड़े सब बाढ़ के पानी में डूब जाते हैं। भूमि पर भंडारित सामान जैसे अनाज, मशीनी उपकरण, गाड़ियां, पशुधन, साल्ट पैन और मछली के शिकार की नौकाएं पानी में डूब कर बेकार हो जाती हैं।

उपयोगी वस्तुओं की क्षति– उपयोगी वस्तुएं अर्थात जल–आपूर्ति, वाहितमल व्यवस्था (Sewerage), संचार–व्यवस्था, बिजली व्यवस्था और परिवहन व्यवस्था, रेलमार्ग सभी बाढ़ के कारण खतरे में पड़ जाते हैं।

टिप्पणी

फसलों की क्षति– मानव और पशुधन की क्षति के साथ बाढ़ के कारण खेतों में खड़ी लहलहाती तैयार फसल की भी भारी हानि होती है। बाढ़ का पानी भंडारित अनाज के साथ काट कर रखी फसल को भी नष्ट कर देता है। बाढ़ के पानी से मिट्टी की गुणवत्ता पर भी प्रभाव पड़ता है। खेत के ऊपर की उपजाऊ मिट्टी पानी के साथ बह जाने से खेत बंजर हो जाते हैं। समुद्री तटों पर स्थित खेतों में समुद्र का खारा पानी भर जाने से वे कृषि के लिये अनुपयोगी हो जाते हैं।

बाढ़ों का नियंत्रण एवं प्रबंधन

बाढ़ों को कई प्रकार से नियंत्रित किया जा सकता है। वृक्षारोपण करके (वृक्ष लगा कर) बह कर आने वाले जल की मात्रा कम करने से बाढ़ के पानी का स्तर भी घट जायेगा। जंगल बारिश के पानी को भूमि के अंदर जाने का रास्ता देते हैं। इससे भूमिगत जल स्तर पुनः स्थापित होता है और पानी का व्यर्थ बहना कम हो जाता है। बांधों के निर्माण से पानी का भंडारण होता है और बाढ़ के जल में कमी आती है। बांध पानी को एकत्रित कर सकते हैं, इस कारण पानी नीचे नदियों तक नहीं पहुंच पाता। यदि बांध में एकत्रित पानी सीधा नदियों तक पहुंचे तो बाढ़ की स्थिति पैदा हो सकती है। बांधों से पानी को नियंत्रित रूप में छोड़ा जाता है। नदी/नहर/नालों से गाद निकालकर उन्हें गहरा करने से और तटों को चौड़ा करने से उनमें अधिक पानी भरने की धारण क्षमता बढ़ जाती है। यदि बाढ़ नियंत्रण की उचित योजना और उचित प्रबन्धन तरीकों का नियोजित ढंग से पालन करें, तो बाढ़ से होने वाली क्षति और जान–माल की हानि को काफी हद तक रोका जा सकता है और कम किया जा सकता है।

बाढ़ प्रवृत क्षेत्रों की पहचान– बाढ़ों के उचित प्रबन्धन के लिये सुचारु और युक्तिसंगत योजना बनाने के लिये बाढ़–प्रवृत क्षेत्रों को पहचान कर उन्हें चिन्हित करना आवश्यक है। इन क्षेत्रों में बाढ़ का बार–बार आना और आकार को जानना भी जरूरी है।

बाढ़ का पूर्वानुमान– प्रायः लोगों को काफी पहले खतरे की सूचना देकर सुरक्षित स्थानों पर भेज दिया जाता है। जलग्रहण क्षेत्र में वर्षा की तीव्रता का माप जल वैज्ञानिकों को इतना अनुमान लगाने के लिये पर्याप्त होता है कि नदी में पानी बढ़ने से कितना क्षेत्र जलमग्न हो जायेगा। जल वैज्ञानिक बाढ़ आने से पहले ही उसका अनुमान लगा लेते हैं। उसी सम्भावना से प्रभावित क्षेत्रों के लोगों को सामान और पशुधन के साथ सुरक्षित स्थलों पर चले जाने के लिये चेतावनी दी जाती है। भारत में वर्षा मापक स्टेशनों का जाल (नेटवर्क) काफी बड़ा है, बाढ़ की चेतावनी केन्द्रीय जल कमीशन (Central Water Commission- CWC), सिंचाई और बाढ़ नियंत्रण डिवीजन (Irrigation and Flood Control Division) और जल संसाधन विभाग (Water Resource Department) द्वारा जारी की जाती है।

भूमि उपयोग की योजना– विकास की सभी गतिविधियों के लिये भूमि उपयोग की योजना का बहुत महत्व है। बाढ़ संभावित क्षेत्रों में विकास के किसी मुख्य कार्य की अनुमति नहीं देनी चाहिये। यदि निर्माण कार्य बिल्कुल ही अनिवार्य हो तो ऐसा होना चाहिये कि बाढ़ की शक्ति वह इमारत झेल सके। इमारतों को किसी ऊंचे स्थान पर ही बनाना चाहिये।

वृक्षारोपण– वृक्षारोपण को प्रोत्साहन मिलना चाहिये। जलग्रहण वाले स्थानों पर वृक्षोन्मूलन एकदम नहीं होना चाहिये। पेड़ कटने से पानी बहुत अधिक तीव्रता से बहता है और पानी के साथ मिट्टी बहने से मृदा–अपरदन बहुत होता है। मृदा–अपरदन नदियों में गाद जमने का मुख्य कारण है और नदियों में गाद जमने से बाढ़ों की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है। ऐसे निर्माण कार्य की, जिसके कारण जल निकास बाधित हो, कभी अनुमति नहीं मिलनी चाहिए। अचानक आये पानी के निकास की नालियों के ऊपर अतिक्रमण नहीं होना चाहिये। इन सबसे बाढ़ का खतरा घट जाता है।

कुछ पूर्वोपाय (सावधानियां), जिनसे बाढ़ का खतरा कम होता है, इस प्रकार हैं–

- घरों को बाढ़ संभावित क्षेत्र से दूर बनाएं।
- मौसम की सूचना, बाढ़ आने के पूर्वानुमान की सूचनाओं के प्रति जागरूक और सचेत रहिये।
- स्थान खाली करने के निर्देश और चेतावनी के बाद तुरन्त ही उपलब्ध शरणस्थलों में चले जायें।
- जब आप शरणस्थल में जा रहे हों तो अपने कीमती सामान को किसी ऊंचे स्थान पर रख दें जिससे वह बहे या डूबे नहीं।
- आपातकाल के लिये कुछ अतिरिक्त भोजन जैसे दाल, चावल, शक्कर आदि घर में रखिये।
- किसी खुले या ढीले बिजली के तार को न छुएं।
- अफवाह फैलाने और उनको सुनने से बचें।
- वृद्ध और बच्चों का विशेष ध्यान रखें और उनके खाने का प्रबन्ध रखें।
- बाढ़ के समाप्त होने के बाद स्वयं की और परिवार की चिकित्सकीय जांच अवश्य करायें, चोट और किसी भी प्रकार की बीमारी में डॉक्टरी सलाह लें।
- घर और आस–पास जमा हुए बाढ़ के कचरे के ढेरों को साफ करें।
- किसी भी नुकसान या क्षति की सूचना राजस्व विभाग को अवष्य दें।

- **भूकम्प**

भूकम्प प्राकृतिक आपदा के सर्वाधिक विनाशकारी रूपों में से एक है, जिसके कारण व्यापक तबाही हो सकती है। भूकम्प का साधारण अर्थ है 'भूमि का कम्पन' अर्थात भूमि का हिलना। भूकम्प पृथ्वी की आंतरिक क्रियाओं के परिणाम स्वरूप आते हैं। पृथ्वी के आंतरिक भाग में होने वाली क्रियाओं का प्रभाव पर्पटी पर भी पड़ता है और उसमें अनेक क्रियाएं होने लगती हैं। जब पर्पटी की हलचल इतनी शक्तिशाली हो जाती है कि वह चट्टानों को तोड़ देती है और उन्हें किसी भ्रंश के साथ गति करने के लिये मजबूर कर देती है, तब धरती के सतह पर कम्पन या झटके, उत्पन्न हो जाते हैं। कम्पन ही भूकम्प होते हैं, भूकम्प का पृथ्वी पर विनाशकारी प्रभाव भूस्खलन धरातल का धसाव मानव निर्मित पुलों, भवनों जैसी संरचनाओं की क्षति या नष्ट होने के रूप में दृष्टिगोचर होता है। वैसे तो भूकम्प पृथ्वी पर कहीं भी व कभी भी आ सकते हैं, लेकिन इनकी उत्पत्ति के लिये कुछ क्षेत्र, बहुत ही संवेदनशील होते हैं। संवेदनशील क्षेत्र से तात्पर्य पृथ्वी के

टिप्पणी

उन दुर्बल भागों से है, जहां बलन और भ्रंश की घटनाएं अधिक होती हैं। इसके साथ ही महाद्वीप और महासागरीय सम्मिलन के क्षेत्र ज्वालामुखी भी भूकम्प उत्पन्न करने वाले प्रमुख स्थान हैं। भूकम्प वर्ष में किसी भी समय बिना किसी चेतावनी के अचानक आ सकते हैं और इसके कारण जान और माल की भारी क्षति होती है। 1993 में लातूर में और 2002 में भुज में आए भूकम्पों की त्रासदी को हम अच्छी तरह जानते हैं।

भूकम्प की तीव्रता का अनुमान उसमें से मुक्त हुई ऊर्जा की मात्रा से सम्बन्धित है। जब धरती के भीतर छिपी ताकत चट्टानों के बीच से बाहर निकलती है, इसको एक यंत्र के द्वारा नापा जाता है, जिसे 'भूकम्पलेखी' (Seismograph) कहा जाता है। भूकम्प की तीव्रता रिक्टर स्केल (आविष्कारक सी.एफ. रिक्टर के नाम पर) पर मापी जाती है।

भूकम्प के प्रभाव

संरचनात्मक क्षति (इमारती क्षति)– भूकम्प द्वारा भवनों, सड़कों, बांधों और स्मारकों की बहुत क्षति होती है। ऊंची–ऊंची इमारतें या ऐसी इमारतें जो कमजोर नींव पर खड़ी हैं, विशेष रूप से भूकम्प से क्षतिग्रस्त होती हैं। घरेलू उपकरण विशेषरूप से बिजली के उपकरण और फर्नीचर की भी क्षति होती है। मानव और पशुधन जीवन की हानि होती है या इमारतों के गिरने से गम्भीर चोट लगती है। इसके बाद जैसे हैजा, डायरिया, और संक्रमण से फैलने वाली महामारियां मानव जीवन को प्रभावित करती हैं। जल आपूर्ति, वाहित मल, संचार लाइनें, पावर लाइनें, परिवहन नेटवर्क और रेलमार्ग आदि आवश्यक सुविधाएं अस्त–व्यस्त हो जाती हैं।

भूकम्प का प्रबन्धन

भूकम्प के दुष्परिणामों से बचने के लिये निम्न तरीके अपनाने से इसके प्रभावों को कुछ कम किया जा सकता है :

भवनों की डिजाइन (रूप–आकार)– इमारतें इस प्रकार की डिजाइन करनी चाहिये, कि वे भूकम्प के झटकों को झेल सकें, खास तौर से भूकम्प–संभावित क्षेत्रों में तो विशेष ध्यान रखना चाहिये। मिट्टी की भौतिक विशेषताओं का विश्लेषण किया जाना चाहिये, विश्लेषण करते समय भूकम्प को सहने की उसकी शक्ति का परीक्षण आवश्यक है। ब्यूरो ऑफ इन्डियन स्टैन्डर्ड (Bureau of Indian Standard) ने भवन निर्माण के लिये कुछ रूप–रेखा और निर्देश तैयार किये हैं, जो भूकम्प को सहने के लिये अपनाने अत्यंत आवश्यक हैं। प्रायः सम्बन्धित नगर निगम अधिकारी भवनों या इमारतों की डिजाइन को नियमों और सुरक्षा नियमों को पूरा करने पर ही स्वीकृति देते हैं। बिल्डर्स, आर्किटैक्ट, ठेकेदार, डिजाइनर, घर के मालिक और सरकारी अफसरों को इस सम्बन्ध में प्रशिक्षित करना आवश्यक है।

भूकम्प के घटित होने पर बरती जाने लायक कुछ सावधानियां निम्नलिखित हैं–

- खुले स्थान में निकल जाएं।
- शान्ति बना कर रखें, घबरा कर इधर उधर न भागें, लिफ्ट का प्रयोग कभी भी न करें, खिड़कियों से दूर रहें, फर्नीचर और शीशों से भी दूर रहें।
- मजबूत बीम (Beam) के नीचे खड़े रहें, क्योंकि वह गिरेगी नहीं या खाने की मेज या पलंग के नीचे घुस जायें।

टिप्पणी

– यदि आप किसी इमारत के नीचे खड़े हैं या अपने स्थान से हट नहीं सकते, तो अपने सिर और शरीर को अपने हाथों से, तकियों या कम्बल से ढक लें, जिससे गिरने वाली किसी वस्तु से चोट न लग जाये।

– यदि बहुमंजिला इमारत में हैं, तो उसी मंजिल पर रहिए, लिफ्ट या सीढ़ियों की ओर न दौड़ें न लिफ्ट से नीचे उतरें।

– यदि रास्ते में हैं और यात्रा कर रहे हों, तो अपनी गाड़ी को इमारतों, दीवारों, पुल, पेड़, बिजली के खम्बों और तारों से दूर ही खड़ी करें।

– जो कुछ क्षति हुई हो, उसको देखें और बाधा को साफ करें।

– चोट आदि को देखें, प्राथमिक उपचार दें और लें, दूसरों की मदद करें।

– यदि आपका घर भूकम्प के कारण बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गया है, तो तुरन्त घर से बाहर आ जायें। साथ में आपातकालीन आवश्यक चीजें जैसे खाना, पीना, प्राथमिक उपचार का बॉक्स, दवाइयां, फ्लैश लाइट या टॉर्च, मोमबत्ती, माचिस, कपड़े आदि यदि सम्भव हो तो साथ ले लें।

– इमारतों विशेष कर पुरानी और ऊंची इमारतों, बिजली के खम्भों, तारों और दीवारों से दूर ही रहें।

- **चक्रवात**

चक्रवात एक प्रकार से हिंसक तूफान होते हैं। ये एक प्रकार की तेज और बहुत उच्च वेग वाली हवाएं हैं, जो निम्न वायुमंडलीय दबाव के शान्त केन्द्र के चारों ओर तीव्रता से घूमती हैं। यह शान्त केन्द्र प्रायः आगे की ओर बढ़ता है। कभी–कभी इनका वेग 50 कि.मी./घंटा होता है। चक्रवात अचानक ही घटित होते हैं, जबकि इनको बनने में लम्बा समय लग जाता है। चक्रवात के बाद प्रायः तेज वर्षा होती है, जिसके कारण बाढ़ भी आ जाती है। उपग्रहों के द्वारा इनके द्वारा प्रभावित होने वाले संभावित क्षेत्रों का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है, और वहां के निवासियों को चेतावनी दी जा सकती है। चेतावनी और स्थान परिवर्तन प्रस्तावित मार्ग के अनुसार ही होना चाहिये।

हम जानते हैं कि चक्रवात में वायु बाहर की ओर से केन्द्र की ओर घूमती हुई ऊपर उठती है। इसके केन्द्र में न्यून वायुदाब तथा चारों ओर उच्च वायुदाब रहता है। वायु की क्षैतिज एवं लम्बवत दोनों ही गति तेज रहती है, जिसमें आंधी, तूफान के साथ–साथ ओलावृष्टि तथा भारी वर्षा होती है। थोड़ी ही देर में मौसम परिवर्तित हो जाता है। इस सन्दर्भ में उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों हरिकेन तथा टाईफून का उल्लेख करना महत्वपूर्ण है। चीन में इन्हें टाईफून तथा दक्षिणी संयुक्त राज्य अमेरिका एवं मैक्सिको में इन्हें हरिकेन कहा जाता है। इसकी गति 90–125 कि.मी. प्रति घंटा तक देखी गयी है। वायु की तीव्र गति के कारण समुद्री जल के खम्भे बन कर तटवर्ती क्षेत्रों में घुस कर विनाष का भयावह ताण्डव करते हैं।

चक्रवात के प्रभाव

हल्के भार वाले मिट्टी, लकड़ी के निर्माण, पुरानी इमारतें जिनका ढांचा और दीवारें कमजोर हो चुकी हैं, और जिनकी नींव की मजबूत पकड़ नहीं है, चक्रवात के समय भारी खतरे में पड़ जाती हैं। समुद्री तट (mudslide) पर बसे निचले क्षेत्र इनसे सीधे ही

टिप्पणी

खतरे में पड़ जाते हैं। समीपवर्ती बसे क्षेत्र बाढ़, मडस्लाइड या भूस्खलन आदि होने से जल्दी प्रभावित होते हैं। टेलीफोन और बिजली के तार और खम्भे, दीवारें, पेड़, मछली पकड़ने की नावें, साइनबोर्ड आदि के लिये चक्रवात आने से खतरा बढ़ जाता है। हल्का इमारती ढांचा जैसे फूस की झोपड़ी, टिन की छत वाले घर चक्रवात की क्षति को बहुत अधिक झेलते हैं। भारी वर्षा के कारण लोग और उनकी सम्पत्ति बाढ़ के पानी में बह सकती है या चक्रवात की तूफानी हवा में उड़ सकती है। तटीय क्षेत्र में आये चक्रवात के कारण समुद्र की लहरें भूमि पर पहुंच जाती हैं और बाढ़ आ जाती है। इससे प्रभावित क्षेत्रों में मिट्टी और पानी में खारापन आ जाता है। इसके कारण पानी की आपूर्ति और कृषि फसलों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

चक्रवात का प्रबन्धन

चक्रवात–संभावित क्षेत्र को पहचानना बहुत आवश्यक है। चक्रवात संभावित क्षेत्र में किसी प्रकार के विकास कार्य की अनुमति नहीं देनी चाहिए। ऐसी इमारतें बनानी चाहिये जो हवा और बाढ़ों की तीव्रता को झेल सकें। किसी ढांचे की पकड़ रखने वाले तत्व मजबूती से जमीन में गड़े होने चाहिये, जिससे वे अपने ऊपर टिके ढांचे को मजबूती से सम्भाल सकें। तट के किनारे लगे वन चक्रवात के प्रभाव को काफी हद तक कम करने में समर्थ होते हैं। अतः आवश्यक है कि समुद्री तट के किनारे–किनारे ग्रीन बैल्ट (तटों के साथ–साथ पेड़ उगाना) को विकसित किया जाय।

• सुनामी

सुनामी को प्रायः सैस्मिक (भूकम्पीय) समुद्री लहरें या ज्वार भाटा (Tidal) लहरें या आकस्मिक समुद्री लहरें आदि नामों से भी जाना जाता है। ये प्रायः अन्तःसमुद्री भूकम्प के कारण आती है, जो समुद्र सतह के नीचे 50 कि.मी. (30 मील) से कम दूरी पर उठता है, जिसकी तीव्रता रिक्टर पैमाने पर 6.5 से अधिक होती है। पानी के नीचे या तट पर भूस्खलन या ज्वालामुखी फटने से भी सुनामी आ सकती है। ऐसी लहरों के लिये प्रायः ज्वार–भाटा (टाइडल) लहरें शब्दों का प्रयोग किया जाता है। परन्तु यह भ्रामक और अनुचित है, क्योंकि इन सुनामी लहरों का ज्वार–भाटे (टाइड) से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सुनामी की लहरें सीधी, क्रमिक, अनिश्चित रूप से घटती–बढ़ती लहरें समुद्र की सतह पर बहुत दूरी पर पैदा होती हैं, और ये चौड़े होते हुए (फैलते हुए) घेरे के रूप में होती हैं। कुछ ऐसे ही जैसे किसी उथले तालाब में कंकड़ फेंकने से पैदा होती है। इसमें सावधानीपूर्वक किया गया निरीक्षण बहुत व्यावहारिक महत्व रखता है। भूकम्प वैज्ञानिक संभावित खतरे की चेतावनी तटीय क्षेत्रों को तुरन्त ही दे सकते हैं। जैसे ही कोई भूकम्प आता है, तभी चेतावनी देने से सुनामी आने के कई घंटों पहले लोग सतर्क हो जाते हैं।

लहरें जैसे–जैसे महाद्वीपीय तटों की ओर बढ़ती हैं, उनका तल उथला होता जाता है, जिस पर लहरों के घर्षण से लहरों की तीव्रता और वेग कम होता जाता है। वेग कम होने के कारण लहरों की ऊंचाई 50 मीटर या उससे भी अधिक हो जाती है। तीन से पांच मुख्य अनिश्चित दोलन लहरों के कारण सबसे अधिक नुकसान होता है। फिर भी सुनामी का प्रभाव अलग–अलग स्थानों पर अलग–अलग प्रकार का ही होता है।

टिप्पणी

सुनामी के प्रभाव और उसका प्रबंधन

सुनामी के दुष्प्रभाव भी चक्रवात या बाढ़ों की भांति ही हैं। समुद्री पानी की बड़ी लहरें तीव्र वेग के साथ अंदर घुस आती हैं और आस–पास का भूक्षेत्र जलमग्न होने से बस्तियां, फसलें और दूसरी अन्य सम्पत्ति बुरी तरह से नष्ट हो जाती हैं। दिसम्बर 2004 में आई सुनामी ने अनेक देशों में, विशेष कर इंडोनेशिया, मलेशिया, श्रीलंका, भारत में भीषण विनाश और तांडव मचाया था। आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु के तटीय जिलों का बहुत बड़ा क्षेत्र इसकी चपेट में आ गया था। 8 एशियाई देशों में, भारत सहित, दो लाख से अधिक लोगों की जानें चली गयी थीं।

सुनामी के प्रतिकूल प्रभावों को कम करने के लिये चक्रवात या बाढ़ के लिये बरती जाने वाली सावधानियां ही अपनानी चाहिए।

- **भूस्खलन**

भूस्खलन भी एक प्राकृतिक घटना है। भूस्खलन भूमि उपयोग को सीधा प्रभावित करता है। ये प्रायः पर्वतीय भागों जैसे भारत के हिमालय पर्वत के ढालू भागों में आते हैं। चट्टानों का नीचे खिसकना भूस्खलन कहलाता है। यह क्रिया प्राकृतिक एवं मानवीय कारणों से हो सकती है। इसमें सड़क अवरुद्ध हो जाती है, बांध टूट जाते हैं तथा गांव और शहर नष्ट हो जाते हैं। भूस्खलन के लिये प्राकृतिक कारणों में भूकम्प सबसे प्रभावशाली कारक है। इसके साथ ही वनों के ह्रास, जल के रिसाव, अपक्षय, भू–क्षरण तथा अधिक वर्षा के साथ ही मानवीय क्रियाओं जैसे– सड़क निर्माण, उत्खनन, सुरंग, बांध, जलाशय आदि से भूस्खलन को बढ़ावा मिलता है। सिक्किम, भूटान तथा नेपाल जैसे पहाड़ी क्षेत्रों में भूस्खलन के कारण प्रायः मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं।

भूस्खलन का प्रबन्धन

भूस्खलन के प्रतिकूल प्रभावों को कम करने के लिये भूकम्प, चक्रवात या बाढ़ के लिये बरती जाने वाली सावधानियां ही अपनानी चाहिए।

5.2.2 प्राकृतिक संसाधनों का क्षरण एवं पर्यावरण प्रबंधन

पर्यावरण क्षरण का अर्थ है, पर्यावरण के भौतिक संघटकों में जैविक प्रक्रमों खासकर मनुष्य की क्रियाओं द्वारा इस सीमा तक ह्रास एवं अवक्रमण हो जाना कि उसे पर्यावरण की स्वतः नियामक क्रियाविधि (होम्योस्टैटिक क्रिया विधि) द्वारा भी सही नहीं किया जा सकता।

दूसरे शब्दों में पर्यावरण क्षरण का अर्थ होता है, मनुष्य के क्रियाकलापों द्वारा पर्यावरण के संघटकों की आधारभूत संरचना मे ंप्रतिकूल परिवर्तनों के संघटकों की आधारभूत संरचना में प्रतिकूल परिवर्तनों के कारण पर्यावरण की गुणवत्ता में इस सीमा तक ह्रास होना कि इन प्रतिकूल परिवर्तनों का जैविक समुदाय तथा मानव समाज पर गहरा प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगता है। पर्यावरण क्षरण के कारण परिस्थितिक तंत्र एवं पारिस्थितिकी की विविधता में कमी होने से पारिस्थितिक एवं पर्यावरण असंतुलन उत्पन्न हो जाता है।

मानव के आर्थिक कार्यों के पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों को दो वर्गों में रखा जाता है–(1) प्रत्यक्ष तथा सोद्देश्य प्रभाव तथा (2) परोक्ष या अनिच्छित प्रभाव।

टिप्पणी

सामान्य तौर पर पर्यावरण क्षरण तथा उससे जनित पर्यावरण समस्याओं एवं पर्यावरण संकट के निम्न कारण हैं– (1) मानव जनसंख्या में गुणोत्तर वृद्धि, (2) तेज गति से वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकीय विकास, (3) तीव्र गति से विकास के लिए महत्वाकांक्षी विकासीय योजनाओं एवं कार्यक्रमों का नियमन एवं कार्यान्वयन (4) औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं कृषि–विकास में तेजी से वृद्धि (5) समाज के दार्शनिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण (6) मनुष्य का प्राकृतिक पर्यावरण एवं प्रकृति के प्रति शत्रुतापूर्ण निर्दयी व्यवहार, (7) जनसाधारण में पर्यावरण बोध (environmental perception) तथा पर्यावरण समस्याओं के प्रति जागरूकता एवं जानकारी की कमी, (8) निर्धनता (9) कुछ देशों एवं कुछ वर्गों में आवश्यकता से अधिक समृद्धि, (10) प्राकृतिक संसाधनों का अविवेकपूर्ण अवैज्ञानिक ढंग से विदोहन आदि। वन, भूमि तथा कृषि पर पर्यावरण क्षरण के कारण होने वाले दुष्प्रभाव की हम आगे चर्चा करेंगे।

वन–विनाश तथा पर्यावरण क्षरण

वन किसी भी राष्ट्र के अति मूल्यवान संपत्ति है क्योंकि वनों उद्योगों के लिए कच्चे पदार्थ मिलते हैं। भवन–निर्माण के लिए उपयोगी लकड़ियां प्राप्त होती है, विभिन्न प्रकार के जंतुओं तथा सूक्ष्म जीवों के लिए अनुकूल आवास सुलभ होते हैं, जैविक एवं पोषक तत्वों से भरपूर मिट्टियों का निर्माण होता है, मिट्टियों का अपरदन से बचाव होता है, वर्षों के जल के अधिकतम अंतः संरचण (infiltration–रिसाव) के कारण भूमिगत जल में वृद्धि होती है, धरातलीय वाहीजल (surface runoff) में निहायत कमी होती है, परिणामस्वरूप बाढ़ की आवृत्ति (frequency) तथा परिमाण (magnitude) में पर्याप्त कमी होती है, वर्षा में वृद्धि होती है। वन कार्बन डाइ आक्साइड का अधिकाधिक मात्रा में अवशोषण करते हैं, लाखों लोगों को जलावन लकड़ी उपलब्ध होती है, मनुष्य तथा जंतुओं को शरण एवं आहार मिलते हैं आदि। वास्तव में वन किसी भी राष्ट्र की जीवन रेखा (life line) हैं क्योंकि राष्ट्र विशेष के समाज की समृद्धि तथा कल्याण उस देश की स्वस्थ एवं समृद्ध वन सम्पदा पर प्रत्यक्ष रूप से आधारित होता है। वन प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्र या तंत्र के जैविक संघटकों में से एक महत्वपूर्ण संघटक है तथा पर्यावरण की स्थिरता तथा पारिस्थितिक संतुलन उस क्षेत्र की वन सम्पदा की दशा पर आधारित होता है।

यह घोर चिन्ता का विषय है कि वर्तमान आर्थिक मानव ने प्राकृतिक वनस्पतियों के पर्यावरण एवं पारिस्थितिकीय महत्व को भुला दिया है तथा उनका इतनी तेजी से सफाया किया है कि स्थानीय, प्रादेशिक एवं विश्व स्तरों पर अनेक पर्यावरण एवं पारिस्थितिक समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं यथा– मृदा–अपरदन में वृद्धि, बाढ़ों की आवृत्ति तथा विस्तार में वृद्धि, वर्षा में कमी के कारण सूखे की घटनाओं में वृद्धि, जंतुओं कई जातियों का विलोपन आदि। पारिस्थितिक दृष्टिकोण से प्रत्येक देश के समस्त भौगोलिक क्षेत्रफल के कम से कम एक तिहाई भाग पर घना अनावरण होना चाहिए परंतु इस पारिस्थितिक नियम का प्रत्येक देश में उल्लंघन किया गया है।

वन–विनाश के कारण

स्थानीय, प्रादेशिक एवं विश्वस्तरों पर वन–विनाश के निम्न कारण बताए जा सकते हैं–वनभूमि का कृषिभूमि में परिवर्तन, झूम कृषि वनों का चारागाहों में रूपांतरण, वनों की अत्यधिक चराई, वनों में आग लगना, लकड़ियों की कटाई, बहु–उद्देशीय योजनाएं जैविक कारक आदि।

टिप्पणी

1. **वनभूमि का कृषि भूमि में परिवर्तन**– मुख्य रूप से विकासशील देशों में मानव जनसंख्या में तेजी से हो रही वृद्धि के कारण यह आवश्यक हो गया है कि वनों के विस्तृत क्षेत्रों को साफ करके उस पर कृषि की जाए ताकि बढ़ती जनसंख्या का पेट भर सके। इस प्रवृत्ति के कारण सवाना घास प्रदेश का व्यापक स्तर पर विनाश हुआ है क्योंकि सवाना वनस्पतियों को साफ करके विस्तृत क्षेत्रों को कृषि–क्षेत्रों में बदला गया है। इतना ही नहीं शीतोष्ण कटिबंधी घास के क्षेत्रों (यथा–सोवियत रूस के स्टेपी, उत्तरी अमेरिका प्रेयरी, दक्षिणी अमेरिका के पम्पाज, दक्षिण अफ्रीका के वेल्ड, तथा न्यूजीलैण्ड के डाउन्स) की घासों एवं वृक्षों को साफ करके उन्हें वृहद् कृषि प्रदेशों में बदलने का कार्य बहुत पहले ही पूर्ण हो चुका है। रूमसागरीय जलवायु वाले क्षेत्रों के वनों को बड़े पैमाने पर साफ करके उन्हें उद्यान कृषि (horticulture) भूमि में बदला गया है। इसी तरह दक्षिणी एवं दक्षिणी पूर्वी एशिया के मानसूनी क्षेत्रों में तेजी बढ़ती मानव जनसंख्या की भूख मिटाने के लिए कृषि भूमि विस्तार करने के लिए वन क्षेत्रों का बड़े पैमाने पर विनाश किया गया है।
2. **स्थानांतरी या झूमिंग कृषि**– झूमिंग कृषि दक्षिणी एवं दक्षिणी–पूर्वी एशिया की पहाड़ी क्षेत्रों में वनों के क्षय एवं विनाश का एक प्रमुख कारण है। कृषि की इस प्रथा के अंतर्गत पहाड़ी ढालों पर वनों को जलाकर भूमि को साफ किया जाता है तथा उस भूमि पर कुछ वर्षों तक खेती की जाती है। जब उस भूमि को उत्पादकता घट जाती है तो उसे छोड़ दिया जाता है तथा अन्यत्र नए भाग के वनों को साफ किया जाता है
3. **वनों का चारागाहों में परिवर्तन**– विश्व के रूम सागरीय जलवायु वाले क्षेत्रों एवं शीतोष्ण कटिबंधी क्षेत्रों खासकर उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका तथा अफ्रीका में डेयरी फार्मिंग में विस्तार एवं विकास के लिए वनों को व्यापक स्तर पर पशुओं के लिए चारागाहों में बदला गया है।
4. **अतिचारण**– उष्ण तथा उपोष्ण कटिबंधी एवं शुष्क तथा अर्द्ध शुष्क प्रदेशों के सामान्य घनत्व वाले वनों में पशुओं को चराने से वनों का क्षय हुआ है तथा हो भी रहा है। ज्ञातव्य है कि इन क्षेत्रों के विकासशील एवं अविकसित देशों में दुधारू पशुओं की संख्या तो बहुत अधिक है परंतु उनकी उत्पादकता निहायत कम है। ये अनार्थिक पशु विरल तथा खुले वनों में भूमि पर अगने वाली झाड़ियों, घासों तथा शाकीय पौधों को चट कर जाते हैं, साथ ही साथ ये अपनी खुरों से भूमि को इतना रौंद देते हैं कि उगते पौधे नष्ट हो जाते हैं तथा नए बीजों का अंकुरण तथा छोटे पौधों का प्रस्फुटन नहीं हो पाता है। अधिकांश देशों में भेड़ों के बड़े–बड़े झुण्डों ने तो घासों का पूर्णतया सफाया कर डाला है।
5. **वनाग्नि**– प्राकृतिक कारणों से या मानवजनित कारणों से वनों में आग लगने से वनों का तीव्र गति से तथा लघुतम समय में विनाश होता है। वनाग्नि के प्राकृतिक स्रोतों में वायुमण्डलीय बिजली सर्वाधिक प्रमुख है। मनुष्य भी जाने एवं अनजाने रूप में वनों में आग लगाता है। मनुष्य कई उद्देश्यों से वनों को जलाता है– कृषि भूमि में विस्तार के लिए, झूमिंग कृषि के तहत कृषि कार्य के लिए, घास की अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए आदि। वनों तथा घासों की अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए आदि। वनों तथा घासों को जलाने के कारण क्षेत्र विशेष के

टिप्पणी

पर्यावरण में कई तरह के परिवर्तन होते हैं। वनों में पशुओं को चराने वाले चरवाहे जलती बीड़ी के टुकड़े फेंक देते हैं जिस कारण वनों में भयावह आग लग जाती है। वनों में आग लगने के कारण वनस्पतियों के विनाश के अलावा भूमि कड़ी हो जाती है, परिणामस्वरूप वर्षों के जल का जमीन में अंतः संचरण(infiltration) बहुत कम होता है तथा धरातलीय वाही जल (surface runoff) में अधिक वृद्धि हो जाती है, जिस कारण मृदा–अपरदन में तेजी आ जाती है। वनों में आए दिन आग लगने से जमीन पर पत्तियों के ढेर नष्ट हो जाते हैं, जिस कारण ह्यूमस तथा पोषक तत्वों में भारी कमी हो जाती है। कभी–कभी तो ये पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। वनों में आग के कारण मिट्टियों, पौधों की जड़ों तथा पत्तियों के ढेरों में रहने वाले सूक्ष्म जीव मर जाते हैं। स्पष्ट है कि वनों में आग लगने या लगाने से न केवल प्राकृतिक वनस्पतियों का विनाश होता है तथा पौधों का पुनर्जनन विरुद्ध हो जाता है वरन् जीवीय समुदाय को भी भारी क्षति होती है जिस कारण पारिस्थितिक असंतुलन उत्पन्न हो जाता है।

6. घरेलू एवं व्यापारिक उद्देश्यों के लिए लकड़ी की प्राप्ति के लिए पेड़ों की कटाई वनों के विनाश का वास्तविक कारण है। तेजी से बढ़ती जनसंख्या, औद्योगिक एवं नगरीकरण में तीव्र गति से वृद्धि के कारण लकड़ियों की मांग में दिनोदिन वृद्धि होती जा रही है। परिणामस्वरूप वृक्षों की कटाई में भी निरन्तर वृद्धि हो रही है। भूमध्य रेखीय सदाबहार वनों का प्रति वर्ष 20 मिलियन हेक्टेयर की दर से सफाया हो रहा है। इस शताब्दी के आरम्भ से पर्यावरण समस्याएं पैदा हो गई हैं। विकासशील एवं अविकसित वनों से पशुओं के लिए चारा एवं जलाने की लकड़ी के अधिक से अधिक संग्रह करने से बचा–खुचा वन क्षेत्र भी नष्ट होता जा रहा है।

   कई देशों में प्राइवेट ठेकेदारों ने सरकारी अधिकारियों की सांठ–गांठ से वनों का अपने निहित आर्थिक फायदे के लिए निर्ममता के साथ विनाश किया है और यह कार्य अब भी जारी है। भारत में वन विनाश का यह कारक सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। ज्ञातव्य है कि भारत में 1894 की वन नीति (Forest Policy), 1952 से लागू की गई राष्ट्रीय वन नीति (National Forest Policy) तथा भारत सरकार के निर्देशों (Guide lines) के अनुसार वन भूमि का अन्य भूमि उपयोगों में स्थानांतरण नहीं किया जाना चाहिए परंतु मात्र 1970 से 1980 के बीच 91,70,0,000 हेक्टेयर वन भूमि का विनाश हुआ है।

7. बहुउद्देश्यी नदी–घाटी परियोजनाओं के कार्यान्वित होते समय विस्तृत वन–क्षेत्र का क्षय होता है क्योंकि बांधों के पीछे निर्मित वृहद जलभण्डारों में जल के संग्रह होने पर वनों से आच्छादित विस्तृत भूभाग जलमग्न हो जाता है। जिस कारण न केवल प्राकृतिक वन सम्पदा समूल नष्ट होती है वरन् उस क्षेत्र का पारिस्थितिकीय संतुलन ही बिगड़ जाता है। इसी आधार पर उत्तर प्रदेश में गंगा नदी पर चल रही टेहरी बांध परियोजना, मध्य प्रदेश में (नर्मदा सागर परियोजना) तथा गुजरात (सरदार सरोवर परियोजना) में प्रस्तावित नर्मदा घाटी परियोजना का जनता द्वारा घोर विरोध किया जा रहा है। इस सन्दर्भ में हिमालय क्षेत्र में वनों की रक्षा के लिए पर्यावरणवादी सुन्दर लाल बहुगुणा द्वारा चलाया गया चिपको आन्दोलन अब विश्व स्तर पर प्रसिद्धि तथा समर्थन पा चुका है।

टिप्पणी

वन–विनाश का पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव

वन–विनाश के कारण निम्न समस्याएं उत्पन्न होती हैं–तीव्र मृदा–अपरदन, नदियों के अवसाद भार में वृद्धि, नदियों की तलियों तथा जलभण्डारों का भराव, बाढ़ तथा सूखे की आवृत्ति (Frequency) तथा तीव्रता में वृद्धि, वर्षों के वितरण प्रारूप में परिवर्तन, ग्रीन हाउस प्रभाव की तीव्रता में वृद्धि, वायुमण्डलीय तूफानों के विनाशकारी बल में वृद्धि आदि।

ज्ञातव्य है कि वन भूतल के लिए प्राकृतिक छतरी का कार्य करते हैं क्योंकि ये मानव–जनित कार्बन डाई आक्साइड (कारखानों से निस्सृत) को सोखकर वायुमण्डल के ग्रीन हाउस प्रभाव को कम करते हैं, भूतल एवं वायुमण्डल के विकिरण तथा ऊष्मा संतुल को कायम रखते हैं तथा भूतल को वर्षों की जलबूंदों के प्रहार से बचा कर भूमि–अपरदन को कम करते हैं। वनों के अभाव से मानव–जनित कार्बन डाइआक्साइड की अतिरिक्त मात्रा का अवशोषण नहीं हो पाएगा, जिस कारण वायुमण्डल में कार्बन डाइ आक्साइड की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होने कारण ग्रीन हाउस प्रभाव में वृद्धि होने से भूतल एवं निचले वायुमण्डल के तापमान में वृद्धि होगी जिससे पृथ्वी एवं वायुमण्डल का ऊष्मा संतुलन अव्यवस्थित हो जाएगा। वनों के ऊपरी वितान (canopy) वर्षा की जलबूंदों को रोक कर उनकी गतिज ऊर्जा को कम करते हैं। वर्षा का जल वृक्षों की पत्तियों, शाखाओं तथा तनों से होकर हवाई सरिता (aerial stremlets) के रूप में धरातल पर पहुंचता है जिस कारण वर्षा के जल का भूमि में अधिक रिसाव होता है और मिट्टियों का अपरदन न्यूनतम हो जाता है। वन–विनाश के कारण वर्षा की जलबूंदें पूर्ण गतिज ऊर्जा (kinetic energy) के साथ धरातलीय भाग पर प्रहार करती हैं जिस कारण मिट्टियों का अपरदन बढ़ जाता है। मृदा–अपरदन में वृद्धि के कारण नदियों के अवसाद–भार (Sediment load) में वृद्धि हो जाती है जिस कारण नदियों की तली का तेजी से भराव होने लगता है। इस प्रक्रिया की क्षमता घट जाने से बाढ़ का प्रकोप बढ़ जाता है। यह आम धारणा है कि वनावरण में कमी होने से वर्षा में भी कमी होती है परंतु इस अवधारणा के पक्ष में अभी तक ठोस प्रमाण नहीं मिल सके हैं। वन–विनाश के कारण जलवर्षा के भूमि में कम रिसाव के कारण भूमिगत जल में अल्पता होती है। मसूरी एवं देहरादून के आस–पास वन–विनाश के कारण अधिकांश जल के स्रोत (water springs) सूख गए हैं। अर्द्ध शुष्क एवं शुष्क प्रदेशों में वनस्पतियों के विनाश के कारण वायु–अपरदन एवं मरुस्थलों के विस्तार में वृद्धि हो जाती है। वन–विनाश के कारण वायु–अपरदन एवं मरुस्थलों के विस्तार में वृद्धि हो जाती है। वन–विनाश के कारण कई प्रकार के पौधों एवं जंतुओं के प्राकृतिक आवासों के नष्ट हो जाने से प्रभावित क्षेत्र में परिस्थितिकीय असंतुलन उत्पन्न हो जाता है।

वनों के विनाश को रोकने तथा वन–सम्पदा को समृद्ध बनाने के लिए निम्न उपाय कारगर हो सकते हैं–

1. वनों की सामूहिक कटाई के स्थान पर चयनात्मक कटाई होनी चाहिए। अर्थात् उन्हीं पेड़ों की कटाई होनी चाहिए जिनकी वास्तव में सही मांग हों। अतः वनों के संरक्षण के लिए यह परमावश्यक है कि वनों की धुआंधार तथा सामूहिक कटाई पर तुरन्त रोक लगाकर बचे हुए वन–क्षेत्रों की रक्षा की जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्न कदम उठाए जाने चाहिए– (i) सरकार द्वारा वनों के संरक्षण के लिए प्रभावी एवं कारगर कानून का निर्माण करना तथा (ii)

टिप्पणी

जनसाधारण में वनों के महत्व के प्रति दिलचस्पी एवं जागरूकता पैदा करना। ठेकेदारों द्वारा पेड़ों की कटाई का इन्होंने खुलकर कई रूपों में विरोध किया, यथा– (i) सर्वप्रथम विनम्रतापूर्वक ठेकेदारों को पेड़ काटने से मना करना प्रारम्भ किया, (ii) ठेकेदारों के न मानने पर इन्होंने अनशन प्रारम्भ किया तथा(iii) इससे भी काम न चलने पर ठेकेदारों की कुल्हाड़ियों को रोकने के लिए इन्होंने अपने को पेड़ों के चारों तरफ चिपकाना प्रारम्भ कर दिया। वास्तव में रेनी की महिलाएं अपने अस्तित्व के लिए लड़ रही थीं। ठेकेदारों के क्रोध तथा राजनैतिक दबाव रेनी की महिलाओं के इरादों को विचलित नहीं कर पाएं। अंततः इनका आन्दोलन रंग लाया तथा रेनी के आस–पास की वन–सम्पदा सुरक्षित हो गई। इन्होंने वन–विनाश से प्रभावित क्षेत्रों में ओक का रोपण का कार्य प्रारम्भ हो गया। सुन्दर लाल बहुगुणा का चिपको आन्दोलन पूरे भारत में फैल गया है तथा कई पर्यावरण वर्ग एवं स्वयंसेवी संस्थाएं देश के विभिन्न भागों में वन–विनाश के खिलाफ जन आन्दोलन चलाने का कार्य कर रही हैं। वन–विनाश के खिलाफ कई पर्यावरण नारे लगाए जा रहे हैं, यथा– 'पश्चिमी घाट को बचाओ', 'बीमार हिमालय की रक्षा करो', 'अस्वस्थ गंगा को बचाओ' आदि। रेनी ग्राम की महिलाओं द्वारा वनों के विनाश के विरुद्ध चलाया गया जन आन्दोलन अब अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के कई देशों में भी पहुंच गया है। अमेजन बेसिन में वनों के बड़े पैमाने पर सामूहिक सफाए के खिलाफ व्यापक आन्दोलन प्रारम्भ हो चुका है।

2. वनों से पेड़ों की कटाई विवेकपूर्ण तथा वैज्ञानिक तरीके से की जानी चाहिए। अर्थात् केवल प्रौढ़ तथा रोगग्रस्त पेड़ों की कटाई होनी चाहिए तथा अनिच्छित एवं अनार्थिक वृक्षों की कटाई नहीं होनी चाहिए। वास्तव में पारिस्थितिक दृष्टिकोण से भी प्रौढ़ वृक्षों की कटाई वांछनीय होती है क्योंकि न काटे जाने पर भी इस तरह के वृक्ष एक निश्चित समय के बाद नष्ट हो जाते हैं।
3. अधिक से अधिक बंजरभूमियों पर तथा वन–विनाश के कारण वन–विहीन क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर वृक्षारोपण किया जाना चाहिए। वन–रोपण के समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कई जातियों के वृक्षों का रोपण होना चाहिए क्योंकि पारिस्थितिक दृष्टिकोण से जैविक विविधता एकधान्य कृषि (monoculture) की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है। दूसरे, कम से कम भंगुर पर्यावरण (fragile environment) वाले क्षेत्रों में वन–रोपण के लिए पौधों का चयन व्यापारिक महत्व के स्थान पर पारिस्थितिक महत्व के आधार पर किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए हिमालय प्रदेश में पाइन की अपेक्षा ओक पर्यावरण एवं पारिस्थितिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होता है। तीसरे, वनारोपण के समय उन्हीं वृक्षों का रोपण होना चाहिए जो स्थान विशेष की पर्यावरण दशाओं के अधिक अनुकूल हों। भारत के सभी प्रदेशों में यूकैलिप्टस वृक्ष का बड़े पैमाने पर रोपण नहीं किया जाना चाहिए।
4. प्राकृतिक वन–क्षत्रों के स्थान पर फलों के बागान नहीं लगाने चाहिए। हिमालय प्रदेश के कई क्षेत्रों खासकर हिमाचल प्रदेश में वनों को काट कर सेब की खेती के कारण स्थानीय पर्यावरण को भारी नुकसान हुआ है। सेब की खेती का वन–क्षेत्रों पर दोतरफा कुप्रभाव होता है– (i) सेब की खेती के लिए वनों को काट

कर भूमि प्राप्त की जाती है तथा (ii) प्रतिवर्ष सेबों की पैकिंग के लिए अधिकाधिक लकड़ियों की आवश्यकता पड़ती है। एक अनुमान के अनुसार एक हेक्टेयर भूमि पर सेब की खेती के 7 से 10 हेक्टेयर वनभूमि का विनाश होता है।

टिप्पणी

भूमि (कृषि विकास) एवं पर्यावरण क्षरण

मनुष्य ने आधुनिक वैज्ञानिक तकनीक में विकास, प्रगत प्रौद्योगिकी, रासायनिक खादों के उत्पादन तथा उपभोग में वृद्धि, सिंचाई के साधनों एवं सुविधाओं में वृद्धि तथा विस्तार, अधिक उत्पादन वाले बीजों के विकास आदि के माध्यम से कृषि में पर्याप्त विस्तार एवं विकास (कृषि क्षेत्रों में विस्तार, कृषि–उत्पादकता में वृद्धि तथा नेट कृषि–उत्पादन में वृद्धि) किया है तथा निरन्तर बढ़ती मानव जनसंख्या के कारण बढ़ती खाद्यान्नों की मांग की पूर्ति तो कर दी है परंतु साथ ही साथ घातक पर्यावरणीय समस्याओं को भी जन्म दिया है। बढ़ती मानव जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए कृषि के विस्तार एवं विकास की रफ्तार को निश्चय ही कायम रखना है परंतु साथ ही साथ यह भी देखना होगा कि कृषि के विकास की बढ़ती रफ्तार के कारण पर्यावरण क्षरण की समस्या कहीं भयावह रूप न धारण कर ले। स्पष्ट है कि आधुनिक, आर्थिक एवं प्रौद्योगिकी मानव उस चौराहे पर खड़ा है जिसके चारों ओर खतरा ही खतरा है। यदि जनसंख्या में विस्तार जारी रहता है तो हमें कृषि में विस्तार एवं वृद्धि करनी ही होगी ताकि भूखे पेटों को भरने के लिए कृषि–उत्पादन में वृद्धि की जा सके परंतु ऐसा करते समय हमें अपने विनाश के लिए अपने ही द्वारा निर्मित समय बम से निपटने के लिए भी तैयार रहना पड़ेगा।

कृषि में तेजी से विस्तार होने से पर्यावरण में निम्न रूपों में क्षरण होता है– (i) वन–विनाश तथा संबंधित भूमि उपयोग में परिवर्तन होने से, (ii) खेतों में रासायनिक खादों, कीटनाशी एवं शाकनाशी रसायनों के प्रयोग से, (iii) सिंचाई की सुविधाओं एवं सिंचाई की मात्रा में वृद्धि होने से, (iv) जैविक समुदायों में परिवर्तन होने से आदि।

ज्ञातव्य है कि विकासशील देशों में मानव जनसंख्या में तीव्र वृद्धि के कारण खाद्यान्नों की मांग में तेजी से वृद्धि हो रही है। इस समस्या का निदान दो रूपों में हो सकता है। (i) कृषि–क्षेत्रों में विस्तार तथा विस्तृत कृषि द्वारा तथा (ii) कृषि–भूमि की उत्पादकता में वृद्धि एवं गहन कृषि द्वारा। कृषि–क्षेत्रों में भावी विस्तार वनों के सफाया द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इस तरह वन–क्षेत्रों के कृषि–क्षेत्रों में रूपांतर के कारण कई शृंखलाबद्ध पर्यावरण समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं यथा–वन–विनाश द्वारा मृदा–अपरदन में वृद्धि होती हैं–जिस कारण उर्वर मिट्टियों का क्षय होता है एवं मिट्टियों की उत्पादकता में ह्रास होता है–जिस कारण नदियों की घाटियों में अवसादों के निक्षेपण होने से नदियों का तल ऊपर उठता है– इस कारण नदियों की जल–धारण की क्षमता में कमी होती है– जिस कारण नदियों के बाढ़–मैदान के क्षेत्रों में फसलों की अपार क्षति होती है।

भारत के हिमाचल प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश के पहाड़ी जिलों में वनों को साफ करके सेब की कृषि के अपनाए जाने के कारण हिमालय के पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। ज्ञातव्य है कि हिमालच प्रदेश में स्वतन्त्रता के बाद सेब की कृषि में तेजी से विस्तार हुआ। वर्तमान समय में हिमाचल प्रदेश देश के सकल सेब उत्पादन का एक तिहाई भाग उत्पन्न करता है। यद्यपि सेब की कृषि द्वारा हिमाचल प्रदेश के किसानों की आर्थिक

टिप्पणी

स्थिति में सुधार हुआ है परंतु इस प्रकार के भूमि उपयोग द्वारा प्राकृतिक वन–क्षेत्रों का भारी नुकसान हुआ है। ज्ञातव्य है कि सेब के पौधे 6 से 7 वर्षों में फल देना प्रारम्भ करते हैं। इस दौरान किसान सेब के बागों के खाली क्षेत्रों में आलू की खेती करते हैं जिस कारण मिट्टियों का अपरदन अधिक हो जाता है। सेब की एकधान्य कृषि (moniculture) के कारण पारिस्थितिक संतुलन अव्यवस्थित हो जाता है क्योंकि अधिकांश प्राकृतिक पौधे,जंतु तथा सूक्ष्म जीवन नष्ट होते हैं क्योंकि उनके आवासों का विनाश हो जाता है। सेब की पैकिंग के लिए पर्याप्त लकड़ी की आवश्यकता होती है। एक अनुमान के अनुसार एक हेक्टेयर सेब के बाग के फलों की पैकिंग के लिए 6 से 7 हेक्टेयर वन–क्षेत्र की लकड़ियों की आवश्यकता होती है। सेब में लगने वाले स्कैब रोग के निवारण के लिए भारी मात्रा में कीटनाशी रसायनों का प्रयोग किया जाता है। इस जहरीले रसायन के कारण पहाड़ी क्षेत्रों का जल प्रदूषित हो जाता है।

किसी भी क्षेत्र में लगातार गहरी कृषि के कारण मिट्टियों की उत्पादकता घट जाती है। ज्ञातव्य है कि द. पू. संयुक्त राज्य अमेरिका के अप्लेशियन के गिरिपद क्षेत्रों में लम्बी अवधि तक (सैकड़ों वर्ष) कपास की लगातार कृषि के कारण मृदा–अपरदन मे इतनी वृद्धि हुई है कि न केवल कपास की गुणवत्ता एवं उत्पादन में भारी ह्रास हुआ है वरन् वहां की पारिस्थितिक दशाओं में भी क्षरण हुआ है।

कृषि की उत्पादकता में वृद्धि के लिए रासायनिक खादों का भारी मात्रा में उपयोग किया जाता है। फसलें समस्त रसायनिक पोषक तत्वों का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाती हैं। इस तरह अप्रयुक्त रसायनों की मिट्टियों में लगातार संचय होता रहता है। परिणामस्वरूप रसायनों के अत्यधिक सान्द्रण के कारण मिट्टियों का प्रदूषण प्रारम्भ हो जाता है। इन रसायनों का कुछ भाग वर्षा के जल के साथ बह कर तालाबों, झीलों, तथा नदियों तक पहुंच जाता है, जिस कारण जल प्रदूषण प्रारम्भ हो जाता है। कुछ रसायन रिसकर नीचे चले जाते हैं तथा भूमिगत जल को प्रदूषित करते हैं। इसी तरह खर–पतवार एवं फसलों के रोगों को दूर करने के लिए प्रयोग किए जाने वाले कीटनाशी एवं शाकनाशी कृत्रिम रसायनों के कारण मिट्टियों एवं विभिन्न स्रोतों के जल (तालाब, झील, तथा नदियों का जल एवं भूमिगत जल) का भारी प्रदूषण होता है। उदाहरण के लिए अमोनियम सल्फेट के अधिक प्रयोग के कारण मिट्टियों में सल्फेट आयन का सान्द्रण बढ़ जाता है। ये आयन स्थानांतरित होकर (वर्षा के जल द्वारा) तालाबों, झीलों तथा नदियों के जल एवं भूमिगत जल को प्रदूषित करते हैं।

ज्ञातव्य है कि नाइट्रेट का भूमि में अधोगमन अति मन्द गति से सम्पादित होता है। नाइट्रेट का भूमि में एक से दो मीटर की गहराई तक गमन एक वर्ष में सम्भव हो पाता है। इस तरह फसलों द्वारा अप्रयुक्त नाइट्रेटस 50 वर्षों में सबसे नीचे स्थित जलवाही स्तर (aquifers) तक पहुंच जाते हैं। स्पष्ट है कि सतह के नीचे जहरीले रसायनों के लगातार सान्द्रण के कारण ऐसा समय बम तैयार हो रहा है जिसका किसी भी समय विस्फोट हो सकता है। इस तिरोहित समय बम का मानव समुदाय पर अकथनीय दुष्प्रभाव पड़ सकता है, यदि– (i) रासायनिक खादों एवं कीटनाशी एवं शाकनाशी कृत्रिम रसायनों के प्रयोग में कटौती की जाए तथा (ii) कृषि–क्षेत्रों में गहरी सिंचाई की जाए। ज्ञातव्य है कि गहरी सिंचाई के कारण ये जहरीले रसायन शीघ्र ही सतह पर आ सकते हैं क्योंकि गहरी सिचाई के कारा भूमिगत जल के तल में वृद्धि होगी जिस कारण नीचे गए जहरीले रसायन भूमिगत जल के साथ ही ऊपर आ जाएंगे

टिप्पणी

तथा इस जल का उपभोग करने वाले पौधों, जंतुओं, सूक्ष्म जीवों एवं मनुष्यों पर दूरगामी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेंगे। कुछ नाइट्रेटस सब्जियों, फलों तथा खाद्यान्नों के माध्यम से मानव–शरीरों में पहुंचते हैं तथा ये रसायन रासायनिक अभिक्रिया द्वारा कैंसर रोग उत्पन्न कर सकते हैं।

खेतों में, रासायनिक तत्व वर्षा के जल के साथ बह कर तालाबों, झीलों तथा नदियों में पहुंचते हैं। इस तरह इन जल भण्डारों में रासायनिक पोषक तत्वों के लगातार भण्डारण के कारण कुछ पौधों में तेजी से वृद्धि होने लगती है। (इस प्रक्रिया को पादप वृद्धि या पाद सुपोषण–eutrophication कहते हैं) तथा अन्य पौधों तथा जीवों की मृत्यु हो जाती है। इस प्रक्रिया द्वारा जलभण्डारों का जल प्रदूषित हो जाता है तथा जैव आक्सीजन मांग (BOD Biological Oxygen Demand) पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

भारत में हरितक्रान्ति के अंतर्गत कृषि के प्रत्येक पक्ष में प्रगति हुई है। अधिक उत्पादन देने वाली फसलों के लिए गहरी सिंचाई की आवश्यकता होती है। इस हेतु नहरों का अधिक विकास किया गया है। नहरों द्वारा सिंचाई करने से एक तरफ तो कृषि–उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई है परंतु दूसरी तरफ जलभराव के कारण लवणीकरण तथा क्षारीयकरण (Salinization तथा alkalization) की समस्याएं उत्पन्न हुई हैं, जिस कारण विस्तृत कृषि–क्षेत्र ऊसर एवं बंजर भूमि हो गए हैं। नहरों द्वारा सिंचाई से उपजाऊ भूमि के बंजर एवं अनुत्पादक भूमि में परिवर्तन की प्रक्रिया को ऊसरीकरण कहते हैं। राजस्थान में इन्दिरा नहर द्वारा गहरी सिंचाई के कारण जलभराव होने से विस्तृत कृषि–क्षेत्र लवणीकरण द्वारा दुष्प्रभावित हुआ है।

प्राकृतिक साधन तथा पर्यावरण क्षरण

प्राकृतिक साधनों के अंधाधुंध प्रयोग के कारण भी पर्यावरण की क्षति हुई है। खनिज तथा ऊर्जा के अधिकतर संसाधन अनवीकरणीय (non-renewble) संसाधन हैं। एक बार खनन के बाद अयस्क भण्डार सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं। यह जानते हुए भी हम खनिजों और ऊर्जा के संसाधनों का प्रतिवर्ष भारी मात्रा में उपभोग कर रहे हैं। ये भंडार भूपर्पटी में निरंतर होते रहने वाले रासायनिक चक्रों के फलस्वरूप करोड़ों वर्षों में बने हैं। अतः खनिजों एवं ऊर्जा संसाधनों का निर्माण अत्यधिक धीमी गति से होता है। इनके निर्माण की दर तथा जिस दर से इन्हें खनन करके उपयोग किया जा रहा है, उनकी तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि अंततः ये खनिज और ऊर्जा संसाधन समाप्त हो जाएंगे। क्योंकि औद्योगीकरण के साथ इनका प्रयोग तेजी से बढ़ रहा है, इसलिए अगले 100 वर्षों में इनके रिजर्व के समाप्त होने की सम्भावना है। परंतु यह संभव नहीं होगा कि इन संसाधनों के निर्माण की प्रक्रिया में भू–वैज्ञानिक तेजी ला सकें। हमें जल की आवश्यकता पीने और सफाई करने, कृषि तथा उद्योगों के लिए होती है। इनमें से कृषि क्षेत्र में पानी का सबसे अधिक उपयोग होता है। भारत में लगभग 96 प्रतिशत जल कृषि में, 3 प्रतिशत उद्योगों में और केवल 1 प्रतिशत घरेलू उपयोग में लगता है। भारत में जल की आवश्यकता कई गुना बढ़ गई है। परिणामस्वरूप, कुछ स्थानों पर नदियों से इतना अधिक जल निकाल लिया जाता है कि एक पतली सी धारा ही शेष रह जाती है। मनुष्य की क्रियाओं में वृद्धि होने से स्थानीय जल स्रोत सूखने लगे हैं। संसार की निरंतर बढ़ती जनसंख्या तथा जल के उपयोग में वृद्धि से कुछ क्षेत्रों में जल संसाधनों पर दबाव बढ़ रहा है। यह दबाव आर्द्र (humid) प्रदेशों में भी महसूस किया जा रहा है। कृषि और उद्योगों के द्वारा जल की गुणवत्ता में होने वाली कमी के कारण जल

टिप्पणी

संसाधनों पर दबाव और अधिक तेज हो रहा है। उर्वरक, कीटनाशक, रसायन तथा कूड़ा–कचरा, जल स्रोतों में मिल जाते हैं और उसे प्रदूषित करते हैं। कुछ क्षेत्रों में भूमिगत जल समाप्त हो रहा है। इसका कारण यह है कि जिस दर से हम इसे भूमि से निकाल रहे हैं वह इसकी पुनः पूर्ति की दर से कहीं अधिक है। इससे स्पष्ट होता है कि टयूब–वैलों की संख्या में अनियंत्रित वृद्धि के कारण उस क्षेत्र में पीने के लिए अथवा सिंचाई के लिए पानी का अत्यधिक वृक्षों तथा पेड़–पौधों के कटने से भूमिगत जल स्तर भरने की प्राकृतिक प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न होती है जिससे जल स्तर नीचे चला जाता है। बांधों के निर्माण से नदियों का जल भी प्रभावित हो गया है। ये बाढ़ नियंत्रण, बिजली उत्पादन तथा सिंचाई को सुविधाएं देने में सहायता करते हैं। लेकिन ये नदी की श्रेणी (basin) के प्राकृतिक प्रवाह को खत्म कर देते हैं तथा पारितंत्र को बदल देते हैं।

स्थलीय स्रोतों में जलीय पौधों के भर जाने से अवांछनीय प्रभाव पड़ रहे हैं। ये जल के सामान्य प्रवाह में रुकावट पैदा करते हैं। ये अन्य पौधों और जीवों के जीवन को भी प्रभावित करते हैं।

पर्यावरण प्रबंधन तथा जन–सहभागिता

प्रबंधन विकास की प्रक्रिया होती है। इसके दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं–(i) समाज की बहुमुखी वृद्धि तथा विकास की प्राप्ति तथा (ii) सभी प्रकार के प्राकृतिक एवं मानव–संसाधनों के विदोहन एवं उपभोग द्वारा सामाजिक–आर्थिक विषमताओं को दूर करना। पर्यावरण नियोजन का, इस प्रकार, तात्पर्य होता है कि विकासीय कार्यों के लिए पृथ्वी के नव्य (renewale) तथा अनव्य (non-renewable) संसाधनों का विभिन्न रूपों में उपयोग करना, दुर्लभ एवं बहुमूल्य संसाधनों का संरक्षण (Conservation) तथा स्वस्थ जीवन के लिए पर्यावरण की गुणवत्ता का परीक्षण (Preservation) करना।

प्रबंधन (management) का तात्पर्य होता है, 'विभिन्न वैकल्पिक प्रस्तावों में से उपयुक्त प्रस्ताव का विवेकपूर्ण चयन करना ताकि वह निर्धारित एवं इच्छित उद्देश्यों की पूर्ति कर सके। जहां तक सम्भव होता है प्रबंधन के अंतर्गत अल्पकालिक (short-term) उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक या कई रणनीतियां अपनायी जाती हैं परंतु दीर्घकालिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी भरपूर व्यवस्था रहती है।'

वास्तव में, पर्यावरण प्रबंधन को सुचारू रूप से परिभाषित करना कठिन कार्य है क्योंकि पर्यावरण अपने आप में अत्यन्त जटिल संकल्पना है, समाज के विभिन्न वर्ग के लोग पर्यावरण का अर्थ विभिन्न रूपों में लगाते हैं पर्यावरण प्रबंधन के उद्देश्य जटिल, विभिन्न प्रकार के तथा परस्पर विरोधी होते हैं तथा वैकल्पिक रणनीतियां एक–दूसरे के विरूद्ध होती हैं।

डेनिस मीडोज (1971) के अनुसार 'पर्यावरण प्रबंधन की संकल्पना सामान्यतया पर्यावरण–मॉडल से संबंधित होती है जो यह सुनिश्चित करता है कि पूंजी, वार्षिक कृषि–निवेश (input) तथा भूमि के विकास में वृद्धि के साथ खाद्य पदार्थों की आपूर्ति में भी वृद्धि होगी, परंतु पर्यावरण प्रबंधन का मॉडल इन कारकों की सीमितताओं(limits) आने वाली चुनौतियों तथा समस्याओं से निपटने के लिए नीतियों को भी समाहित करता है।'

उल्लेखनीय है कि सामान्यतया प्रकृति पारिस्थितिक संतुलन तथा पारिस्थितिक स्थिरता को कायम रखने के लिए स्वतः प्रयत्नशील रहती है परंतु आधुनिक औद्योगिक

टिप्पणी

समाज ने भारी औद्योगीकरण, प्रौद्योगिकीय क्रान्ति, परिवहन एवं संचार के साधनों में तीव्र गति से वृद्धि, प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध लोलुपतापूर्ण विदोहन, भूमि उपयोग में भारी वृहद् स्तरीय परिवर्तन, औद्योगिक प्रतिष्ठानों एवं नगरीय क्षेत्रों के अनियमित एवं अनियोजित विस्तार के द्वारा पारिस्थितिक संतुलन तथा पारिस्थितिक स्थिरता को विक्षुब्ध तथा अव्यवस्थित कर दिया है। दूसरे शब्दों में, 'आर्थिक एवं प्रौद्योगिकीय मनुष्य' के क्रिया–कलापों ने पर्यावरण एवं मानव के बीच मधुर संबंधों को विषाक्त कर दिया है। पर्यावरण प्रबंधन, इस प्रकार, मनुष्य एवं पर्यावरण के बीच संबंधों को सुधारने की प्रक्रिया है ताकि पर्यावरण एवं समाज दोनों की गुणवत्ता में सुधार हो सके। पर्यावरण एवं मनुष्य के मध्य स्वस्थ एवं मधुर सौहार्दपूर्ण संबंधों की स्थापना मनुष्य के विध्वंसक क्रियाकलापों पर रोक लगा कर प्रकृति के परीक्षण, संरक्षण, नियमन (regulation) एवं पुनर्जनन द्वारा की जा सकती है।

इस प्रकार पर्यावरण प्रबंधन मनुष्य के प्रकृति के साथ यथोचित समायोजन से संबंधित है जिसके अंतर्गत पारिस्थितिक संतुलन तथा पारिस्थितिक स्थिरता को अव्यवस्थित किए बिना प्राकृतिक संसाधनों का विवेकपूर्ण विदोहन एवं उपयोग किया जाना चाहिए। ज्ञातव्य है कि चूंकि सामाजिक–आर्थिक दृष्टि से समाज का विकास एवं संवर्द्धन आवश्यक है अतः प्राकृतिक संसाधनों का विदोहन एवं उपभोग करना भी जरूरी हो जाता है। यह भी स्वाभाविक है कि जब प्राकृतिक संसाधनों का विदोहन किया जाएगा तो कुछ पर्यावरण समस्याएं अवश्यक उत्पन्न होंगी क्योंकि प्राकृतिक पर्यावरण संसाधनों संघटकों में बिना किसी क्षति के प्राकृतिक संसाधनों का सार्थक विदोहन तथा सामाजिक–आथिक विकास सम्भव नहीं है।

पर्यावरण नियोजन एवं प्रबंधन, इस प्रकार, पारिस्थितिक संतुलन (ecological balance) तथा पारिस्थितिक स्थिरता (ecosystem stability) और मनुष्य की आर्थिक / भौतिक प्रगति के बीच एक तरह का समझौता है। अतः इसके अंतर्गत पारिस्थितिक सिद्धांतों एवं समाज की सामाजिक–आर्थिक आवश्यकताओं पर भरपूर ध्यान देना चाहिए।

इस तरह पर्यावरण प्रबंधन के अंतर्गत एक तरह तो समाज के सामाजिक–आर्थिक विकास पर ध्यान दिया जाता है तो दूसरी तरफ पर्यावरण की गुणवत्ता के परिरक्षण एवं संरक्षण के लिए भरपूर प्रयास किया जाता है। ज्ञातव्य है कि 'पर्यावरण की गुणवत्ता' को परिभाषित करना भी कठिन कार्य है। क्योंकि एक व्यक्तिनिष्ठ (subjective) शब्दावली है। समाज के विभिन्न वर्गों के लोग इसका विभिन्न अर्थ लगाते हैं। पर्यावरण प्रबंधन के अंतर्गत निम्न को सम्मिलित किया जाता है– (1) प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध एवं लोलुपतापूर्ण विदोहन तथा मनुष्य के अविवेकपूर्ण क्रिया–कलापों पर रोक एवं नियन्त्रण द्वारा पर्यावरण की रक्षा करना, प्रदूषण स्तर पर नियंत्रण एवं उसे कम करना, मानव जनसंख्या की तीव्र वृद्धि पर नियंत्रण एवं उसे कम करना, मानव जनसंख्या की तीव्र वृद्धि पर नियंत्रण एवं उसे कम करना, मानव जनसंख्या की तीव्र वृद्धि पर नियंत्रण तथा हानिकारक प्रौद्योगिकी पर रोक लगाना, (2) पर्यावरण एवं उसके संसाधनों के आर्थिक महत्व को बढ़ाना एवं (3) भावी पीढ़ियों के लिए पर्यावरण का परिरक्षण करना।

'संसाधनों का संरक्षण तथा प्रदूषण का नियंत्रण पर्यावरण नियोजन की आवश्यक पूर्व दशाएं हैं। संरक्षण का अर्थ विकासीय कार्यों का स्थगन नहीं होता है। वरन् उपयुक्त प्रौद्योगिकी के उपयोग द्वारा सुलभ संसाधनों के मूल्य को बढ़ाना तथा वृद्धि एवं विकास

टिप्पणी

की प्रक्रिया को तेज करना होता हैं वास्तव में संरक्षण तथा विकास एक ही सिक्के के दो फलक हैं और इस तरह ये एक–दूसरे के पूरक होते हैं। वास्तविक अर्थ में कोई वृद्धि तब तक नहीं प्राप्त की जा सकती जब तक समुचित प्रौद्योगिकी द्वारा संसाधन के छोटे से छोटे अंश से अधिकतम प्राप्ति न हो जाए, प्राकृतिक संसाधनों पुनर्चक्रण (recycling) के उपाय न कर लिए जाए ताकि पर्यावरण तंत्र पर न्यूनतम भार पड़ सके।

संक्षेप में, यह व्यक्त किया जा सकता है कि पर्यावरण प्रबंधन के दो प्रमुख पक्ष होते हैं–(1) सामाजिक–आर्थिक विकास तथा (2) सामान्य रूप में जीव मण्डल की स्थिरता एवं विशेष तौर पर एकाकी पारिस्थितिक तंत्रों का अस्तित्व एवं स्थिरता।

पर्यावरण प्रबंधन

सामान्य तौर पर किसी भी प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्र के पर्यावरण के प्रबंधन के अंतर्गत दो प्रमुख पक्षों को सम्मिलित किया जाता है– (1) सामाजिक–आर्थिक विकास तथा (2) पारिस्थितिक सिद्धांतों के आधार पर पर्यावरण की गुणवत्ता का परिरक्षण/पर्यावरण प्रबंधन के प्रमुख उद्देश्यों के अंतर्गत निम्न को सम्मिलित किया जाता है– (i) प्राकृतिक संसाधनों, मुख्य रूप से अनव्य (degraded evnironment) का पुनर्जनन (regeneration) करना तथा नव्य प्राकृतिक संसाधनों, मुख्य रूप से अनव्य (no-renewable) संसाधनों के विदोहन तथा उपभोग को सीमित तथा नियंत्रित करना (2) अवक्रमित पर्यावरण (degraded evniironment) का पुनर्जनन (regeneration) करना तथा नव्य प्राकृतिक संसाधनों का नवीकरण करना, (3) पर्यावरण क्षरण (degradation) तथा प्रदूषण को नियन्त्रित करना, (4) प्राकृतिक प्रकोपों तथा आपदाओं (natural hazards and disasters) के प्रभावों को कम करना, (5) प्राकृतिक संसाधनों के एक बार उपभोग के बाद उत्पन्न अपशिष्टों के पुनर्चक्रण एवं पुनः प्रयोग के माध्यम से प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतम एवं आदर्शतम उपभोग के बाद उत्पन्न अपशिष्टों के पुनर्चक्रण एवं पुनः प्रयोग के माध्यम से प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतम एवं आदर्शतम उपभोग करना, (6) प्रस्तावित योजनाओं एवं कार्यक्रमों के पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों का मूल्यांकन करना, (7) पर्यावरण के सन्दर्भ में उत्पादन की वर्तमान प्रौद्योगिकी की उपादेयता का पुनर्निरीक्षण तथा समीक्षा करना एवं उसमे इस तरह सुधार करना कि वह प्रदूषण मुक्त हो जाएं, (8) पर्यावरण की गुणवत्ता के परिरक्षण हेतु पर्यावरण संरक्षण के काग्रक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए नियमों एवं कानून की व्यवस्था करना आदि।

पर्यावरण नियोजन एवं प्रबंधन के अंतर्गत समस्त जैव जगत को सम्मिलित किया जाना चाहिए। पर्यावरण नियोजन एवं प्रबंधन के लिए एक ही प्रकार की रणनीति सभी प्रदेशों एवं पारिस्थितिक तंत्रों के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती है क्योंकि विभिन्न प्रदेशों एवं पारिस्थितिक तन्त्रों में मनुष्य के हित अलग–अलग होते हैं। उदाहरण के लिए, विकासशील देशों में अत्यधिक आबादी (Over population) तथा उससे संबंधित समस्याएं (यथा–आर्थिक गरीबी, मन्द आर्थिक विकास, सामाजिक एवं शैक्षणिक पिछड़ापन आदि) चिन्ता का प्रमुख विषय है जबकि विकसित देशों में प्रगति आधुनिक प्रौद्योगिकी, अत्यधिक उत्पादन समाज के भौतिकवादी दृष्टिकोण तथा संसाधनों की अल्पता से उत्पन्न पर्यावरण क्षरण एवं प्रदूषण की समस्याएं अधिक महत्वपूर्ण हैं।

पर्यावरण प्रबंधन के संघटकों के अंतर्गत 5 प्रमुख पक्षों को सम्मिलित किया जा सकता है– (1) पर्यावरण बोध एवं जन चेतना(Environmental Preception and Public

टिप्पणी

Awarness) (2) पर्यावरण शिक्षा एवं प्रशिक्षण, (3) संसाधनों का प्रबंधन, (4) पर्यावरण के प्रभाव का मूल्यांकन (EIA -Environemental Impact Assessment)) तथा (5) पर्यावरण क्षरण एवं प्रदूषण का नियंत्रण। पर्यावरण प्रबंधन के इन प्रमुख पक्षों का पुनः निम्न रूप में विस्तरण किया जा सकता है।

पर्यावरण नियोजन एवं प्रबंधन के उपर्युक्त पक्षों (Aspects) को तीन प्रमुख श्रेणियों में रखा जा सकता है– (1) संसाधन प्रबंधन, (2) पर्यावरण– प्रभाव–मूल्यांकन तथा (3) पर्यावरण क्षरण तथा प्रदूषण के नियंत्रण तथा प्रमुख पर्यावरण कार्यक्रम तथा योजनाएं।

पर्यावरण प्रबंधन के उपागम (Approaches) –पर्यावरण प्रबंधन की रणनीतियों (strategy) को प्रायः दो प्रमुख आधारों पर तैयार किया जाता है। (i) स्थानिक पक्ष (Spatial consideration) तथा (ii) विधितंत्रात्मक पक्ष। क्षेत्रीय एवं स्थानिक दृष्टि से पर्यावरण नियोजन तीन स्तरों पर प्रारम्भ किया जा सकता है– स्थानीय स्तर, प्रादेशिक स्तर तथा विश्व स्तर तथा पर्यावरण नियोजन की रणनीतियां व्यक्ति, समाज तथा सरकार की आवश्यकताओं के आधार पर तैयार की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, ओजोन परत की अल्पता की समस्या निःसन्देह एक अंतर्राष्ट्रीय चिन्ता का विषय बन चुकी है परंतु इसके नियंत्रण एवं निदान के लिए पश्चिमी विकसित देशों एवं विकासशील देशों के दृष्टिकोणों में अंतर है। वास्तव में पश्चिमी विकसित देश आजोन की अल्पता को नियंत्रित करने के लिए ज्यादा चिन्तित हैं तथा पर्यावरण प्रबंधन में इस समस्या को सर्वाधिक प्रमुखता दी जा रही है क्योंकि अधिक पराबैंगनी विकिरण के कारण गोरी चमड़ी वाली रोग चर्म रोगों खासकर कैंसर से अधिक प्रभावित होंगे। इसके विपरीत विकासशील देश ओजोन का क्षय करने वाली गैसों (यथा–क्लोरोफ्लूरोकार्बन तथा हैलोजेन) के उत्पादन तथा उपभोग पर रोक लगाने से मुकर रहे हैं क्योंकि उन्हें इस बात का डर है कि ऐसा करने से वे अविकसित ही रह जाएंगे तथा वे उन आधुनिक सामग्रियों तथा उपकरणों के उपयोग से वंचित रह जाएंगे जिनका पश्चिमी विकसित देश बहुत पहले से उपभोग करते आ रहे हैं।

पर्यावरण के प्रबंधकों को इस बात को सर्वदा ध्यान में रखना होगा कि पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधन सीमित हैं तथा पर्यावरण तंत्र एक बन्द तंत्र है। इसलिए किसी भी स्तर पर पर्यावरण नियोजन करते समय पूरे विश्व को ध्यान में रखना चाहिए। पर्यावरण एक प्राकृतिक उपहार है, अतः यह जनता की संपत्ति है तथा इसमें सभी प्रकार के जीवों (पौधे तथा मानव सहित जंतु) की हिस्सेदारी होनी चाहिए। इस प्रकार प्राकृतिक संसाधनों के उपभोग तथा पर्यावरण प्रबंधन के प्रयास के समय जीवमण्डलीय पारिस्थितिक तंत्र में सभी जीवित जीवों के हितों का ध्यान रखना चाहिए। प्राकृतिक संसाधनों के उपभोग तथा पर्यावरण प्रबंधन के लिए वैयक्तिक उपागम को हतोत्साहित करना चाहिए क्योंकि यह उपागम पर्यावरण संसाधनों के संरक्षण पर कतई ध्यान नहीं देता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति पर्यावरण क्षरण की चिन्ता किए बिना प्रकृति से अधिक से अधिक ग्रहण करने का प्रयास करता है। इस बात के लिए जोरदार प्रयास किया जाना चाहिए कि व्यक्ति विशेष पर्यावरण संसाधनों के उपयोग एवं दुरुपयोग के संबंध में मानव वर्ग, मानव समुदाय तथा समाज के प्रति अपने कार्यों के लिए जिम्मेदार समझे। इस तरह पर्यावरण नियोजन व्यक्ति या घर से प्रारम्भ होता है जो सामाजिक समान प्रादेशिक विकास का सर्वोत्तम साधन है'।

टिप्पणी

पर्यावरण नियोजन एवं प्रबंधन के दो प्रमुख उपागम हैं– (1) परिरक्षात्मक उपागम (Preservative approach तथा (2) संरक्षात्मक उपागम (Conservationist approach) पर्यावरण प्रबंधन का परिरक्षात्मक उपागम मनुष्य के प्रकृति के साथ छेड़छाड़ न करने पर तथा मनुष्य द्वारा प्राकृतिक पर्यावरण के साथ पूर्ण समायोजन पर जोर देता है। वास्तव में यह उपागम व्यवहार्य नहीं है क्योंकि यदि प्राकृतिक पर्यावरण के साथ छेड़छाड़ न की जाएगी तो मानव समाज भूखा रह जाएगा तथा विकास के सारे दरवाजे बन्द हो जाएंगे। यदि मनुष्य को जिन्दा रहना है तो उसे प्रकृति से कुछ न कुछ तो लेना ही पड़ेगा।

पर्यावरण प्रबंधन के संरक्षणात्मक उपागम के अंतर्गत प्रौद्योगिकी के सन्दर्भ में भौतिक–जैविक पर्यावरण के साथ समायोजन तथा व्यावहारिक संस्थागत समायोजन पर अधिक जोर दिया जाता है। अर्थात् मानव समाज के सामाजिक–आर्थिक विकास के लिए प्राकृतिक/पर्यावरण संसाधनों का विदोहन तथा उपभोग अवश्य होना चाहिए परंतु जहां तक सम्भव हो सके पर्यावरण की गुणवत्ता, पारिस्थितिक संतुलन तथा पारिस्थितिक स्थिरता को बनाए रखने के लिए भरपूर प्रयास किया जाना चाहिए। इस कार्य हेतु समुचित प्रदूषण मुक्त प्रौद्योगिकी का उपयोग किया जाना चाहिए तथा प्राकृतिक पारिस्थितिक में किसी प्रकार की अव्यवस्था के लिए संबंधित समाज को उत्तरदायी माना जाना चाहिए। इस तरह संरक्षणात्मक उपागम के दो प्रमुख आधार हैं– (i) प्राकृतिक संसाधनों के विदोहन एवं उपभोग के समय मनुष्य के कार्यों द्वारा पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभावों को कम करना तथा (ii) पर्यावरण की दृष्टि से सुरक्षित तथा प्रदूषण–रहित प्रौद्योगिकी के प्रयोग द्वारा प्राकृतिक पर्यावरण पारिस्थितिक तंत्रों की उत्पादकता को अधिकतम करना। इस उपागम के अंतर्गत पर्यावरण प्रबंधन के लिए कई वैकल्पिक रणनीतियां तैयार की जाती हैं।

पर्यावरण प्रबंधन के पारिस्थितिक आधार

किसी भी स्तर पर (स्थानिक स्तर, प्रादेशिक स्तर, राष्ट्रीय स्तर तथा अंतर्राष्ट्रीय नियोजन एवं प्रबंधन की कोई भी योजना या कार्यक्रम पारिस्थितिकी (ecology) के आधारभूत सिद्धांतों पर आधारित होना चाहिए। पर्यावरण प्रबंधन के अंतर्गत निम्न पारिस्थितिक विषयों (ecology issues) को सम्मिलित किया जाता है। (i) पारिस्थितिक तंत्र के संघटक (ii) पारिस्थितिक तंत्र के रूप, कार्यशीलता एवं समस्थिति (iii) समय के परिवेश में पारिस्थितिक परिवर्तन पौधों तथा जंतुओं उद्भव एवं विकास, (iv) स्थान के परिवेश में पारिस्थितिक परिवर्तन (v) पारिस्थितिक संसाधनों का विदोहन तथा उपयोग और (vi) प्राकृतिक पर्यावरण में मानवीय कार्यों द्वारा क्षरण एवं प्रदूषण।

आधारभूत पारिस्थितिकीय नियम तथा सिद्धांत प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्रों के विभिन्न पक्षों एवं जीवों को नियंत्रित करते रहे हैं यथा– (i) पौधों तथा जंतुओं का उद्भवन, विसरण तथा वितरण, (ii) जातियों (species) का विलोपन (iii) जीवीय अनुक्रम (biological succession), (iv) प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्रों के विभिन्न संघटकों में पदार्थ तथा ऊर्जा का स्थानांतरण, संचरण एवं उपभोग, (v) प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्रों में जैव भू–रसायन चक्रों (biogeochemical cycles) के माध्यम से जैविक एवं अजैविक तत्वों का चक्रण एवं पुनर्चक्रण (cycling and recycling) (vi) जीवों का जीवन चक्र, (vii) पारिस्थितिक तंत्रों की स्थिरता तथा अस्थिरता एवं (viii) जीवों के बीच तथा पर्यावरण के भौतिक संघटकों एवं जीवों के बीच अंतर्क्रिया एवं अंतर्संबंध।

टिप्पणी

किसी भी पर्यावरण प्रबंधन की रणनीति तैयार करते समय निम्न आधारभूत पारिस्थितिक नियमों एवं सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए–

1. जीवमण्डलीय पारिस्थितिक तंत्र तथा अन्य उत्तरोत्तर लघु पारिस्थितिक तंत्रों के जैविक एवं अजैविक (भौतिक) संघटक वृहद स्तरीय जैव भू–रसायन एवं अजैविक (भौतिक) संघटक वृहद स्तरीय जैव भू–रसायन चक्रों द्वारा एक–दूसरे से आबद्ध एवं अंतर्सम्बन्धित हैं।
2. पृथ्वी पर दीर्घकालिक जीवन (sustained life) पारिस्थितिक तंत्र की मूल विशेषता है।
3. जब हम किसी वस्तु को फेंकते हैं तो वास्तव में वह अदृश्य नहीं होती है।
4. सभी तंत्र तथा समस्याएं एक–दूसरे से घनिष्ट रूप में अंतर्सम्बन्धित हैं, अतः एकांकी समस्या का समाधान नहीं किया जाना चाहिए।
5. पृथ्वी के संसाधन सीमित हैं।
6. संसाधनों को बनाने के लिए तथा पारिस्थितिक तंत्र की स्थिरता के लिए प्रकृति को लाखों–करोड़ों वर्ष खर्च करने पड़े हैं।
7. जब जीवीय प्रक्रमों का भौतिक घटनाओं के साथ संबंध हो जाता है तो अति प्रचण्ड प्रकोप एवं आपदाएं उत्पन्न हो जाती हैं।
8. सभी जीवित जीव तथा भौतिक पर्यावरण आपस में प्रतिक्रिया करते हैं।
9. पारिस्थितिक तंत्र में ऊर्जा–प्रारूप तथा ऊर्जा–प्रवाह ऊष्मा गतिकी के प्रथम एवं द्वितीय नियमों द्वारा नियंत्रित होता है।
10. पारिस्थितिक तंत्र की उत्पादकता सौर ऊर्जा की सुलभता तथा पौधों की सौर ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा में परिवर्तित करने की दक्षता पर निर्भर करता है।

संसाधन प्रबंधन

संसाधनों के उचित नियोजन एवं प्रबंधन के लिए कई विषयों के विशेषज्ञों के अनुभवों की आवश्यकता होती है। संसाधनों के वर्गीकरण, मूल्यांकन, उपयोग एवं प्रबंधन के अध्ययन को संसाधन विज्ञान कहते हैं। ज्ञातव्य है कि संसाधन विज्ञान के विज्ञान के विकास के बावजूद संसाधनों के विभिन्न पक्षों एवं उनके प्रबंधन से संबंधित विचारों एवं संकल्पनाओं के विभिन्न शैक्षणिक विषयों में, विभिन्न संसाधन विज्ञानियों एवं नीति निर्माताओं में तथा विभिन्न सामाजिक वर्गों एवं पर्यावरणवादी/संरक्षणवादी वर्गों तथा नीति निर्धारकों एवं प्रशासकों में पर्याप्त मतांतर के कारण पर्यावरण प्रबंधन के मार्ग में अब भी कई बाधाएं एवं समस्याएं शेष हैं। इसी तरह संसाधन प्रबंधन के उपागमों (approaches) के विषय में भी पर्याप्त मतभेद हैं। संसाधनों के उपभोग से उत्पन्न पारिस्थितिक समस्याओं की विविधता तथा जटिलता एवं आयाम (dimension) के आधार पर संसाधन प्रबंधन दो प्रमुख उपागम हैं– (i) समग्रतावादी उपागम (holistic approach) के अंतर्गत संसाधनों के विदोहन एवं उपयोग के दौरान उत्पन्न होने वाली समस्त पारिस्थितिक समस्याओं पर विचार किया जाता है तथा इन सभी समस्याओं के निदान के लिए प्रयास किए जाते हैं। निःसन्देह यह उपागम अत्यधिक महत्वाकांक्षी है तथा इसके अंतर्गत पारिस्थितिक समस्याओं के दीर्घकालिक हल एवं पारिस्थितिक संतुलन तथा पारिस्थितिक स्थिरता के लिए प्रयास किया जाता है परंतु इस उपागम के कार्यान्वयन के लिए पर्याप्त धन एवं औद्योगिकीय सुविधाएं होनी चाहिए। (ii) एकल

टिप्पणी

उपागम (Monistic approach) के अंतर्गत पारिस्थितिक समस्याओं के आंशिक तथा सीमित हल या अल्प–कालिक हल पर अधिक जोर दिया जाता है अर्थात एक समय में एक ही समस्या का निदान किया जाना चाहिए।

संसाधनों के प्रबंधन का एक अन्य उपागम भी है। इसे सिस्टम माडलिंग कहते हैं। यह उपागम जीवमण्डलीय पारिस्थितिक तंत्र की विशेषताओं एवं कार्यशीलता, पारिस्थितिक नियमों एवं तंत्र (system) विश्लेषण के सामान्य नियमों पर आधारित है।

संसाधनों का अर्थ तथा वर्गीकरण

संसाधन एक गतिशील नामावली है क्योंकि ज्ञान, समाज, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में प्रति तथा विकास के साथ इसके अर्थ में भी परिवर्तन होता रहता है। कोई भी वस्तु, जो मनुष्य के लिए उपयोगी होती है, संसाधन है। दूसरे शब्दों में संसाधन वह वस्तु या तत्व होता है जिसका उपयोग करके मनुष्य अपनी आवश्यकताओं एवं महत्वकांक्षाओं की तुष्टि करता है। वास्तव में संसाधनों के तात्पर्य तथा संकल्पनाओं में सांस्कृतिक एवं प्रौद्योगिकीय परितर्वनों के साथ परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए, वर्तमान समय में विचार, चिन्तन, सौन्दर्य, ज्ञान, बुद्धि आदि भी संसाधन हो गए हैं। उल्लेखनीय है कि हम लोगों का यहां पर मात्र प्राकृतिक संसाधनों और खासकर पारिस्थितिक संसाधनों से ही संबंध है। अतः यहां पर केवल पारिस्थितिक संसाधनों पर ही विचार किया जाएगा।

सामान्यतया संसाधनों को निम्न 6 प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जाता है।

(i) **जैविक एवं अजैविक संसाधन**– जैविक संसाधनों के अंतर्गत जीवित जीव सम्मिलित किए जाते हैं, यथा–वनस्पति संसाधन तथा मानव सहित जंतु संसाधन। वनस्पति संसाधनों के अंतर्गत वन एवं वन–उत्पाद, कृषि फसलें, जंतुओं के चारे आदि प्रमुख हैं। जंतु संसाधनों के अंतर्गत वन्य एवं पालतू (घरेलू) जानवरों, पक्षियों, मछलियों एवं जंतुओं के उत्पाद सम्मिलित किए जाते हैं। जैविक संसाधनों की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि सभी जैविक या पारिस्थितिक संसाधन नव्य या नवीनीकरणीयता (renewability) उनके आवासों की पर्यावरण दशाओं पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए कृषि फसलें प्रति वर्ष नव्य हैं बशर्ते कि उनके लिए आवश्यक अनुकूल भौगोलिक दशाओं में भारी परिवर्तन न हो। अर्थात् वार्षिक पौधों (annual Plants– जो प्रति वर्ष उगते हैं तथा मर जाते हैं) में सर्वाधिक नव्यता होती हैं इसके विपरीत दीर्घजीवी पौधों (perennial plants, यथा–वृक्ष) में न्यूनतम नव्यता होती है क्योंकि उनकी पुनर्जनन दर निहायत कम होती है।

अजैविक संसाधनों के अंतर्गत अजीवित वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है, यथा–भूमि, जल मिट्टी, शैल, खनिज आदि। सूर्य प्रकाश, वायु, जल आदि नव्य एवं अक्षयशील अजैविक संसाधन हैं जबकि अधिकांश खनिज अनव्य (अनवीनीकरणीय) तथा क्षयशील होते हैं, यथा–कोयला, खनिज तेल, प्राकृतिक गैर आदि। कतिपय खनिज संसाधनों की प्रचुरता है (यथा–लौह अयस्क, बाक्साइट आदि) जबकि कुछ खनिज दुर्लभ होते हैं (यथा–सोना, चांदी, प्लेटिनम, यूरेनियम तथा अन्य परमाणु खनिज)। कुछ खनिज भी नव्य होते हैं, यथा–मैगनीज।

टिप्पणी

(ii) **क्षयशील एवं अक्षयशील संसाधन**– सभी अजीवित वस्तुएं, जिन्हें पृथ्वी से निकाला जाता है, क्षयशील संसाधनों की श्रेणी में आती हैं यथा–खनिज तेल, कोयला, खनिज अयस्क (लौह अयस्क, तांबा, बाक्साइड, परमाणु, खनिज) आदि। धातु खनिज लोहा, तांबा, बाक्साइट, सीसा, जस्ता, सोना, चांदी, एण्टीमनी, प्लेटिनम, मैंगनीज, निकिल, कोबाल्ट, यूरेनियम, टिटैनियम, थोरियम आदि) तथा अधातु खनिज (अभ्रक, अबेस्टस, ग्रेफाइट, फास्फेट, गन्धक, जिप्सम, पोटाश आदि) सभी की मात्रा निश्चित है, अतः अत्यधिक विदोहन तथा उपभोग होने पर ये पूर्णतया समाप्त हो सकते हैं।

अक्षयशील संसाधनों का प्रतिवर्ष पुनर्जनन (reproduction) या भौतिक, रासायनिक या यांत्रिक प्रक्रियाओं द्वारा नवीनीकरण होता रहता है। ऐसे संसाधनों के अंतर्गत सौर ऊर्जा, जल, वायु, अधिकांश वन्य जीव तथा मानव वर्ग को सम्मिलित किया जाता है। जंतुओं की कुछ दुर्लभ जातियां अक्षयशील नहीं हैं। (शेर, चीता आदि) क्योंकि इनकी पुनर्जनन दर बहुत मन्द होती है।

(iii) **सम्भावित एवं विकसित संसाधन**– किसी भी संसाधन में निहित ऊर्जा की सकल मात्रा (यथा–जल में) को सम्भावित या सम्भाव्य या विभव ऊर्जा तथा संसाधन (potential energy and resourse) कहते हैं, यथा–जल संसाधन तथा सौर ऊर्जा संसाधन। मनुष्य द्वारा अपने उपयोग के लिए सम्भाव्य ऊर्जा/संसाधन की जितनी मात्रा का विकास किया गया हो उसे विकसित ऊर्जा/संसाधन कहते हैं, यथा–जलविद्युत, सौर ऊर्जा आदि।

(iv) **कच्चा माल तथा ऊर्जा संसाधन**– कच्चा माल वे प्राथमिक संसाधन होते हैं जो कारखानों में विभिन्न सामग्रियों के उत्पादन के लिए प्रयोग किए जाते हैं। इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जाता है– (अ) जैविक या पारिस्थितिक कच्चा माल वनों, कृषि, मत्स्य (fishing) तथा जंतुओं से प्राप्त किया जाता है तथा (ब) अजैविक या खनिज रत्न पृथ्वी से खनन कार्य द्वारा प्राप्त किए जाता है। ऊर्जा संसाधन उसे कहते हैं जिससे शक्ति ऊर्जा उत्पन्न करके मशीनें तथा स्वचालित वाहन चलाए जाते हैं। शक्ति एवं ऊष्मा उत्पन्न करने वाले संसाधनों के अंतर्गत जीवाश्म ईंधन (कोयला, खनिज तेल तथा प्राकृतिक गैस), परमाणु खनिज, भूतापीय ऊर्जा (geothermal enrgy)), ज्वारीय ऊर्जा, जल ऊर्जा आदि आते हैं। ऊर्जा संसाधनों को पुनः दो उप विभागों में विभाजित किया जाता है– (ब1) अनव्य ऊर्जा संसाधन (यथा–कोयला, खनिज तेल, प्रकृातिक गैस, भूतापीय ऊर्जा) तथा (ब2) नव्य ऊर्जा संसाधन (जल शक्ति, वायु शक्ति, बायोमास ऊर्जा और ज्वारीय ऊर्जा)

(v) **कृषि एवं पशुचारण संसाधन**– कृषि संसाधनों के अंतर्गत कृषि भूमि तथा कृषि उत्पाद दोनों को सम्मिलित किया जाता है। इन्हें आधारभूत या मौलिक संसाधन भी कहते हैं क्योंकि ये संसाधन मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं (खाना, कपड़ा तथा आवास) की पूर्ति करते हैं तथा जानवरों को चारा प्रदान करते हैं। इसके अलावा कृषि संसाधन कृषि पर आधारित उद्योगों के लिए कच्चा माल भी प्रदान करते हैं। पशुचारण संसाधनों के अंतर्गत मवेशियों से प्राप्त खाद्य वस्तुओं (मांस, चिकेन, दूध, मक्खन, पनीर, घी) तथा कच्चे माल (चमड़ा, हड्डी, ऊन, सींग, हाथी दांत आदि) को सम्मिलित करते हैं।

टिप्पणी

(vi) **खनिज एवं औद्योगिक संसाधन**–खनिज संसाधनों को 3 प्रमुख वर्गों में विभक्त करते हैं– (अ) धातु खनिज अयस्क–लौह अयस्क, तांबा सीसा, टिन, जस्ता, बाक्साइट, चांदी सोना निकल आदि, (ब) अधातु खनिज– अभ्रक, एस्बेस्टास, गंधक, हीरा, फास्फेट, पोटाश जिप्सम, तथा (स) जीवाश्म ईंधन। खनिज, कोयला, खनिज तेल, प्राकृतिक गैस। औद्योगिक संसाधनों को 4 वर्गों में विभाजित किया जाता है– (अ) खनिज संसाधन (ब) कृषि संसाधन, (स) पशुचारण संसाधन तथा (द) औद्योगिक गौण उत्पादन।

पारिस्थितिक संसाधन

सी.सी. पार्क (1980) के अनुसार समस्त वनस्पति एवं जंतु संसाधनों को पारिस्थितिक संसाधन कहते हैं। इसके अंतर्गत वनस्पति एवं जंतु की एकाकी संख्या, जातियों, समुदायों, आवासों (habitats) तथा पारिस्थितिकतंत्रों को सम्मिलित करते हैं। परंतु आर्थिक लाभ के लिए मनुष्य द्वारा प्रबंधित संसाधनों, यथा–व्यापारिक वानिकी, सामाजिक वानिकी तथा कृषि को पारिस्थितिक संसाधनों से परे रखा जाता है। वास्तव में पारिस्थितिक संसाधन किसी राष्ट्र की वास्तविक संपत्ति होते हैं। पारिस्थितिक संसाधनों का आयाम (dimension) तथा विस्तार एवं प्रारूप क्षेत्र विशेष की प्राथमिक उत्पादकता (स्वपोषित हरे पौधों की उत्पादकता) पर निर्भर करता है क्योंकि अन्य पारिस्थितिक संसाधनों की बहुलता तथा समृद्धि (प्राथमिक उपभोक्ता–शाकभक्षी जानवर, द्वितीय उपभोक्ता–मांसाहारी जानवर तथा मानव सहित सर्वभक्षी जंतु पादप) समुदाय के प्राथमिक उत्पादन पर ही निर्भर करती हैं।

पारिस्थितिक संसाधनों को सामान्यतया दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जाता है– पादप संसाधन तथा जंतु संसाधन। सी.सी. पार्क द्वारा प्रस्तुत पारिस्थितिक संसाधनों की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर पारिस्थितिक संसाधनों को दो प्रकारों में रखा जा सकता है। (1) प्राकृतिक या वन्य जीव पारिस्थितिक संसाधन के अंतर्गत केवल उन प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्रों के पौधों, जंतुओं को सम्मिलित किया जाता है जो अब तक मानव क्रियाकलापों द्वारा प्रभावित न हुए हों, यथा–ई.पी. द्वारा प्रस्तावित 'सौर चलित, तथा प्रकृति द्वारा पारिस्थिति तंत्र ज्ञातव्य है कि विशुद्ध तथा मनुष्य द्वारा अछूते प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्र का मिलना असम्भव है। यहां अब अण्टार्कटिका में भी विभिन्न देशों की शोध टोलियों की भीड़ बढ़ती जा रही है। अतः अब प्राकृतिक पारिस्थितिक संसाधनों के अंतर्गत वन्य जीवों तथा वन्य क्षेत्रों को सम्मिलित किया जाता है। (2) प्रबंधित (managaged) पारिस्थितिक संसाधन के अंतर्गत उन पारिस्थितिक तंत्रों के जंतु एवं वनस्पति संसाधनों को सम्मिलित किया जाता है जो मनुष्य द्वारा प्रबन्धित होते हैं, यथा–व्यापारिक एवं सामाजिक वन तथा कृषि।

पारिस्थतिकीय संसाधन प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्रों के महत्वपूर्ण तत्व होते हैं क्योंकि उनकी स्थिरता एवं अस्तित्व इन्हीं संसाधनों पर ही निर्भर करता है। पारिस्थितिक संसाधनों के अविवेकपूर्ण एवं अंधाधुंध विदोहन एवं प्राकृतिक आवासों के विनास के कारण पर्यावरण क्षरण तथा प्रदूषण होता है। तथा पारिस्थितिक तंत्र विक्षुब्ध एवं अस्थिर हो जाते हैं। इसलिए अब यह आवश्यक हो गया है कि पारिस्थितिक संसाधनों के परिरक्षण (preservation), संरक्षण (conservation) तथा प्रबंधन के लिए गम्भीर रूप से प्रयास किया जाए ताकि पारिस्थितिक संतुलन एवं पारिस्थितिक स्थिरता को कायम रखा जा सके।

टिप्पणी

पारिस्थितिक संसाधनों का प्रबंधन

पारिस्थितिक संसाधनों के प्रबंधन के अंतर्गत तीन पक्षों को सम्मिलित किया जाता है– (अ) पारिस्थितिक संसाधनों का सर्वेक्षण, (ब) पारिस्थितिक संसाधनों का मूल्यांकन तथा (स) पारिस्थितिक संसाधनों का परिरक्षण एवं संरक्षण।

(अ) पारिस्थितिक संसाधनों का सर्वेक्षण– किसी भी देश या प्रदेश के पारिस्थितिक संसाधनों के प्रबंधन का पहला चरण होता है, वहां के समस्त पारिस्थितिक संसाधनों का वृहद् सर्वेक्षण करके उनकी तालिका तैयार करना। इस प्रकार प्राप्त विशद आंकड़ों का वर्गीकरण किया जाता है। ज्ञातव्य है कि आज तक पारिस्थितिक संसाधनों के सर्वेक्षण के लिए कोई ऐसा सर्वमान्य एवं मानक विधितंत्र (methodology) सुलभ नहीं हो पाया है जिसका सभी देशों एवं प्रदेशों में प्रयोग किया जा सके। विश्व के विभिन्न भागों में विभिन्न विधियों एवं तकनीकों के आधार पर स्थानीय एवं व्यक्तिगत स्तर पर पारिस्थितिक संसाधनों के सर्वेक्षण के लिए प्रयास किए गए हैं। इस प्रकार स्थानीय एवं व्यक्तिगत विधितंत्रों के आधार पर विभिन्न देशों एवं प्रदेशों में प्राप्त किए गए पारिस्थितिक संसाधनों के आंकड़ों तथा तालिकाओं की आपस में तुलना नहीं की जा सकती है। स्पष्ट है कि सर्वप्रथम पारिस्थितिक संसाधनों के सर्वेक्षण एवं उनकी तालिका तैयार करने के लिए सर्वमान्य मानक विधितंत्र की आवश्यकता है।

(ब) पारिस्थितिक संसाधनों का मूल्यांकन– C.C. Park (1980) ने पारिस्थितिक संसाधनों के मूल्यांकन की सभी विधियों तथा उपागमों को चार वर्गों में विभाजित किया है–

(i) एक जाति के आधार पर पारिस्थितिक संसाधनों के मूल्यांकन का उपागम (approach)। इस उपागम के अंतर्गत जातियों की अद्वितीयता की मात्रा (degree of uniqueness of species) के आधार पर मूल्यांकन किया जाता है।

(ii) किसी क्षेत्र में पारिस्थितिक मण्डलों (zones) के मूल्यांकन विधि तथा उपागम। इस उपागम के अंतर्गत पारिस्थितिक संसाधनों का मूल्यांकन सामान्यतया पारिस्थितिक विभिन्नता के आधार पर किया जाता है।

(iii) आवासों (habitats) के मूल्यांकन के आधार पर पारिस्थितिक संसाधनों के मूल्यांकन की विधि तथा उपागम। इसके अंतर्गत मूल्यांकन एकाकी जातियों की विशेषताओं के आधार पर किया जाता है।

(iv) आवासों तथा पारिस्थितिक मण्डलों के मूल्यांकन पर आधारित विधि तथा उपागम। इसके अंतर्गत परिस्थितिकीय संसाधनों का मूल्यांकन वनस्पति एवं अन्य आधारों पर एक साथ किया जाता है।

(स) पारिस्थितिक संसाधनों का परिरक्षण एवं संरक्षण– सामान्यतया लोग परिरक्षण तथा संरक्षण का प्रयोग समानार्थी शब्दों के अर्थ में करते हैं जबकि इनमें पर्याप्त अंतर है। पारिस्थितिक सन्दर्भ में परिरक्षण का अर्थ होता है विशेष रूप से सुरक्षित क्षेत्रों में पौधों तथा जंतुओं की दुर्लभ एवं संकटापन्न जातियों (rare and endangered species) की भलीभांति देख–रेख करना ताकि उनकी संख्या में आदर्शतम स्तर तक वृद्धि हो सके। दूसरी तरफ संरक्षण एक प्रक्रिया

टिप्पणी

है जिसका उद्देश्य होता है, प्राकृतिक संसाधनों का इस तरह समुचित उपयोग, परिरक्षण तथा प्रबंधन किया जाए ताकि वे मानव द्वारा विवेकपूर्ण उपयोग के लिए सदा सुलभ हो सकें तथा पारिस्थितिक संतुलन बना रहे। वास्तव में संरक्षण व्यावहारिक पारिस्थितिकी (applies ecology) है। जिसके अंतर्गत प्राकृतिक एवं पारिस्थितिक संसाधनों के लाभप्रद उपयोग एवं संरक्षण में आधारभूत पारिस्थितिक नियमों एवं सिद्धांतों का उपयोग किया जाता है।

E.P. Opdum (1971) के अनुसार, संरक्षणवादी के समक्ष दो प्रमुख लक्ष्य होते हैं–

(i) एक ऐसे गुणवत्तायुक्त स्वस्थ पर्यावरण के परिरक्षण को सुनिश्चित करना जिसका सौन्दर्य, मनोरंजन एवं आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त महत्व हो।

(ii) पारिस्थितिक संसाधनों के विदोहन एवं उनके नवीनीकरण में इस तरह संतुलन कायम करना कि जनता को उसके उपयोग के लिए प्रति वर्ष आवश्यक सामग्रियां प्राप्त होती रहें तथा पारिस्थितिक संतुलन भी बना रहे।

पारिस्थितिक संसाधनों के परिरक्षण एवं संरक्षण के लिए निम्न उपायों को अमल में लाया जा सकता है–

(i) प्रकृति–प्रारक्षण की व्यवस्था,

(ii) राष्ट्रीय उद्यानों एवं वन विहारों (sanctuaries) की स्थापना,

(iii) संकटापन्न जातियों की सुरक्षा के लिए संरक्षित स्थानों (protected areas) की स्थापना, यथा– भारत में प्रोजेक्ट टाइगर,

(iv) नियमों एवं कानूनों का बनाना तथा उनका कड़ाई के साथ कार्यान्वयन करना,

(v) आवासों के सुधार से संबंधित कार्यक्रम,

(vi) संकटापन्न जातियों की संख्या की नियमित रूप से गणना करना,

(vii) संक्रामक रोगों के फैलने के समय बीमार जंतुओं का बड़े पैमान पर उपचार करना,

(viii) वन्य जंतुओं के व्यवहार का अध्ययन करने के लिए शोध केन्द्रों एवं संस्थानों की स्थापना,

(ix) पारिस्थितिक संसाधनों के पर्यावरण मूल्यों के विषय में आम जनता को पर्यावरण की प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था आदि।

पारिस्थितिक संसाधनों के संरक्षण के तीन उपागम हो सकते हैं–

(i) जातियों का संरक्षण,

(ii) जाति समुच्चय की सुरक्षा

(iii) आवास क्षेत्रों की रक्षा तथा परिरक्षण।

पर्यावरण अधिप्रभाव का आकलन

(अ) पर्यावरण संसाधनों के विदोहन एवं उपयोग से संबंधित मानव क्रियाकलापों के प्राकृतिक पर्यावरण पर पड़ने वाले सम्भावित प्रभावों को पर्यावरण अधिप्रभाव (environmental impact) तथा इन प्रभावों के आकलन एवं मूल्यांकन को सम्मिलित रूप से पर्यावरण अधिप्रभाव आकलन कहते हैं। पर्यावरण संसाधनों के

टिप्पणी

विदोहन से संबंधित मानव क्रियाकलापों के प्राकृतिक पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों के विषय में सामान्य वक्तव्यों को पर्यावरण अधिप्रभाव–कथन (environmental impact statement) कहते हैं। पर्यावरण अधिप्रभाव–कथन (EIS) के अध्ययन के अंतर्गत दो प्रमुख पक्षों को सम्मिलित किया जाता है–

(i) किसी भी प्रस्तावित कार्यक्रम या योजना के प्राकृतिक पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभावों या प्राकृतिक पर्यावरण में भावी परिवर्तनों का अनुमान करना तथा

(ii) इन पर्यावरण परिवर्तनों के मानव समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का आकलन करना। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि पर्यावरण अधिप्रभाव–आकलन मनुष्यों के विविध कार्यों (यथा–भूमि उपयोग में परिवर्तन, निर्माण कार्यों, उत्पादन कार्यों आदि) द्वारा प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों एवं इन परिवर्तनों के लिए मानव समाज पर पड़ने वाले प्रभावों के आकलन एवं निर्धारण की विधि है।

(ब) पर्यावरण अधिप्रभाव के आकलन की विधियां–पर्यावरण अधिप्रभाव के आकलन का कार्य संयुक्त राज्य अमेरिका में 'राष्ट्रीय पर्यावरण नीति अधिनियम' (NEPA National Environmental Policy Act) के सन् 1969 में पारित होने के साथ ही प्रारम्भ हुआ। इस अधिनियम के निम्न चार प्रमुख उद्देश्य थे।

1. मनुष्य एवं पर्यावरण के मध्य मधुर संबंध स्थापित करने के लिए राष्ट्रीय नीति की घोषणा करना।
2. पर्यावरण एवं जीवमण्डल की क्षति को रोकने या पूर्णतया समाप्त करने के लिए प्रयास करना तथा मनुष्य के स्वास्थ्य एवं कल्याण के लिए कार्य करना।
3. राष्ट्र के लिए उपयोगी प्राकृतिक संसाधनों तथा पारिस्थितिक तंत्रों की समझ को बढ़ाना।
4. पर्यावरण गुणवत्ता परिषद् (CEQ = Council on Environmental Quality) की स्थापना करना।

5.2.3 पर्यावरण क्षरण तथा प्रदूषण नियंत्रण

पर्यावरण क्षरण का अर्थ है– पर्यावरण की गुणवत्ता तथा मात्रा में कमी आना। इसमें संसाधनों का ह्रास और पर्यावरण प्रदूषण शामिल है। मात्रा का संबंध कुछ खनिजों के समाप्त होने, वन क्षेत्र में कमी आने और कुछ वन्य जीव प्रजातियों के लुप्त होने से है और गुणवत्ता का भूमि, वायु, जल आदि प्रदूषण से है।

पर्यावरण क्षरण के कारण हमारे प्राकृतिक संसाधन समाप्त हो रहे हैं तथा कुछ प्राकृतिक संसाधन जैसे जल, वायु तथा भूमि प्रदूषित हो रहे हैं। आगे हम इसी मुद्दे पर चर्चा करेंगे कि प्रदूषण क्या है? यह कैसे फैलता है? तथा इसको नियंत्रित करने के लिए क्या रणनीति अपनाई जा सकती है?

प्रदूषण का अर्थ

प्रदूषण का अर्थ है– वायु, जल और भूमि को गंदा करने वाली अवांछित गंदगी और कूड़ा–कचरा। पर्यावरण में छोड़ा गया पदार्थ जो किसी भी जीव को हानि पहुंचाने की

टिप्पणी

क्षमता रखता है, प्रदूषक कहलाता है। उदाहरण के लिए, विषैले रसायन। वास्तव में प्रदूषण का सीधा संबंध मनुष्य की उन क्रियाओं से है जो प्रकृति का ध्यान रखे बिना ही पूरे किए जाते हैं।

प्रदूषण के प्रकार

प्रदूषण सामान्यतः निम्न प्रकार के होते हैं–

1. वायु प्रदूषण

वायु प्रदूषण मुख्य रूप से जीवाश्म (fossil) ईंधनों के जलाने तथा मोटर वाहनों से निकले धुएं से ही होता है। यह भूमि, वनस्पति, जीव–जंतुओं, मनुष्यों तथा भवनों और स्मारकों को भी प्रवाहित करता है। ब्रोंकाइटिस और निमोनिया जैसी सांस की बीमारियों में वृद्धि का कारण वायु प्रदूषण ही है।

वायु प्रदूषण वायु में स्थगित विविक्त पदार्थ (Suspended porticulate matter) और हानिकारक गैसों के होने से उत्पन्न हो जाता है। राख, धूल और धुओं से उत्पन्न होने वाली कार्बन डाइऑक्साइइड, कार्बन मोनोक्साइड और सल्फर डाइऑक्साइड वायु को प्रदूषित करने वाली मुख्य गैसें हैं। इनसे मानव स्वास्थ्य और वन्य जीवन दोनों को ही हानि होती है। विश्व में लगभग 6.25 करोड़ लोग ऐसे क्षेत्रों में रहते हैं, जहां की वायु अस्वास्थ्यकर है।

वायु प्रदूषण मुख्य रूप से एक शहरी और औद्योगिक धारणा है। परंतु यह ग्रामीण क्षेत्रों में भी लकड़ी से खाना बनाने और चावल मिलों तथा ईंट चिमनियों से निकलने वाले धुओं से उत्पन्न होता है। शहरों में धूल प्रदूषण मुख्यतः निर्माण कार्य से उत्पन्न होता है।

वायु प्रदूषण का सबसे बुरा प्रभाव प्रभावित जनसंख्या के स्वास्थ्य पर होता है। इससे सर्दी–जुकाम, खांसी, दमा और फेफड़ों के कैंसर जैसी बीमारियां हो जाती हैं। कार्बन मोनोऑक्साइड रक्त नलिकाओं में होमोग्लोबिन से मिलकर उनकी ऑक्सीजन ले जाने की क्षमता को घटा देती है। सल्फर डाइऑक्साइड भी एक गंभीर प्रदूषक है जो श्वास प्रणाली (respiratory system) को प्रभावित करती है। गाड़ी से निकलने वाले हाइड्रोकार्बन से फेफड़ों का कैंसर होता है।

वायु प्रदूषण मनुष्य के लिए ही नहीं, बल्कि पेड़–पौधों, वृक्षों एवं जानवरों के लिए भी हानिकारक होता है। इससे मवेशियों, बिल्लियों, कुत्तों तथा अन्य छोटे जानवरों में गंभीर बीमारी होने से उनकी मृत्यु हो जाती है। गाड़ियों से निकलने वाला धुआं, आलू, टमाटर, कुछ खाद्यान्न फसलों एवं फूलों के लिए अत्यधिक हानिकारक होता है।

विकिरण भी प्रदूषण का एक स्रोत है। मोबाइल फोन, एक्सरे, आदि से होने वाले विकिरण का भी मनुष्यों और जीव–जंतुओं पर व्यापक दुष्प्रभाव होता है। परमाणु विकिरण से होने वाले वायु प्रदूषण से बड़े पैमाने पर मृत्यु एवं महाविनाश होता है।

ओजोन ह्रास (Ozone Depletion)– जीवाश्म ईंधनों के जलने से और क्लोरोफ्ल्यूरोकार्बन गैस से ऊपरी वायुमंडल की ओजोन परत तेजी से खत्म हो रही है। ओजोन परत के खत्म होने से सूर्य का हानिकारक पराबैंगनी विकिरण (ultraviolet radiation) सीधा पृथ्वी के धरातल तक पहुंच रहा है। इससे त्वचा के कैंसर की घटनाओं के बढ़ने की आशंका बढ़ गई है। यही नहीं, इससे मनुष्य की आंखों के खराब होने का भी खतरा है।

टिप्पणी

ग्रीन हाउस प्रभाव (Green House Effect)– ग्रीन हाउस प्रभाव, ओजोन ह्रास के परिणामस्वरूप पृथ्वी पर पड़ने वाले प्रभाव से संबंधित है। ग्रीन हाउस, छत और शीशे की बनी दीवारों का एक बड़ा कमरा होता है। इसका प्रयोग उन पेड़–पौधों की वृद्धि का परीक्षण करने के लिए किया जाता है। जिनके लिए उष्ण (warm) तापमान की आवश्यकता होती है। जैसे–जैसे सूर्य की किरणें ग्रीन हाउस में इसके पारदर्शी शीशे से लघु तरंग विकिरण के रूप में प्रवेश करती हैं तो इसका तापमान गर्म हो जाता है। रात के समय में जब पृथ्वी पीछे की ओर दीर्घ तरंग (long wave) में विकिरण करती है तो ग्रीन हाउस गर्म ही रहता है। क्योंकि शीशा दीर्घ तरंग विकिरण (long wave radiation) को प्रेषित नहीं कर सकता है।

औद्योगिक क्रियाओं के विस्तार होने से वायुमंडल में अपशिष्ट कार्बन की बढ़ती हुई मात्रा ने पृथ्वी के ऊपर अपारदर्शी दीवार (Opaque wall) की तरह काम करना प्रारंभ कर दिया है, जो संपूर्ण विकिरण को अंतरिक्ष में जाने नहीं देती है। इससे पृथ्वी निरंतर गर्म होती जा रही है। इसके साथ ही ओजोन के ह्रास होने से भी पृथ्वी को भेजे गए सूर्य के विकिरण में वृद्धि हो रही है। जिससे वायुमंडल गर्म हो रहा है, इससे पारिस्थितिकी संतुलन (ecological balance) को भारी खतरा उत्पन्न हो गया है। उदाहरणार्थ, पृथ्वी के तापमान में एक सीमा के बाद की वृद्धि अंटार्कटिका क्षेत्र में बर्फ को पिघला देगी जिससे पृथ्वी का निचला भाग जलमग्न हो जाएगा।

अम्लीय वर्षा (Acide Rain)– गाड़ियों से निकलने वाला धुआं कोयला जैसे जीवश्म ईंधनों (fossil fuels) के जलने से एक प्रमुख वायु प्रदूषक, सल्फर डाइऑक्साइड उत्पन्न होता है। यह गैसीय मिश्रण जल वाष्प से प्रतिक्रिया करके हल्के सल्फाइड अम्ल का निर्माण करता है। यह अम्ल मछली को अत्यधिक हानि पहुंचता है। फैक्टरियो द्वारा प्रदूषण कम करने के लिए चिमनियों की ऊंचाई प्रायः अधिक रखी जाती है। इससे वायु प्रदूषण प्रत्यक्ष रूप से कम होता है परंतु अम्लीय वर्षा में वृद्धि होती है।

इसके उपचार

वायु प्रदूषण की समस्या से निपटने के लिए निम्न उपाय अपनाए जा सकते हैं–

(i) प्रदूषण उत्पन्न करने वाले साधनों तथा प्रक्रियाओं के बदले सापेक्षिक रूप से प्रदूषण मुक्त साधनों और प्रक्रियाओं का प्रयोग होना चाहिए। उदाहरण के लिए पेट्रोल और डीजल से ऊर्जा प्राप्त करने के बदले परमाणु ऊर्जा, सौर ऊर्जा तथा वायु ऊर्जा तथा थर्मल पावर प्लांट के बदले हाइड्रो इलेक्ट्रिक प्लांट का प्रयोग होना चाहिए।

(ii) प्रत्यक्ष प्रदूषण कटौती के माध्यम से भी इसे कम किया जा सकता है। ऐसा धुआं कम करने के लिए स्थिर–वैद्युत अवक्षेपकों (Electrostatic precipitators) एवं मार्जकों (Scrubbers) के प्रयोग द्वारा धूल कम करने के लिए पानी सींचकर किया जाता है।

(iii) वायु प्रदूषण कम करने का एक उपाय यह है कि पावर प्लांटों द्वारा आधे–जले पदार्थों द्वारा छोड़ी गई दहनशील गैसों को पूर्णतः जलाया जाए। पूर्णतः जलाने से अत्यधिक जहरीले कार्बन मोनोक्साइड को अपेक्षाकृत हानिरहित कार्बन डाइआक्साइड में बदला जा सकता है।

(iv) सरकार को ऐसा कानून बनाना चाहिए जिससे सभी फैक्टरियों के लिए प्रदूषण नियंत्रण उपकरण लगाना अनिवार्य हो।

टिप्पणी

2. जल प्रदूषण

जल प्रदूषण कई कारणों से होता है। जिनमें मुख्य हैं : औद्योगिक कचरे, शहरों का गंदा पानी एवं ठोस (solid) कचरे तथा कृषि प्रदूषक। औद्योगिक प्रक्रिया में प्रयोग किए गए पानी को झीलों, नहरों, नदियों या तालाबों में बहा दिया जाता है। इस अपशिष्ट जल में कई प्रदूषक होते हैं जो जल को मानवीय प्रयोग के लिए अनुपयुक्त बना देते हैं। साथ ही, मछलियों और पक्षियों के लिए भी यह जल हानिकारक हो जाता है। शहरी गंदा पानी तथा ठोस कचरे नदियों और झीलों में डाल दिए जाते हैं। इनके सड़ने–गलने के लिए ऑक्सीजन की जरूरत होती है। गंदगी और कचरे से जल में ऑक्सीजन की कमी हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप मछलियां, और अन्य जीव मर सकते हैं। अवसाद (sediments) और रासायनिक प्रदूषक, जलीय पौधों और जीवन–जंतुओं के लिए भी हानिकारक होते हैं। पौधों के पोषक (nutrients) जैसे उर्वरक और विषैले रसायन जैसे अम्ल, कृषि प्रदूषक हैं। पाइप लाइनों और ट्रकों से रिसने वाला तेल, धरातल के नीचे चला जाता है तथा भूमिगत जल को प्रदूषित कर देता है। जहाजों से रिसने वाले तेल से जल पर तेल की परत बन जाती है तथा समुद्री जल की सतह पर फैल जाती है। यह समुद्री जीवों को हानि पहुंचाती है।

जल प्रदूषण को सामान्यतः प्रदूषण करने वाले तत्वों कोऑक्सीकरण करने के लिए आवश्यक कुल ऑक्सीजन की आवश्यकता द्वारा मापा गया है। इसे कैमिकल ऑक्सीजन मांग कहते हैं। केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के अनुसार 17 उद्योग सर्वाधिक प्रदूषक हैं जिनमें पेट्रोलियम तेलशोधक कारखाने, पेपर मिल और कपड़ा मिल प्रमुख हैं। सर्वोच्च न्यायालय के निर्देशानुसार भारत सरकार ने कई सफाई कार्यक्रम चलाए हैं, जैसे 1985 में गंगा कार्य योजना (The Ganga Action Plan)।

3. ध्वनि प्रदूषण

आधुनिक जीवन शैली ने ध्वनि प्रदूषण की समस्या को बढ़ा दिया है। यह एक शहरी–औद्योगिक धारणा है जो गहन आबादी से उत्पन्न होती है। यह प्रदूषण इस अर्थ में अद्वितीय है कि इसका संबंध वस्तुओं से नहीं बल्कि क्रियाओं से है। भीड़–भाड़ वाला शहर, औद्योगिक मशीनरी और प्रक्रियाएं, यातायात के यांत्रिक साधन, निर्माण एवं मनोरंजन के लिए उपकरण अपनी निरंतर ध्वनि से वातावरण को प्रदूषित करते रहते हैं।

ध्वनि का ऊंचा स्तर मनुष्य को कई प्रकार से प्रभावित करता है। यद्यपि मानवीय स्वास्थ्य पर इसका प्रभाव सापेक्षिक है। परंतु इससे तंत्रिका–तंत्र में विकार उत्पन्न होता है और बहरापन के अतिरिक्त अनिद्रा, सरदर्द, चिड़चिड़ापन एवं थकावट की बीमारियां हो जाती हैं।

अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली के अध्ययन के अनुसार, हमारे देश के महानगरों और अन्य बड़े शहरों के औसत ध्वनि स्तर WHO द्वारा दिए गए मानक से बहुत अधिक है।

5.2.4 राष्ट्रीय पर्यावरण नीति

टिप्पणी

भारत सरकार ने 1972 में पर्यावरण आयोजन व समन्वय राष्ट्रीय समिति (National Committee on Environmental Planning and Coordination) का गठन किया। इस समिति को जिम्मेदारी सौंपी गई कि वह पर्यावरण संबंधी नीतियों एवं कार्यक्रमों का पुनः अवलोकन करें। इस समिति के प्रयासों से इस दिशा में नई वैधानिक कार्यवाही की शुरुआत हुई तथा पर्यावरण संरक्षण के लिए संस्थात्मक ढांचा तैयार किया। भारतीय संविधान में पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं थे। यह काम 1976 में किया गया जब संविधान में 42वें संशोधन के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण को संविधान में शामिल किया गया। 1976 में राज्य के निर्देशक सिद्धांतों में अनुच्छेद 48 शामिल किया गया जिसमें कहा गया कि ''राज्य, पर्यावरण संरक्षण तथा सुधार का प्रयास करेगा।'' नई उभर रही समस्याओं व चुनौतियों का सामना करने के लिए 1980 में पर्यावरण विभाग स्थापित किया गया तथा 1985 में पर्यावरण व वन मंत्रालय (Ministry on Environment and Forests) का गठन किया गया। यह मंत्रालय अब पर्यावरण संबंधी मुद्दों पर नीति निर्णय लेने वाली तथा आवश्यक वैधानिक व्यवस्था करने वाली शीर्ष संस्था है। इस मंत्रालय के मुख्य उद्देश्य हैं– (1) वनस्पति, जीव–जंतु वन तथा वन–प्राणियों का संरक्षण, (2) प्रदूषण को रोकना व उससे बचाव, (3) वनरोपण करना तथा अधःपतन से ग्रस्त भूमि का पुनरुद्धार, तथा (4) पशुओं का कल्याण सुनिश्चित करना। मई 2006 में व्यापक राष्ट्रीय पर्यावरण नीति (National Environment Policy) की घोषणा की गई। इस नीति की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं–

1. **आपदा प्रबंध**– भूवैज्ञानिक परिस्थितियों के कारण भारत के बहुत से क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें प्राकृतिक आपदाओं व अन्य आपदाओं का काफी खतरा है। उड़ीसा में आए भयानक चक्रवात तथा गुजरात के भूकम्प का ध्यान रखते हुए दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002–07) में पहली बार आपदा प्रबंधन को विकास का एक मुद्दा स्वीकार किया गया। योजना में आपदा प्रबंध पर एक पूरा अध्याय था जिसमें इन आपदाओं के संभावित परिणामों की चर्चा की गई तथा विकास प्रक्रिया में आपदा–प्रबंधन को किस प्रकार शामिल किया जाए इसका विश्लेषण किया गया। इस संबंध में सबसे महत्वपूर्ण कदम 2005 में उठाया गया जब आपदा प्रबंधन अधिनियम (Disaster Management Act, 2005) लागू किया गया। इस अधिनियम के तहत, प्रधानमंत्री के नेतृत्व में राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन अथॉरिटी (National Disaster Management Authority) का गठन किया गया है।
2. **जंगली जीवन का संरक्षण**– भारतीय संविधान में जंगली जीवन तथा वनों का संरक्षण केन्द्र तथा राज्य सरकारों की सांझा जिम्मेदारी है। जंगली जीवन के संरक्षण के लिए केन्द्र सरकार विभिन्न योजनाएं व नीतियां तैयार करती है जबकि राज्य वन विभाग इन योजनाओं व नीतियों को कार्यान्वित करते हैं। जंगली जीवन से संबंधित अपराधों को निपटाने के लिए जंगली जीवन अपराधन नियंत्रण ब्यूरो (Wildlife Crime Control Bureau) स्थपित किया गया है जिसके पांच क्षेत्रीय तथा तीन उप–क्षेत्रीय कार्यालय हैं। भारत सरकार का पर्यावरण तथा वन मंत्रालय जंगली जीवन के संरक्षण के लिए विभिन्न केन्द्रों द्वारा

टिप्पणी

आयोजित योजनाओं (Centrally Sponsored Schemes) के माध्यम से राज्यों सरकारों को तकनीकी व वित्तीय सहायता प्रदान करता है। जंगली जीवन (संरक्षण) अधिनियम, 1972 (Wild Life (Protection) Act, 1972) के संशोधन द्वारा अप्रैल 1973 में बाघों के संरक्षण के लिए प्रोजेक्ट टाइगर (Project Tiger) आरम्भ किया गया। इसके लिए राष्ट्रीय बाघ संरक्षण अथॉरिटी (National Tiger Conservation authority) का गठन किया गया। 1992 में सरकार ने केन्द्रीय जंतु–शाला अथॉरिटी (Central Zoo Authority) की स्थापना की।

3. **पर्यावरण संबंधी अनुसंधान**– 1985 से पर्यावरण व वन मंत्रालय पर्यावरण संबंधी अनुसन्धानों को प्रोत्साहित करने के लिए सहायता प्रदान करता आ रहा है। इस योजना का उद्देश्य पर्यावरण के बेहतर प्रबंधन के लिए उपयुक्त युक्तियों, तकनीकों तथा विधियों का पता लगाने हेतु सूचना इकट्ठा करना है। इसके अलावा, इस योजना के तहत संसाधन प्रबंधन, प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण तथा अधःपतन से ग्रस्त क्षेत्रों का दोबारा से पुनरुद्धार करने का प्रयास जारी है।

4. **संयुक्त वन प्रबंधन तथा वनरोपण**– 1जून, 1990 को पर्यावरण व वन मंत्रालय द्वारा जारी एक विज्ञप्ति के माध्यम से संयुक्त वन प्रबंधन की शुरुआत की गई जिसके तहत वनों के संरक्षण व प्रबंधन में जनता की भागीदारी का प्रावधान था। इस व्यवस्था का धीरे–धीरे प्रसार हुआ है तथा अब 2 करोड़ 20 लाख भागीदारी 1,06,479 समितियों के माध्यम में 28 राज्यों में 22.02 मिलियन हैक्टर वन क्षेत्र में कार्यरत है।

5. **वानस्पतिक उद्योगों को सहायता**– दुर्लभ स्थानीय पौधों के संरक्षण तथा रख रखाव के लिए 1992 में वानस्पतिक उद्यानों की सहायता की योजना लागू की गई। इस योजना के तहत वानस्पतिक उद्यानों व केन्द्रों को पौधों की दुर्लभ किस्मों के संरक्षण तथा रख–रखाव के लिए तथा इस संबंध में आवश्यक आधारिक संरचना के निर्माण के लिए एकमुश्त वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। नोएडा (उत्तर प्रदेश) में भारतीय गणतन्त्र का वानस्पतिक उद्यान (Botanical Garden of India Republic) स्थापित किया गया है। इसमें देश के दुर्लभ पौधों तथा विलुप्त–प्राय पौधों के संरक्षण की व्यवस्था की गई है। इस कार्य के लिए उचित प्रशिक्षण दिया जाता है तथा शिक्षा के माध्यम से पौधों की विभिन्नता के बारे में आवश्यक जानकारी उपलब्ध कराई जाती है।

6. **जलवायु परिवर्तन**– भारत जलवायु परिवर्तनों के प्रति अतिसंवेदनशील (vulnerable) है। पिछली सदी (1901–2000) में भारत के औसत तापमान में 0.4 डिग्री सेंटिग्रेड (centigrade) की वृद्धि हुई है। औसत तापमान में वृद्धि तथा वृष्टिपात (precipitation) में परिवर्तन के परिणामस्वरूप फसलों के ढांचे में परिवर्तन करने की जरूरत पड़ेगी। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि तापमान में 2.0 से 3.5 डिग्री सेंटिग्रेड वृद्धि तथा उससे जुड़े वृष्टिपात के कारण, कृषि क्षेत्र के सकल घरेलू उत्पाद में 9 से 28 प्रतिशत की गिरावट हो सकती है। दीर्घकाल में अधिकतर फसलों की उत्पादकता कम हो जाएगी। अल्पकाल में प्रभाव सीमित हो सकता है परंतु गर्मी का पशुओं की उत्पादकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है तथा दूध का उत्पादन गिर भी सकता है। जलवायु परिवर्तन से जल–संतुलन

टिप्पणी

भी बिगड़ सकता है जिसका पेड़–पौधों (वनस्पति) के कुल क्षेत्र पर, चारे (fodder) की उपलब्धि पर, ईंधन के लिए उपलब्ध लकड़ी तथा वन–उत्पाद पर, प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। अनुमान है कि जलवायु परिवर्तन से समुद्र के जल–स्तर में वृद्धि होगी जिससे कुछ तटीय क्षेत्र समुद्र में समा जाएंगे।

7. **पर्यावरण सूचना निकाय**– पर्यावरण से संबंधित जानकारी की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए पर्यावरण सूचना निकाय की स्थापना की है जिसका उद्देश्य पर्यावरण संबंधी सम्पूर्ण जानकारी एकत्रित करना, उसे व्यवस्थित रूप से रखना तथा उस जानकारी को विभिन्न शोधकर्त्ताओं, नीति–निर्धारकों, वैज्ञानिकों इत्यादि को उपलब्ध कराना है।

8. **पर्यावरण के प्रभावों का आकलन**– इसके अंतर्गत ऐसी परियोजना या कार्यक्रम का आकलन किया जाता है जो पर्यावरण को नुकसान पहुंचाता है। इसका उद्देश्य यह है कि धारणीय विकास प्राप्त करने के लिए अपनाई जाने वाली विकास–गतिविधियों में पर्यावरण से जुड़े मुद्दों को भी शामिल किया जा सके। 1978–79 में EIA की प्रक्रिया नदी घाटी योजनाओं में शुरू की गई और समय के साथ इसका आठ वर्गों में विभाजित 39 गतिविधियों में प्रसार किया गया है। पर्यावरण के प्रभावों का आकलन EIA अधिसूचना 2006 (EIA Notification of 2006) तथा तटीय नियमन ज़ोन अधिसूचना 1991 (Coastal Regulation Zone (CRZ) Notification 1991) के तहत किया जाता है।

9. **पर्यावरण संबंधी जानकारी तथा शिक्षण**– पर्यावरण प्रबंधन एवं संरक्षण से संबंधित कार्यक्रमों के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए उपयुक्त जानकारी का होना तथा पर्याप्त शिक्षण व सुविधाओं की उपलब्धि बहुत जरूरी है। जब तक लोगों को इस बात की जानकारी नहीं होगी कि प्राकृतिक संसाधनों का क्या महत्व है, उनका संरक्षण क्यों जरूरी है और यह संरक्षण किस प्रकार किया जाता है, तब तक वे पर्यावरण संरक्षण के कार्याक्रमों से जुड़ नहीं पाएंगे। इसलिए पर्यावरण संरक्षण के पूरे परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संबंधी जानकारी व शिक्षण का विशेष महत्व है। इस बात को ध्यान में रखते हुए पर्यावरण व वन मंत्रालय 'पर्यावरण शिक्षण, जानकारी व प्रशिक्षण' (Environmental Education, Awareness and Training) का एक विशेष कार्यक्रम चला रहा है ताकि जनता को पर्यावरण संरक्षण के बारे में जानकारी दी जा सके तथा यह काम कैसे किया जाए इस बारे में उन्हें प्रशिक्षित किया जा सके।

10. **खतरनाक अपशिष्ट तथा बायो–मेडिकल अपशिष्ट प्रबंध नियम**– भोपाल गैस त्रासदी से सरकार को यह सबक मिला कि बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठान खतरनाक तत्वों के गलत लापरवाह प्रयोग द्वारा हजारों लोगों की जान खतरे में डालते रहेंगे यदि उन्हें इस बात के लिए मजबूर नहीं किया जाता कि वे खतरनाक रसायनों व अपशिष्ट के प्रयोग में समुचित सावधानी बरतें। इस बात को ध्यान में रखते हुए सरकार ने 1989 में खतरनाक अपशिष्ट (प्रबंधन व प्रयोग) नियम (Hazardous Waste Management and Handling Rules) की घोषणा की। इस संबंध में सरकार ने खतरनाक तत्व प्रबंधन विभाग (Hazardous Substance Management Division) की स्थापना की जो खतरनाक रसायनों व

टिप्पणी

तत्वों के, प्लास्टिक के तथा अपशिष्ट के सुरक्षित प्रबंध की व्यवस्था करता है। बायो–मेडिकल अपशिष्ट (प्रबंधन व प्रयोग) नियम 1998 में जारी किए गए तथा 2000 व 2003 में उनमें संशोधन किए गए।

11. पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम, 1986– 3 दिसम्बर, 1984 के दिन भोपाल गैस त्रासदी से 3,500 से अधिक लोगों की मौत हुई और दो लाख से अधिक लोगों पर उसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इससे पर्यावरण संबंधी पुराने कानूनों की अपर्याप्तता तथा उनका ढुलमुल पालन सामने आ गया। इसलिए 1986 में एक व्यापक पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम पारित किया गया। यह अधिनियम निम्न कारणों से स्पष्ट है–

(i) इसमें केन्द्रीय सरकार को पूरे देश के लिए कानून बनाने का अधिकार दिया गया।

(ii) इसमें पर्यावरण की व्यापक परिभाषा ली गई तथा लगभग सभी प्रकार के प्रदूषणों के नियमन की व्यवस्था की गई।

(iii) इस अधिनियम के आधार पर सरकार ने प्रदूषण नियंत्रण, खतरनाक तत्वों के नियमन, पर्यावरण प्रभावों के आकलन, तथा तटीय व परिस्थितिकी रूप में संवेदनशील क्षेत्रों के संरक्षण के लिए व्यापक कानून बनाए।

(iv) इस अधिनियम में राज्य प्रदूषण बोर्डों को व्यापक प्रशासनिक अधिकार दिए गए ताकि वे प्रदूषकों को नियमों का पालन करने के लिए सीधे रूप से बाध्य कर सके। (जबकि इससे पूर्व उन्हें न्यायालयों का सहारा लेना पड़ता था)। इसमें केन्द्र प्रदूषण बोर्ड को भी सभी राज्य प्रदूषण बोर्डों पर वर्चस्व तथा अधिकार दिए गए।

(v) एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह थी कि इस अधिनियम ने आम नागरिकों को यह अधिकार दिया कि वे प्रदूषण फैलाने वाले उद्योगों के खिलाफ कानूनी कार्यवाही कर सकते हैं।

12. वायु की गुणवत्ता में सुधार– 1981 में वायु प्रदूषण को नियंत्रित करने के लिए एक अलग अधिनियम वायु (संरक्षण तथा प्रदूषण नियंत्रण) अधिनियम (Air (Prevention and Control; of Pollution) Act) अपनाया गया। प्रदूषण के प्रति एक एकीकृत नीति अपनाते हुए सरकार ने जल प्रदूषण बोर्डों को ही यह अधिकार भी प्रदान किया कि वे वायु प्रदूषण से संबंधित मुद्दों पर भी कार्यवाही कर सकते हैं। केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने 17 अत्यधिक प्रदूषण करने वाले वर्गों के अधीन 2301 प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड स्थापित किए जो 28 राज्यों व 4 केन्द्र शासित प्रदेशों में वायु की गुणवत्ता का परीक्षण 308 स्टेशनों की मदद से करते हैं ताकि (1) उपयुक्त मापदण्डों के आधार पर सही वायु की गुणवत्ता का अनुमान प्राप्त हो सके (2) लोगों के स्वास्थ्य पर तथा द्रव्यों की क्वालिटी पर वायु प्रदूषण के प्रभावों को रोका जा सके, (3) उपयुक्त संरक्षणात्मक एवं सुधार–कदम उठाए जा सकें तथा (4) प्राकृतिक परिशोधन प्रक्रियाओं (natural cleansing processers) के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सके।

13. जल की गुणवत्ता में सुधार– पहला प्रमुख पर्यावरण अधिनियम 1974 में पारित जल संरक्षण तथा प्रदूषण नियंत्रण अधिनियम (Water Prevention and

टिप्पणी

Control of Pollution) Act) था। यह जल प्रदूषण को रोकने की दिशा में पहला गंभीर प्रयास था। नए कानून के अधीन, जल प्रदूषण को रोकने के लिए, केन्द्र व राज्यों स्तरों पर बोर्ड (Boards) स्थापित किए गए। इन बोर्डों को अधिकार दिया गया कि वे उन सबके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही कर सकते हैं जो कानून का उल्लंघन करके जल प्रदूषण करते हैं। इन बोर्डों का खर्च उठाने के लिए 1977 में जल उपकर अधिनियम (Water Cess Act) लागू किया गया जिसमें यह व्यवस्था थी कि उद्योग अपने जल उपभोग पर कर दें। केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने 27 राज्यों एवं 6 केन्द्र शासित प्रदेशों में जल की गुणवत्ता के परीक्षण के लिए राष्ट्रव्यापी स्तर पर 1019 स्टेशनों (stations) का गठन किया है। सतही जल के लिए परीक्षण मासिक व त्रैमासिक आधार पर तथा भूमिगत जल के लिए वर्ष में दो बार किया जाता है। एक राष्ट्रीय नदी संरक्षण योजना (National River Conservation Plan) भी लागू की जा रही है।

राष्ट्रीय जल नीति, 2002– इसमें जल संसाधनों के एकीकृत (integrated) विकास व प्रबंधन पर जोर दिया गया ताकि सतही जल एवं भूमिगत जल का सही उपयोग सुनिश्चित किया जा सके, पूर्ण विकसित सूचना व्यवस्था बनाई जा सके, जल संरक्षण व मांग प्रबंध किया जा सके, लाभभोगियों को जल संसाधनों के सही प्रयोग के लिए प्रेरित किया सके, शिक्षण व प्रशिक्षण उपलब्ध कराया जा सके, तथा विभिन्न योजनाओं के परिणामस्वरूप प्रभावित लोगों के पुनर्वास का प्रबंध किया जा सके।

यह सच है, कि प्रति व्यक्ति आधार पर, भारत में ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन विश्व के कई देशों की तुलना में बहुत कम है। उदाहरण के लिए 2008 में भारत में कार्बन डाइआक्साइड का प्रति व्यक्ति उत्सर्जन विश्व की 4.38 टन औसत की तुलना में मात्र एक–चौथाई था (यूरोप में औसत का दसवां तथा अमेरिका में औसत का अठारहवां हिस्सा था)। भारत जलवायु परिवर्तन से होने वाले दुष्प्रभावों के प्रति अतिसंवेदनशील है। इन दुष्प्रभावों पर अंकुश लगाने के उद्देश्य से तथा वैश्विक स्तर पर जलवायु परिवर्तन से पर्यावरण को होने वाले नुकसान को करने के लिए विश्वव्यापी स्तर पर जितने भी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए हैं उन सबमें भारत ने बढ़–चढ़ कर हिस्सा लिया है। भारत ने 1992 में रियो (Rio) ब्राजील में जलवायु परिवर्तन संबंधी संयुक्त राष्ट्र के फ्रेमवर्क (UN Framework on Climate Change) पर हस्ताक्षर किए। वह दिसम्बर 1997 में क्योटो (Kyoto) जापान, में अपनाई गई क्योटो विज्ञप्ति (Kyoto Protocol) का भी हिस्सा है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जलवायु परिवर्तन संबंधी जितने भी वार्तालाप हुए हैं उनमें भारत ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। अपनी अंतर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियों को निभाते हुए भारत ने घरेलू स्तर पर भी जलवायु परिवर्तन की समस्याओं से जूझने के लिए कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए हैं। इस उद्देश्य के लिए उसने जलवायु परिवर्तन पर एक राष्ट्रीय कार्य–योजना (National Action Plan on Climate Change) लागू की है। इसके तहत आठ क्षेत्रों में राष्ट्रीय योजनाएं बनाई गई हैं। ये आठ क्षेत्र हैंः सौर ऊर्जा, ऊर्जा का बेहतर व दक्ष प्रयोग, धारणीय कृषि, धारणीय प्राकृतिक वास, जल, हिमालय का इको–सिस्टम (eco-system), वनों का प्रसार तथा जलवायु परिवर्तन से जुड़ी उपयोगी जानकारी। जलवायु परिवर्तन पर राष्ट्रीय कार्य–योजना के अतिरिक्त, सभी राज्यों से राज्य–स्तर पर भी कार्य–योजनाएं बनाने को कहा गया है। भारत सरकार ने इस बात की भी घोषणा की है। वह वर्ष 2020 तक सकल घरेलू उत्पाद की

ऊर्जा–उत्सर्जन गहनता (emission intensity) में, वर्ष 2005 की तुलना में, 20 से 25 प्रतिशत तक की कमी करेगी। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एक बहु–क्षेत्रीय कम कार्बन प्रयोग की विकास–युक्ति अपनाई जाएगी।

टिप्पणी

बारहवीं योजना में पर्यावरण नीति

पर्यावरण व वन मंत्रालय का ग्याहरवीं योजना में 9,231 करोड़ रूपये का व्यय हुआ (जो 95 प्रतिशत प्रयोग दर्शाता है) बारहवीं योजना (2012–2017) में पर्यावरण व वन–मंत्रालय के लिए, चालू कीमतों पर, 17,899 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। योजना में पर्यावरण, वन, जैविक विभिन्नता, जंगली जीवन व पशु कल्याण क्षेत्रों के 12 पालनीय (monitorable) लक्ष्य रखे गए हैं। इनमें से तीन लक्ष्य पर्यावरण व जलवायु परिवर्तन के क्षेत्र में, चार वानिकी के क्षेत्र में, तीन लक्ष्य जंगली जीवन, इको–पर्यटन (eco-tourism) एवं पशु कल्याण के क्षेत्र में, तथा दो इको–प्रणाली (eco-system) व पशु कल्याण के क्षेत्र में तथा दो इको–प्रणाली (eco-system) व जैविक विभिन्नता के क्षेत्र में हैं।

5.2.5 पर्यावरणीय बहिर्भाव तथा जलवायु परिवर्तन

बाहरी तत्वों की मौजूदगी एक महत्वपूर्ण कारक है जो आर्थिक कुशलता में रुकावट डालती है। बाहरी तत्वों (बहिर्भाव) से अभिप्राय आर्थिक इकाई के लाभकर तथा दुष्कर प्रभावों से है। आर्थिक इकाई, एक फर्म, एक उपभोक्ता या एक उद्योग हो सकता है। बहिर्भाव तब पैदा होते हैं जब एक आर्थिक इकाई दूसरों पर लागत (खर्चा) डाल देती है। जिसकी अदायगी उसे नहीं करनी पड़ती। ध्यान में रखने वाली बात यह है कि बाहरी तत्वों में दोनों बाहरी फायदे और बाहरी नुकसान शामिल हैं। आर्थिक वृद्धि तत्वों की अनुपस्थिति में, उत्पादकों और उपभोक्ताओं द्वारा किए गए खर्चे तथा प्राप्त होने वाले लाभों को बाजारी कीमतों द्वारा दर्शाया जा सकता है तथा प्राइवेट और सामाजिक लागतों (फायदों) में कोई अंतर नहीं होगा। जब बाहरी तत्व उपस्थित होते हैं तब निजी लागतों और फायदे पर आधारित बाजारी कीमतें सामाजिक लागतों और फायदे में अंतर होगा। किसी कार्य के लागत और लाभ को आंतरिकता कहा जा सकता है जब कोई उन्हें पूरी तरह से सहन कर सकता है। अधिकांश मामलों, बाहरी तत्वों की आंतरिकता नहीं हो सकती। यह उन मामलों में हो सकता है जहां व्यक्तिगत कार्य से सार्वजनिक अच्छाई और सार्वजनिक बुराई पैदा होती है, सार्वजनिक बुराई (पर्यावरण बहिर्भाव) एक ऐसी बुराई जो जो दूसरों के कल्याण को कम करती है वायु प्रदूषण एवं जल प्रदूषण इसके मुख्य उदाहरण हैं। सार्वजनिक बुराइयों को रोकने के लिए उचित मूल्य नीतियों एवं कुशलता संबंधी उपायों को लागू करना जरूर है ताकि दुर्लभ संसाधनों का श्रेष्ठतम उपयोग हो सके।

पर्यावरण बहिर्भाव का अर्थ

पर्यावरण संरक्षण अधिनियम 1986 के अनुसार पर्यावरण में जल, वायु, भूमि तथा इनका अंतर्संबंध जो हर जीवित प्राणियों के लिए आवश्यक है शामिल किया जाता है।

जनसंख्या वृद्धि तथा तीव्र औद्योगीकरण, पर्यावरण संसाधन जैसे भूमिगत जल, झीलों तथा नदियों का जल तथा शुद्ध वायु दुर्लभ संसाधन को दूषित करते हैं। औद्योगिक चिमनियों से निकलने वाला धुआं वायु को प्रदूषण करता है।

टिप्पणी

पर्यावरण बहिर्भाव के कारण

पर्यावरण बहिर्भाव के कुछ मुख्य कारण निम्नलिखित हैं–

1. **बाजार विफलता**– बाजार विफलता पर्यावरण बहिर्भाव का एक महत्वपूर्ण कारण है। इसका अर्थ पर्यावरण वस्तुओं और सेवाओं के लिए बाजारों का खराब कार्यकरण है। यह कीमत नियंत्रणों एवं सब्सिडियों द्वारा उत्पन्न बाजार विकृति हटाने में सरकारी नीति की विफलता दर्शाती है, बाजार विफलता, व्यक्तिगत संपत्ति अधिकारों के अभाव तथा उत्पादन या उपभोग में संयुक्तता के कारण होती है। उदाहरणार्थ, पहाड़ी क्षेत्रों में रह रहे किसानों द्वारा वन–कटाई भूमि पर अत्यधिक चराई से भू–क्षरण होता है, जिससे निचले क्षेत्रों में बाढ़ आ जाती है। निचले क्षेत्रों में रह रहे लोगों पर इन विपरीत प्रभावों का पहाड़ी क्षेत्रों के निवासियों द्वारा कोई विचार नहीं किया जाता है। ये बहिर्भाव बाजार शक्तियों द्वारा नियंत्रित नहीं होते हैं। अतः वे बाजार की विफलता प्रकट करते हैं।
2. **जनसंख्या वृद्धि**– तीव्र जनसंख्या वृद्धि पर्यावरण बहिर्भाव का एक अन्य मुख्य कारण है जिससे संसाधनों के तीव्र प्रयोग से देश के संसाधनों के प्रयोग पर दबाव बढ़ता है। जिसके परिणामस्वरूप वायु तथा जल प्रदूषण, जीव विविधता की कमी एवं भूमि का ह्रास होता है। तीव्र जनसंख्या वृद्धि संसाधनों को समाप्त कर देती है तथा पर्यावरण के लिए खतरा उत्पन्न करती है।
3. **कृषि विकास**– गहन खेती और उर्वरकों एवं कीटनाशकों के अत्यधिक प्रयोग से भूमि तथा जल संसाधनों का अति शोषण हुआ है। इनसे भू–क्षरण, जल ग्रस्तता एवं खारापन के रूप में भूमि का ह्रास होता है।
4. **औद्योगीकरण**– उर्वरक, लौह एवं इस्पात कैमिकल तथा तेल–शोधक जैसे उद्योगों की स्थापना से भूमि, वायु तथा जल प्रदूषण होते हैं। औद्योगिक शक्ति के स्रोतों के रूप में जीवाश्म, ईंधन खनिज एवं लकड़ी का प्रयोग, इन प्राकृतिक संसाधनों को समाप्त करता है।
5. **नगरीकरण**– तीव्र एवं अनियोजित नगरीकरण से अनेक पर्यावरण बाध्यताएं उत्पन्न हुई हैं। झुग्गियों तथा धनी आबादी वाले शहर, वायु तथा जल को प्रदूषित करते हैं तथा ठोस एवं हानिकारक कचरों की उत्पत्ति से बड़े पैमाने पर पर्यावरण अपकर्षण होता है।
6. **निर्धनता**– निर्धनता पर्यावरण बहिर्भाव का कारण भी है और परिणाम भी है। निर्धनता गैर सततता को प्रेरित करती है, क्योंकि निर्धन व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा प्राकृतिक संसाधनों का अधिक प्रयोग करता है क्योंकि वे उसे आसानी से प्राप्त हो जाते हैं। वे जीवन यापन के लिए भूमि जल खदान तथा वनों में काम करते हैं। दूसरी ओर ह्रास हुआ पर्यावरण अधिक निर्धनता उत्पन्न करता है, क्योंकि निर्धन अपनी जीविका के लिए प्राकृतिक संसाधनों पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर करते हैं।
7. **परिवहन विकास**– अल्पविकसित देश व्यापार एवं वाणिज्य के लिए परिवहन सुविधाओं का विस्तार कर रहे हैं परंतु वे इसके अध्ययन से वायु प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण एवं समुद्री प्रदूषण के रूप में पर्यावरण बहिर्भाव भी उत्पन्न करते हैं।

बन्दरगाहों के विकास से जहाजों से जल का बहाव होता है। जो मछलियों, प्रवाल–प्राचारों, कच्छ वनस्पतियों और भू–दृश्यों को विपरीत रूप से प्रभावित करता है।

टिप्पणी

पर्यावरण बहिर्भाव को कम करने के उपाय

पर्यावरण बहिर्भाव मनुष्य के स्वास्थ्य को हानि पहुंचाता है। आर्थिक उत्पादकता को घटाता है तथा इससे सुविधाओं को हानि होती है। पर्यावरण पर आर्थिक विकास के हानिकारक प्रभाव को आर्थिक और पर्यावरण नीतियों के विवेकपूर्ण चुनाव तथा पर्यावरण निवेशों द्वारा कम किया जा सकता है। नीतियों एवं निवेशों के बीच चुनाव का उद्देश्य आर्थिक विकास तथा सतत विकास में सामंजस्य करना है।

हम कुछ नीति उपायों की चर्चा नीचे कर रहे हैं।

1. **गरीबी दूर करना**– ऐसे विकास प्रोजेक्ट प्रारम्भ किए जाने चाहिए जो गरीबों के लिए रोजगार के व्यापक अवसर प्रदान करते हैं। सरकार को स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन सेवाएं तथा शिक्षा का विस्तार करना चाहिए ताकि ये गरीबों तक पहुंचे जो जनसंख्या वृद्धि को घटाने में मदद करें। आगे, पेय जल की आपूर्ति, सफाई प्रबंध की सुविधाएं, गंदी गस्तियों के स्थान पर वैकल्पिक आवास बनाने जैसी नागरिक सुविधाएं प्रदान करने के लिए किए जाने वाले निवेश से केवल कल्याण में ही वृद्धि नहीं होगी, बल्कि पर्यावरण में भी सधार होगा।
2. **सब्सिडी हटाना**– सरकार को शुद्ध वित्तीय लागत पर ही नहीं बल्कि पर्यावरण बाध्यताएं कम करने के लिए निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों द्वारा संसाधन प्रयोग के लिए सब्सिडियों को हटाना चाहिए। बिजली, उर्वरक, कीटनाशक, डीजल, पैट्रोल, गैस, सिंचाई, पानी आदि के प्रयोग पर सब्सिडी देने से इन पर फिजूलखर्च एवं पर्यावरण समस्याएं उत्पन्न होती हैं। पूंजी गहन एवं अत्यधिक प्रदूषण फैलाने वाले निजी एवं सार्वजनिक उद्योगों के लिए सब्सिडी देने से पर्यावरण अपकर्षण होता है। सब्सिडी को हटाने या घटाने से देश को देश को आर्थिक एवं पर्यावरण दो लाभ होंगे।
3. **संपत्ति अधिकारों को स्पष्ट करना एवं बढ़ाना**– संसाधनों के अत्यधिक प्रयोग पर संपत्ति अधिकारों के अभाव से पर्यावरण का बहिर्भाव होता है। इससे सामूहिक या सार्वजनिक भूमियों पर अति चराई, वन–कटाई एवं खनिजों, मछली आदि का अति शोषण होता है। निजी मलिकों को मालिकाना हक एवं काश्तकारी अधिकारों के स्पष्टीकरण करने और देने से पर्यावरण समस्याओं का हल होगा। उन स्थानों पर जहां वन, सिंचाई प्रणाली, मत्स्यपालन आदि का प्रयोग नियमित किया जाता है तथा, समुदाय द्वारा उनके उचित प्रयोग के नियम बनाए जाते हैं, वहां मालिकाना अधिकारों का प्रशासनिक लेखों में स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए।
4. **बाजार आधारित धारणाएं**– पर्यावरण के संरक्षण के लिए नियामक (Regulatory) उपायों के अतिरिक्त, बाजार आधारित धारणाएं अपनाने की अति आवश्यकता है। इनका उद्देश्य पर प्राकृतिक संसाधनों के प्रयोग करने की लागत अपनाने की अति आवश्यकता है। इनका उद्देश्य पर्यावरण पर प्राकृतिक संसाधनों के प्रयोग करने की लागत के विषय में उपभोक्ताओं एवं उद्योग को बताना है। ये लागतें

टिप्पणी

वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए चुकाई गई कीमतों में प्रतिबिम्बित होती हैं जिससे उद्योग और अंततः उपभोक्ता, वायु एवं जल प्रदूषण कम करने के लिए उनके द्वारा दिखाए मार्ग पर चलते हैं।

5. **नियामक नीतियां**– नियामक नीतियां भी पर्यावरण बहिर्भाव को कम करने में मदद करती हैं। नियामकों को कीमत, मात्रा एवं तकनीक के विषय में निर्णय लेने पड़ते हैं। निर्णय–निर्माण में उन्हें परिमाण या प्रदूषण की कीमत या संसाधन प्रयोग या तकनीकियों में से चुनाव करना होता है। नियामक अधिकारी को यह भी निर्णय करना पड़ता है कि पर्यावरण समस्या के लिए नीतियां प्रत्यक्ष हों या अप्रत्यक्ष। वह तकनीकी मानकों एवं नियामकों तथा वायु, जल एवं भूमि प्रदूषकों पर शुल्क निर्धारित करता है। नियामकों को सार्वजनिक एवं निजी दोनों क्षेत्रों के प्रदूषकों या संसाधन प्रयोगकर्ताओं के लिए पर्यावरण मानकों को लागू करने में निष्पक्ष होना चाहिए।
6. **आर्थिक प्रोत्साहन**– नियामक नीतियों की तरह आर्थिक प्रोत्साहन, कीमत मात्रा एवं तकनीकी संबंधित होते हैं। प्रोत्साहन सदैव वायु, जल एवं भूमि प्रयोग में प्रदूषकों की मात्रा हेतु संसाधन प्रयोगकर्ताओं के लिए परिवर्तनीय शुल्कों के रूप में होते हैं। यदि निर्धारित उत्सर्जन मानकों (emission standards) से कम कचड़े प्रदूषक उत्पन्न किए जाते हैं तो उन्हें छूट दी जाती है।
7. **व्यापार नीति**– पर्यावरण के संबंध में व्यापार नीति के दो निहितार्थ हैं– प्रथम घरेलू नीति सुधारों से संबंधित, और द्वितीय, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार नीति से संबंधित। घरेलू व्यापार नीति नगरों से दूर काम प्रदूषणकारी उद्योगों की स्थापना तथा क्लीनर तकनीक अपनाकर प्रदूषणकारी उद्योगों के लिए पर्यावरण अनुकूल प्रक्रियाओं के प्रयोग पर जोर देती है।

जलवायु परिवर्तन

वैश्विक उष्णता या जलवायु परिवर्तन से अभिप्राय धरती के वैश्विक वातावरण या क्षेत्रीय वातावरण में तबदीलियों से है। यह धारणा, अस्थिरता (variability) में परिवर्तनों या वायुमण्डल की औसत परिस्थिति की व्याख्या करता है। जिसकी समय अवधि दशकों से लेकर लाखों वर्षों की होती है।

बर्फानी नदियां जलवायु परिवर्तन की संवेदनशील सूचक (sensitive indicators) होती हैं। साधारणतः बर्फानी नदियां सर्दियों में बढ़ती और गर्मियों में घटती है। उनका बढ़ना और घटना प्राकृतिक अस्थिरता (variability) में परिवर्तनों या वायुमण्डल की औसत परिस्थिति की व्याख्या करता है जिसकी समय अवधि दशकों से लेकर लाखों वर्षों की होती है।

इन परिवर्तनों में मानवीय क्रियाओं का बड़ा योगदान है। मानव धरती पर दीर्घकाल से हैं। परंतु उनकी क्रियाएं (पुराने ईंधन को जलाना तथा अन्य विकासात्मक क्रियाएं) अब ऐसे स्तर पर हो रही हैं जो प्राकृतिक प्रणाली में दखल अन्दाजी कर रही हैं जैसे वैश्विक जलवायु (global climate)। यह विषय चूंकि जटिल और चुनौतीपूर्ण है, इसलिए जलवायु परिवर्तन के बारे में सूचना के वास्तविक स्रोत की आवश्यकता है। इसके अलावा यह भी मालूम होना चाहिए कि इन परिवर्तनों के भावी पर्यावरण एवं

टिप्पणी

सामाजिक तथा आर्थिक प्रभाव क्या होंगे? तथा उन परिवर्तनों को इस्तेमाल करने बारे क्या विकल्प हैं।

1988 में जलवायु परिवर्तन पर अंतर–सरकारी पैनल (The Inter Governmental Panel on Climate Change-IPCC) गठित किया गया। यह पैनल, संयुक्त राष्ट्र की दो संस्थाओं–विश्व ऋतु विज्ञान संस्था (World Meterological Organziation-WMO) तथा संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण प्रोग्राम (United Nations Environment Programme-UNEOP) द्वारा स्थापित किया गया है। इस पैनल का उद्देश्य, प्राणियों पर जलवायु परिवर्तन के जोखिमों का जायजा लेना है।

अप्रैल, 2007 में IPCC ने चौथी मूल्यांकन रिपोर्ट जारी की। जिसमें उल्लेख किया गया है कि विकासशील देशों विशेषकर बहुत निर्धन देशों को वैश्विक ऊष्णता के प्रभावों का सामना करना पड़ सकता है। इनमें प्रचण्ड गर्म हवाएं, आंधी तूफान, भारी वर्षा से बाढ़, गम्भीर सूखा, बहुमूल्य नस्लों (valuable species) का नाश, फसलों और मछलियों का नुकसान। IPCC ने चार जोन की निशानदेही (identified) की है।

संक्षेप में, गम्भीर सूखा, बढ़ते मरुस्थल, आंधी तूफानों से विनाश और बाढ़, भूमि कटाव (erosion), बहुत गर्म हवाएं, गर्मियों में दरिया का कम बहाव, जल दुर्लभता, अनाज की घटती उपज, जलवायु के कारण कीड़े और बीमारी का फैलना, धरती के नीचे जल स्तर का घटना तथा प्रदूषित होना, शुद्ध जल नदियों का खस्ता हाल, समुद्र तट पर मछली पकड़ना, लाल समुद्री चट्टानें (coral reefs) तथा समुद्री तटों पर बाढ़ (coastal flooding)– इन में से एक या कई प्रभावों ने इस शताब्दी के दौरान विश्व के सबसे गरीब देशों को बुरी तरह से प्रभावित किया है। अन्य पर्यावरण नुकसानों में शामिल हैं–आवश्यक नस्लों का नुकसान (loos of essential species) जैंसे पोआलीनेटर्ज (Poilinators) और धरती जीव (soil organisms), जंगल तथा फसल की आग, तथा बढ़ते ओजोन स्तर (rising ozone levels)। इन समस्याओं का अर्थ है कि पर्यावरण की बरबादी से उत्पादकता लाभों से हाथ धो बैठना।

वैश्विक ऊष्णता, विकसित देशों के लिए गम्भीर पर्यावरण चुनौती है। जलवायु परिवर्तन के अर्थशास्त्र 2006 की स्टर्न समीक्षा (2006 Stern Review on the Economics of Climatye Change) में उल्लेख किया गया है कि ''जलवायु परिवर्तन का सबसे ज्यादा नुकसान सबसे गरीब विकासशील देशों को होगा, हालांकि उन देशों का इस समस्या में योगदान बहुत कम है। अपनी नीची आय के कारण खर्चा करना उनके लिए कठिन होता है। अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का उत्तरदायित्व है कि वे गरीब देशों की सहायता करे ताकि वे जलवायु परिवर्तन अनुसार अपने आप को ढाल सकें। सहायता के बिना गम्भीर आशंका है कि विकास प्रगति बुरी तरह प्रभावित होगी।'' अन्य अध्ययनों के अनुरूप समीक्षा में कहा गया है कि ट्रापिक्स (tropics) में खाद्य उत्पादन को बहुत नुकसान पहुंचेगा। ट्रापिकल क्षेत्रों में हल्की–सी गर्मी से उत्पादन में गिरावट होगी। गर्मी का पारा जितना ऊंचा होगा उतना बुरा प्रभाव कृषि उत्पादन और पानी पर होगा। समीक्षा में यह भी कहा गया है कि प्रभावी उपाय किए जा सकते हैं यदि उन के बारे निर्णय जल्दी लिया जाए।

टिप्पणी

सबसे बुरा प्रभाव गरीबों पर पड़ता है। जो प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर रहते हैं। इसके अलावा शहरी और देहोती क्षेत्रों में गरीबों के आवास खराब तरीके से बने होते हैं और पर्यावरण के लिहाज से जोखिमपूर्ण होते हैं और अमीर लोग उन क्षेत्रों में नहीं रहते हैं। गरीबों के घर कीचड़, बांस, भूसा तथा कम खर्चीले सामान से बने होते हैं और खराब मौसम में पहले वहीं शिकार होते हैं। गरीब, जोखिमों का बीमा भी नहीं करा सकते जिनका सामना उन्हें करना पड़ता है। विश्व स्वास्थ्य संस्था (Word Health Organization-WHO) के अनुमान अनुसार, 1970 से प्रतिवर्ष, 1,50,000 मौतें वैश्विक ऊष्णता (global warming) से होती हैं। इन मौतों का कारण ऊष्णता से पैदा होने वाली बीमारियां (जैसे दस्त, मलेरिया, अल्प पोषण इत्यादि) हैं।

वैश्विक ऊष्णता, विकसित देशों द्वारा उत्पन्न समस्या है, परंतु यह समस्या केवल इन्हीं देशों को नहीं है। अब तक संचित ग्रीन हाउस गैसिज (cumulated green house gases) का निकास उच्च आय वाले देशों द्वारा हुआ है। चाहे विकसित देशों ने ग्रीन हाउस प्रदूषण को कम से कम करने के प्रयास किए हैं फिर भी विकासशील देशों के ग्रीन हाउस निकास पर अंकुश लगाना होगा जिसके भयानक दर से बढ़ने की सम्भावना है। इसके कई कारण हैं, लेकिन एशिया में तीव्र औद्योगिक वृद्धि इसका मुख्य कारण है। इस बात की आशंका है कि कोयले द्वारा उत्पादित बिजली (जैसे भारत, चीन और कई देशों में होता है) से स्थिति और बिगड़ेगी। विकासशील देशों में मरुस्थल, हानिकारक ग्रीन हाउस गैसिज का मुख्य स्रोत हैं। नुकसानों के अतिरिक्त ये गैसिज, बहुमूल्य जी–विविधता (biodiversity) तथा वायु और स्वच्छ जल की पर्यावरण सेवाओं को प्रभावित करती हैं।

जहां तक अंतराष्ट्रीय व्यापार तथा पर्यावरण गुणवत्ता के बीच संबंध की बात है, इस बात पर विवाद चल रहा है कि उदारीकृत व्यापार, पर्यावरण अपकर्षण का कारण तो नहीं है। विवाद का निष्कर्ष यह है कि ''कुल मिलाकर, व्यापार उदारीकरण से ऋणात्मक पर्यावरण बाध्यताएं उत्पादित होने की संभावना है, परंतु इससे कुछ पर्यावरण लाभ के होने की भी संभावना है।'' इसका अर्थ यह नहीं कि स्वतंत्र व्यापार को रोक देना चाहिए। बल्कि ऐसी लागत–प्रभावी नीतियों को अपनाना चाहिए जो बाध्यताओं को इष्टतम कर सकें। स्वतंत्र व्यापार से पर्यावरण अपकर्षण प्रदूषक भुगतान सिद्धांत (polluter pays principle) पर आधारित घरेलू नीति उपाय द्वारा कम किया जाना चाहिए। यह बेहतर है कि विदेशी कंपनी पर स्पष्ट तकनीक स्थानांतरित करने के लिए तथा चालू उद्योगों के लिए पर्यावरण स्वच्छ करने में सहायता देने के लिए जोर दिया जाए।

पर्यावरण संरक्षण एवं सुरक्षा पर कई नियम बनाए गए हैं, उनका पालन करना प्रत्येक देश के लिए अपेक्षित है।

जून 1992 में ब्राजील के रियो (Rio) शहर में 'अर्थ सम्मिट' (Earth Summit) में 132 देशों के राज्य अध्यक्षों ने एक समझौते को मूर्तरूप दिया, जिसका framework Conventiion on Climate Change) नाम दिया। इस समझौते पर 160 देशों ने हस्ताक्षर किए। इस समझौते ने एक पथ प्रशस्त किया ताकि जलवायु के बढ़ते हुए खतरों का सामना करने के लिए कोई सामान्य आधार तैयार किया जा सके। 1994 में जलवायु परिवर्तन पर अंतः सरकारी पैनल (Inter-Governmental Panel on Climate Change) ने

टिप्पणी

अपनी रिपोर्ट में इस बात का उल्लेख किया कि कोयला व तेल को जलाने से तो उत्सर्जन पैदा हो रहा है। वह सौर्य–गर्मी को वायुमण्डल में सामान्य से अधिक रोक रहा है। यह कहा गया कि वातावरण में हो रहे इन गंभीर परिवर्तनों से धरती के तापमान में तेजी से वृद्धि हो सकती है तथा कुछ क्षेत्रों में बाढ़ की समस्याओं से जूझना पड़ सकता है।

दिसम्बर 1997 में जापान के शहर क्योटो में जलवायु परिवर्तन सम्मेलन (Climate Change Convention) का आयोजन किया गया ताकि ग्रीनहाउस गैसों को कम करने के लक्ष्यों तथा समय–सारणी को तैयार किया जा सके। UNFCCC (United Nations Framework Convention on Climate Change) के तत्वाधान में आयोजित इस बातचीत में समझौते तक पहुंचने के लिए 5 वर्षों की अवधि लगी। समझौते को लागू करने के लिए उपयुक्त संख्या में देशों की स्वीकृति मिलने में 8 वर्ष लग गए। अमेरिका और आस्ट्रेलिया ने इस समझौते का अनुसमर्थन (ratification) नहीं किया। (दूसरे शब्दों में, इस समझौते के प्रति कोई वचनबद्धता स्वीकार नहीं की।)

क्योटो विज्ञप्ति में औद्योगिक देशों पर यह जिम्मेदारी डाली गई है कि वे 2012 तक अपने उत्सर्जन को 1990 में उत्सर्जन के स्तर से 5 प्रतिशत तक कम करें तथा विकासशील देशों की इस बारे में सहायता करें कि ये देश जलवायु परिवर्तन के बुरे प्रभावों से बच सकें। इस विज्ञप्ति में 37 औद्योगिक देशों तथा यूरोपीय समुदाय (जिन्हें परिशिष्ट I में शामिल किया गया) के लिए ग्रीन हाउस गैसों (GHG) से उत्सर्जन को कम करने संबंधी वैधानिक रूप से बाध्य लक्ष्य (legally binding targets) निर्धारित किए गए। क्योटो विज्ञप्ति 2005 में लागू की गई। इस संधि के अधीन चालू वचनबद्धता (current commitments) समाप्त होने का वर्ष 2012 है। कुल विश्वव्यापी उत्सर्जन को देखें तो क्योटो विज्ञप्ति में कोई बहुत उच्चाकांक्षी लक्ष्य निर्धारित नहीं किए थे। इसके अलावा, विकासशील देशों पर कोई मात्रात्मक लक्ष्य थोपे नहीं गए। आस्ट्रेलिया तथा अमेरिका द्वारा इस संधि का अनुसमर्थन न करने से उत्सर्जन कम करने के लक्ष्यों का 'आकार' और कम हो गया।

UNFCCC के तत्वाधान में दिसम्बर 2007 में इंडोनेशिया के शहर बाली में 15 दिन का संयुक्त राष्ट्र परिवर्तन सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन के तीन उद्देश्य थेः (1) 2012 के बाद की अवधि के लिए (जब क्योटो विज्ञप्ति के अधीन घोषित प्रथम बाध्यताओं की अवधि समाप्त होनी चाहिए थी) जलवायु परिवर्तन के मुद्दे पर बातचीत का दौर शुरू करना, (2) इस वार्ता के लिए मसौदा तैयार करना तथा (3) इस बारे में किसी समझौते पर पहुंचना कि इस बातचीत को कब पूर्ण कर लिया जाएगा। इस शीर्ष–सम्मेलन में शामिल देश इस बात पर सहमत हुए कि वैश्विक गर्मी का सामना करने के लिए नया मसौदा तैयार करने हेतु बातचीत का दौर शुरू किया जाए (अमेरिका ने इस प्रस्ताव का विरोध किया परंतु अंतिम दिन उसने सहमति जताई जिससे यह समझौता संभव हो सका)।

बाली शीर्ष–सम्मेलन में दो वर्षों तक बातचीत करने का मार्ग प्रशस्त किया ताकि 2009 के बाद नई संधि अपनाई जा सके जो क्योटो संधि का स्थान ले। इसमें अमेरिका को तथा चीन व भारत जैसे विकासशील देशों को भी शामिल किया गया। बातचीत के तहत उत्सर्जन कम करने के लक्ष्यों पर दीर्घकालीन समझौता करने पर भी जोर दिया गया। यह विश्वास व्यक्त किया गया कि वर्ष 2009 के अंत तक कोपनहैगन में बातचीत

टिप्पणी

का दौर पूरा कर लिया जाएगा और वर्ष 2012 के अंत नई संधि लागू की जा सकेगी। बातचीत में यह भी निर्णय लिया गया कि विकासशील देशों को भी उत्सर्जन कम करने के लिए स्पष्ट 'मापयोग्य एवं प्रमाणीय' (measurable and verifiable) कदम उठाने के लिए कहा जाएगा।

संयुक्त राष्ट्र के 192 सदस्य देशों के प्रतिनिधि डेनमार्क के शहर कोपनहैगन में 7 दिसम्बर, 2009 से 18 दिसम्बर, 2009 तक आयोजित 12 दिवसीय सम्मेलन में शामिल हुए। इस सम्मेलन का उद्देश्य एक ऐसे समझौते पर हस्ताक्षर करना था जिसमें ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन को कम करने के बारे में लक्ष्यों तथा समय–तिथियों (deadlines) को कानूनी रूप में बाध्यकारी (legally binding) जमा पहनाया जा सके। यह UNFCCC द्वारा बुलाई गई 15वीं कान्फ्रैंस थी (इसलिए इसे COP 15 या Conference of Partyies 15 भी कहा गया)। कोपनहैगन में स्वीकृत राजनैतिक समझौते में वैश्विक तापमान में वृद्धि को 2 डिग्री सेल्सियस से कम रखने का लक्ष्य रखा गया है जो वर्ष 2050 तक उत्सर्जन को 50 प्रतिशत कम करके प्राप्त किया जाएगा। इसके अलावा वैश्विक उत्सर्जन की पराकाष्ठा का एक वर्ष रखा गया है (बिना इस बात की चर्चा किए कि वह वर्ष कौन सा होगा)। इस समझौते में उत्सर्जन कम करने तथा आवश्यक परिवर्तन करने के लिए 2020 तक 130 बिलियन डालर (6.04 लाख करोड़ रुपये) की सहायता देने, क्योटो संधि के बारे में मतभेदों को दूर करने की बात भी की गई। कोपनहैगन समझौता एक स्वैच्छिक समझौता (voluntary agreement) है जिसे देश अपना सकते हैं। यह क्योटो संधि की तरह संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई दस्तावेज नहीं है। इसलिए यह केवल एक 'आशय पत्र' (letter of intent) है, इससे अधिक कुछ नहीं। विकसित देशों ने क्योटो संधि के क्योटो संधि के अधीन स्वीकृत उत्सर्जन लक्ष्यों को प्राप्त करने की भी कोई कोशिश नहीं की है। हालांकि यह एक कानूनी रूप से बाध्यकारी समझौता था। इसलिए यह विश्वास करना कि वे कोपनहैगन में स्वीकृत एक स्वैच्छिक, राजनैतिक तथा अबाध्यकारी समझौते में दिए गए लक्ष्यों को पूरा करने में कोई दिलचस्पी लेंगे, बेमानी है।

UNFCCC द्वारा कैन्कून (मैक्सिको) में 29 नवंबर, 2010 से 10 दिसम्बर, 2010 तक 16वीं कान्फ्रैंस बुलाई गई (इसलिए इसे Cop 16 कहा जाता है)। इस सम्मेलन में दीर्घकालीन संयुक्त कार्यवाही (Long-term Cooperative Action) सहमति हुई। मोटे तौर पर LCA 'सामान्य परंतु विभेदीकृत बाध्यताओं' (Common but Differentiated Responsibilities या CBDR) पर आधारित है। संयुक्त राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में इसका अर्थ यह है कि प्रदूषण को कम करने की मुख्य जिम्मेदारी विकसित व धनी राष्ट्रों को उठानी होगी (क्योंकि एक ओर तो अधिकतर प्रदूषण के लिए यही देश जिम्मेदार है तथा दूसरी ओर इनके पास अपार साधन हैं इसलिए वे प्रदूषण कम करने के प्रयास ज्यादा आसानी से कर सकते हैं)। हालांकि LCA में विकासशील देशों पर कार्बन डाइआक्साइड उत्सर्जन करने के कोई लक्ष्य नहीं थोपे गए परंतु यह निर्णय लिया गया कि उन्हें अपने उत्सर्जन कम करने वालों के प्रयासों को सूचित करना होगा तथा उनका मापन व पुष्टीकरण किया जाएगा (इसे measurement, reporting and verification या MRV व्यवस्था का नाम दिया गया)। इसके अलावा, अंतर्राष्ट्रीय परामर्श व विश्लेषण (International Consultations and Analysis या ICA) की भी व्यवस्था की गई ताकि

''सम्बद्ध देशों के सहयोग से तथा तकनीकी विशेषों के विश्लेषण की सहायता से उत्सर्जन प्रयासों में पारदर्शिता लाई जा सके तथा उनके प्रभावों का अध्ययन किया जा सके।''

टिप्पणी

UNFCCC द्वारा डरबन (दक्षिणी अफ्रीका) में 28 नवंबर, 2011 से 11 दिसम्बर, 2011 तक 17वीं कान्फ्रैंस बुलाई गई (इसलिए इसे CoP 17 भी कहा जाता है)। इस सम्मेलन में 195 राष्ट्रों ने हिस्सा लिया। इस कान्फ्रैंस का मुख्य उद्देश्य वैश्विक स्तर पर जलवायु परिवर्तन का नया समझौता अपनाना था क्योंकि क्योटो विज्ञप्ति (Kyoto Protocol) की प्रथम समयावधि (2008–2012) समाप्त हो रही थी। इसके अलावा, इस बात का भी प्रयास किया जाना था कि 2010 में किए गए कम से कम कुछ कैन्कून समझौतों से निपटने तथा वित्तीयन के लिए समझौते ताकि निर्धन देशों को अपने वनों के संरक्षण के लिए, जलवायु परिवर्तनों के प्रभावों के निदान के लिए तथा अपनी अर्थव्यवस्थाओं को अधिक पर्यावरण–सुरक्षित बनाने के लिए धनी देशों से संसाधन उपलब्ध कराए जा सकें।

दो सप्ताह के अथक प्रयासों के बाद, एक समझौता तैयार किया गया जिसे 'डरबन प्लेटफार्म' (Durban Platform) का नाम दिया गया। इसके तहत सभी भाग लेने वाले देशों की सरकारों ने वैश्विक गर्मी (global warming) से निपटने के लिए कानूनी रूप से बाध्य (legally binding) समझौता स्वीकार किया। इस समझौते की शर्तों को 2015 तक स्पष्ट कर दिया जाएगा तथा इसे 2020 से लागू किया जाएगा। कान्फ्रैंस में अंतरिम काल में क्योटो विज्ञप्ति को जारी रखने के प्रति भी सहमति व्यक्त की गई हालांकि केवल कुछ विकसित देश ही इसे लागू करने के लिए प्रतिबद्ध पाए गए (जैसे यूरोपीय संघ के देश)। इसके अलावा, डरबन प्लेटफार्म में लागू होने वाले ग्रीन जलवायु फंड (Green Climate Fund) की प्रबंध व्यवस्था पर भी समझौता किया गया। इस फंड में यह व्यवस्था है कि प्रति वर्ष निर्धन देशों को 100 बिलियन डालर की सहायता दी जाएगी ताकि वे जलवायु प्रभावों का सामना करने के लिए सक्षम हो सकें।

UNFCCC द्वारा 26 नवंबर, 2012 से 8 दिसंबर, 2012 तक दोहा (कतर) में 18वीं कान्फ्रैंस ऑफ पार्टीज (18जी conference of Parties) बुलाई गई। इसमें लगभग 200 देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में बहुत मामूली सफलता मिली तथा कुल मिलाकर इसके परिणामों को निराशाजनक माना जा सकता है। इस सम्मेलन की मात्र एक ही उल्लेखनीय उपलब्धि रही और यह उपलब्धि थी क्योटो को आठ वर्ष तक अर्थात 2020 तक जीवनदान (यह विज्ञप्ति 2012 को समाप्त हो रही थी)। जिन देशों ने क्योटो विज्ञप्ति की पहली अवधि (2008–12) में 1990 के स्तर से GHG उत्सर्जन में 5 प्रतिशत तक की कमी लोने की वचनबद्धता प्रकट की है परंतु कार्बन–आधारित ग्रीन हाउस गैसों के विश्व के तीन सबसे बड़े उत्सर्जक देशों (जापान, रूस तथा कनाडा) ने स्वयं को इस समझौते से अलग कर लिया है। अमेरिका ने जो कुछ वर्ष तक विश्व का सबसे अधिक बड़ा उत्सर्जक देश था और जिसका अब चीन के बाद दूसरा स्थान है, कभी भी क्योटो विज्ञप्ति को स्वीकार नहीं किया और न ही अब बढ़ी हुई अवधि में उसने इसे स्वीकार किया है। इस प्रकार, केवल कुछ चुनिंदा विकसित देश ही क्योटो विज्ञप्ति के प्रति वचनबद्ध हैं और ये देश हैं यूरोपीय यूनियन के देश। परंतु विश्व के कुल कार्बन उत्सर्जन में इनका हिस्सा मात्र 15 प्रतिशत है। यहां इस बात की भी चर्चा करना जरूरी

टिप्पणी

है कि 1990 से 2020 के बीच GHG उत्सर्जन में 18 प्रतिशत कमी करने की जो बात की जा रही है वह वैश्विक तापमान में वृद्धि की 2 डिग्री सेल्सियस तक रोकने के लिए आवश्यक 25 से 40 प्रतिशत की गिरावट की तुलना में स्वयं बहुत कम है।

COp 18 में किए गए समझौते का दूसरा महत्वपूर्ण हिस्सा है सभी देशों के लिए एक समान विश्वस्तरीय जलवायु परिवर्तन समझौता (universal climate change agreement) जिसे 2015 तक तैयार किया जाना है तथा जिसे 2020 में लागू किया जाना है। इस समझौते में वर्ष 2020 के बाद उत्सर्जन कम करने के लक्ष्य स्थापित किए जाएंगे। कई प्रेक्षकों के अनुसार, इस निर्णय का अर्थ यह है कि अब विकासशील देशों का उत्सर्जन कम करने के बाध्यकारी लक्ष्य अपनाने को मजबूर किया जा सकेगा।

UNFCCC द्वारा 11 नवम्बर, 2013 से 23 नवम्बर, 2013 तक वारसा (पौलेण्ड की राजधानी) में 19वीं कान्फ्रैंस ऑप पार्टीज (19th Conference of Parties) बुलाई गई। इसमें 195 देशों ने भाग लिया। विकसित देशों द्वारा पर्यावरण प्रदूषण के प्रति अपना ऐतिहासिक योगदान स्वीकार न किए जाने के कारण, इस कान्फ्रैन्स से ज्यादा उम्मीद नहीं थी और ज्यादा कुछ मिला भी नहीं। फिर भी कुछ बातों पर सहमति बनाई जा सकी। उदाहरण के लिए, निर्धनतम राष्ट्रों को 'नुकसान की भरपाई' के लिए विकसित देशों ने वित्तीय सहायता देने की बात स्वीकार की और इस बात को माना कि उनके द्वारा ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन से इन निर्धनतम देशों को क्षति पहुंची है।

UNFCCC द्वारा 1 दिसम्बर, 2014 से 14 दिसम्बर, 2014 तक लीमा (पेरू की राजधानी) में 20वीं कान्फ्रैंस ऑफ पार्टीज (20th Conference of Parties) बुलाई गई। इसमें सदस्य देशों ने जो समझौता अपनाया उसे Lima Call to Climate Action का नाम दिया गया (इसे Lima Accord भी कहा गया)। इसमें सदस्य देशों ने नवम्बर–दिसम्बर 2015 में पैरिस में होने वाली 21 वीं कान्फ्रैंस ऑफ पार्टीज के लिए एक नए प्रकार के समझौते का प्रारूप तैयार किया जिससे जलवायु परिवर्तन के परिणामों से जूझने में सहायता मिल सके। इस नए समझौते की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं: (1) विभिन्न देशों की सरकारें ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन कम करने के लिए अपने लक्ष्य स्वयं निर्धारित करेंगी और ये लंक्ष्य दिसम्बर 2015 में पेरिस में होने वाली कान्फ्रैंस में समझौते का आधार बनेंगे, (2) सबसे कम विकसित और लघु द्वीप विकासशील देशों को प्रतिबद्धताओं से मुक्त रखा गया है, (3) परंतु जलवायु परिवर्तन की गति कम करने के लिए जरूरी कदमों की घोषणा नहीं की गई और उन्हें दिसम्बर 2015 तक स्थगित कर दिया, (4) 1997 में अपनाए गए क्योटो समझौते के विपरीत जिसमें केवल विकसित देशों को बाध्यकारी उत्सर्जन लक्ष्य अपनाने पर जोर दिया था, Lima Accord में यह जिम्मेदारी सभी देशों पर डाली गई है।

सितम्बर 2013 में जारी IPCC (Intergovernmental Panel on Climate Change) की रिपोर्ट Climate Change 2013 : The Physical Science Basis में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि जलवायु परिवर्तन का मुद्दा पूरी तरह से भूमि के वायुमंडल में ग्रीनहाउस गैसों के संचित स्टाक (accumulated stock) से जुड़ा हुआ है और वर्तमान में इन गैसों का उत्सर्जन इस संचित स्टाक में होने वाली वृद्धि है। संचित स्टाक के लिए जिम्मेदार आज के औद्योगिक रूप से विकसित देश हैं हालांकि वर्तमान वृद्धि में चीन व भारत जैसे विकासशील देशों का भी योगदान है। ऐतिहासिक जिम्मेदारी (historical responsibility)

टिप्पणी

तथा समानता (equity) की मांग यह है कि विकसित देश जलवायु परिवर्तन से होने वाली हानियों व क्षति को पूरा करने में अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करें, विद्यमान ऊर्जा प्रणालियों में सुधार लेने का प्रयास करें तथा इस प्रकार के प्रयासों में विकासशील देशों की मदद करें।

पर्यावरण का स्थान नई विचारधारा में ले लिया है जिसके अंतर्गत बेहतर वातावरण, विकास को कायम रखने के लिए जरूरी है। विकास को कायम रखने की क्षमता को सुदृढ़ करना चाहिए और इसे विकास का पथ प्रदर्शक सिद्धांत मानना चाहिए। पर्यावरण समस्याएं किसी एक क्षेत्र या देश तक सीमित नहीं रहतीं। इनका स्वरूप विश्वव्यापी बन चुका है। इसलिए संयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में पर्यावरण संसाधनों को सुरक्षित रखने, कायम रखने तथा सुधार करने के लिए सामूहिक विश्वसनीय प्रयासों की आवश्यकता है।

5.2.6 पर्यावरण संरक्षण हेतु विधायी प्रावधान

पर्यावरण संबंधी मानसिकता भारतीय संस्कृति का अखंड अंग रही है। प्राचीन भारतीय पुराणों में भी प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण और सतत उपयोग के महत्व का जिक्र मिलता है। संविधान, कानून और नीतिगत ढांचे के साथ–साथ देश की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं में भी यह झलकता है।

42वें संशोधन के साथ वर्ष 1976 में पर्यावरणीय चिंताओं को संवैधानिक मंजूरी दी गई थी। इस संशोधन के तहत इस मुद्दे को राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों, मूल अधिकारों और कर्तव्यों में शामिल किया गया था। संविधान का अनुच्छेद 48–ए कहता है– 'देश के पर्यावरण का संरक्षण और सुधार एवं वन एवं वन्य जीवों की सुरक्षा के लिए राज्य प्रयास करेगा।' अनुच्छेद 51ए (जी) कहता है– 'वनों, झीलों, नदियों और वन्य जीवों सहित प्राकृतिक पर्यावरण का संरक्षण और सुधार भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होना चाहिए और उनमें जीवित प्राणियों के प्रति तरस का भाव होना चाहिए।' 1970 के बाद से देश में पर्यावरण विधानों का व्यापक जाल फैल चुका है।

पर्यावरण (संरक्षण) कानून वर्ष 1986 में लागू किया गया था। यह कानून केंद्र सरकार को विभिन्न प्राधिकरण स्थापित करने की शक्तियां देता है। इन प्राधिकरणों के पास सभी स्वरूपों में पर्यावरण प्रदूषण रोकने और देश के विभिन्न भागों में पेश आ रही पर्यावरण संबंधी विशिष्ट दिक्कतों से निपटने के लिए अधिकार प्राप्त होते हैं। यह कानून छाता विधान है जो कि पूरे भारत पर लागू होता है। पर्यावरण से जुड़े कुछ शब्दों को इस कानून में परिभाषित किया गया है–

1. पानी, हवा और भूमि एवं मनुष्यों व अन्य जीवों के साथ इनके अंतर्संबंध पर्यावरण में शामिल होते हैं।
2. पर्यावरण प्रदूषण का अर्थ किसी ठोस, द्रव अथवा गैसीय पदार्थ की इतनी मात्रा में मौजूदगी से है जो कि पर्यावरण के लिए घातक होती है अथवा घातक साबित हो सकती है।
3. खतरनाक पदार्थ से अर्थ ऐसे पदार्थों अथवा ऐसी तैयारियों से है जो कि अपनी भौतिक–रासायनिक विशेषताओं अथवा व्यवहार से मनुष्यों, अन्य जीवों, संपत्ति अथवा पर्यावरण के लिए हानिकारक साबित हो सकते हैं।

टिप्पणी

यह कानून केंद्र सरकार को पर्यावरण संरक्षण और इसमें सुधार की दिशा में कदम उठाने के लिए शक्तियां प्रदान करता है, जबकि राज्य सरकारें इन कार्यवाहियों का समन्वय करती हैं। इस कानून के तहत इनकी स्थापना करने के लिए केंद्र सरकार को दिए गए महत्वपूर्ण निर्देश इस प्रकार हैं–

(क) विभिन्न क्षेत्रों और उद्देश्यों के लिए हवा, पानी और मिट्टी की गुणवत्ता के मानक।

(ख) अलग–अलग क्षेत्रों के लिए विभिन्न पर्यावरण प्रदूषकों की सांद्रता की अधिकतम अनुमानित सीमा।

(ग) खतरनाक पदार्थों को संभालने के लिए प्रक्रियाएं और रक्षा उपाय।

(घ) खतरनाक पदार्थों के संचालन पर पाबंदी और बंदिशें।

(ङ) अलग–अलग क्षेत्रों में उद्योगों के संचालन और कार्य करने पर पाबंदियां।

(च) पर्यावरण प्रदूषण की वजह बनने वाली दुर्घटनाओं की रोकथाम के लिए प्रक्रियाएं और रक्षा उपाय एवं ऐसी दुर्घटनाएं होने की स्थिति में बचाव के उपाय।

पारिस्थितिकी के प्रति संवेदनशील क्षेत्रों के संरक्षण के लिए सरकार इस कानून के तहत समय–समय पर अधिसूचना जारी करती है अथवा इस कानून के तहत आने वाले मामलों के लिए निर्देश जारी करती है।

पर्यावरण (सुरक्षा) नियम, 1986

पर्यावरण की गुणवत्ता सुधारने और इसका संरक्षण करने एवं प्रदूषण को रोकने और इसका मुकाबला करने की खातिर पर्यावरण (संरक्षण) नियम, 1986 की अनुसूची 1–4 के तहत गैसीय प्रदूषकों के उत्सर्जन और उद्योगों के अपशिष्ट/गंदे पानी की निकासी के लिए मानक तय किए जाते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. वर्ष 2004 में भारत को किस भयावह प्राकृतिक आपदा का सामना करना पड़ा था?

   (क) सुनामी (ख) चक्रवात

   (ग) भूकम्प (घ) भू–स्खलन

2. भारत में राष्ट्रीय वन नीति किस वर्ष घोषित की गई?

   (क) 1894 (ख) 1970

   (ग) 1952 (घ) 1968

5.3 वायु एवं जल प्रदूषण संरक्षण कानून

भारत में वायु प्रदूषण की रोकथाम, इसे नियंत्रित और कम करने के लिए वर्ष 1981 में यह कानून लागू किया गया था। 1987 में इसमें अंतिम संशोधन किया गया था। इस कानून की मुख्य बातें इस प्रकार हैं–

टिप्पणी

1. यह वायु प्रदूषण की रोकथाम, नियंत्रण और उन्मूलन के लिए नियम प्रदान करता है।
2. वायु प्रदूषण वातावरण में किसी भी ठोस, द्रव अथवा गैसीय पदार्थ की उतनी सांद्रता के रूप में परिभाषित किया गया है जो कि मनुष्य, अन्य जीवों, पौधों और पर्यावरण की अन्य संपत्तियों को हानि पहुंचाता हो अथवा पहुंचा सकता हो।
3. केंद्र और राज्य सरकार के स्तर पर प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों के पास यह कानून लागू करने के लिए विनियामक प्राधिकरण होते हैं। बोर्डों को इस बात पर निगरानी रखनी होती है कि उद्योग इस कानून की धारा 17 के तहत निर्धारित मानकों का सख्ती से पालन करते हैं अथवा नहीं। इस धारा में वायु प्रदूषकों को उत्सर्जन और प्रवाह के संबंध में मानक दिए गए हैं। विश्लेषण रिपोर्टों के आधार पर उद्योगों को सहमति दी अथवा खारिज की जाती है।
4. प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों के संविधान, शक्तियां और कार्य परिभाषित करने के साथ–साथ इनके निधि, खाते, लेखा परीक्षा, जुर्माना और प्रक्रियाओं इत्यादि के लिए इस कानून में प्रावधान हैं।
5. इस कानून की धारा 20 में ऑटोमोबाइल्स के लिए उत्सर्जन मानकों के प्रावधान दिए गए हैं। इनके आधार पर राज्य सरकारों को मोटर गाड़ियों के पंजीकरण के लिए उत्तरदायी प्राधिकरणों को निर्देश जारी करने का अधिकार है (मोटर गाड़ी कानून, 1939 के तहत)।
6. धारा 19 के तहत राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड राज्य सरकार के साथ विचार–विमर्श करके राज्य के अंदर किसी भी क्षेत्र को 'वायु प्रदूषण नियंत्रित क्षेत्र' घोषित कर सकता है। इस क्षेत्र में मंजूरीशुदा ईंधन के अलावा किसी और ईंधन के इस्तेमाल पर रोक भी लगाई जा सकती है। प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड की पूर्व अनुमति के बिना कोई भी व्यक्ति 'वायु प्रदूषण नियंत्रित क्षेत्र' औद्योगिक इकाई स्थापित अथवा संचालित नहीं कर सकता।
7. धारा 22 और 22(ए) के तहत प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा तय मानकों से अधिक मात्रा में प्रदूषक वातावरण में छोड़ने वाले औद्योगिक संयंत्रों का संचालन पाए जाने पर बोर्ड उसके खिलाफ मुकदमा दर्ज करवा सकता है।
8. इस कानून के अनुपालन के लिए राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा शक्ति प्रदत्त व्यक्ति प्रदूषण नियंत्रण उपकरणों अथवा ऐसे ही अन्य इंतजामों की अवस्था जांचने के लिए किसी भी उद्योग के परिसर में प्रवेश कर सकता है। ऐसे में इस कानून में वर्णित क्रियाकलापों पर अमल संबंधी कदम उठाने और जांचकर्ता के साथ सहयोग के लिए उद्योग का संबंधित व्यक्ति प्रतिबद्ध होता है।
9. किसी भी उद्योग को बंद करने अथवा उसके नियमन के लिए राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड किसी व्यक्ति अथवा प्राधिकरण को निर्देश जारी कर सकता है। इतना ही नहीं बिजली, पानी और अन्य सेवाएं बंद करने अथवा उनके नियमन के लिए बोर्ड निर्देश भी जारी कर सकता है। हालांकि लिखित में निर्देश जारी करने से पहले संबंधित पक्ष को भी सुनना जरूरी होता है।

टिप्पणी

इस कानून के मापदंडों और विनियमों के उल्लंघन की सूरत में कानून के अंतर्गत दंडों का भी उल्लेख किया गया है। हालांकि यह कानून राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के आदेश के खिलाफ अपील करने का अवसर भी प्रदान करता है।

जल (प्रदूषण नियंत्रण एवं रोकथाम) कानून

देश में जल प्रदूषण नियंत्रित करने और इसकी रोकथाम एवं पानी की स्वास्थ्य–प्रदत्ता बरकरार रखने अथवा इसे पुनर्स्थापित करने के लिए 1974 में जल (प्रदूषण नियंत्रण एवं रोकथाम) कानून लागू किया गया था। इस कानून में जल प्रदूषण को पानी के ऐसे प्रदूषण, अथवा पानी के भौतिक, रासायनिक अथवा जैविक गुणों में ऐसा बदलाव अथवा पानी में ऐसे पदार्थ छोड़ना जिसकी वजह से पानी इसे प्रयोग करने वाली जनता के स्वास्थ्य के लिए असुरक्षित अथवा हानिकारक अथवा जलीय पौधों और अन्य जीवों के लिए खतरनाक बन जाए के कारणों के विषय में बताया गया। ऐसे में जल प्रदूषण की परिभाषा में वे सभी संभावित एजेंट शामिल कर लिए गए हैं जो कि पानी पर आधारित जीवन को किसी प्रकार से प्रभावित कर सकते हैं।

इस कानून की मुख्य बातें और प्रावधान नीचे दिए गए हैं :

1. यह सभी प्रकार के सतही और भूमिगत जल की गुणवत्ता को बरकरार रखने और पुनर्स्थापित करने के लिए प्रावधान उपलब्ध करवाता है।
2. यह केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड और प्रत्येक राज्य में ऐसे ही बोर्डों की स्थापना के प्रावधान मुहैया करवाता है।
3. प्रदूषण नियंत्रण करने के लिए यह बोर्डों को शक्तियां और कार्य पद्धतियां प्रदान करता है। जल प्रदूषण की रोकथाम और इसके नियंत्रण के लिए तकनीकी सहायता, सलाह और समन्वय के लिए केंद्रीय और राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों को व्यापक शक्तियां प्रदान की जाती हैं और ये इन्हें व्यापक तौर पर प्रदर्शित भी करते हैं।
4. नियमों का उल्लंघन करने वालों के लिए इस कानून में विभिन्न दंडों का प्रावधान है। मुख्य नियामक निकाय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड हैं, जिन्हें निम्नलिखित अधिकार और कर्तव्य दिए गए हैं।

केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड (सीपीसीबी) से इन कामों की उम्मीद की जाती है :

- जल प्रदूषण की रोकथाम और नियंत्रण से संबंधित मामलों में केंद्र सरकार को सलाह देना।
- राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों की गतिविधियों का समन्वय करना और उन्हें तकनीकी सहायता एवं दिशा निर्देश मुहैया करवाना।
- प्रदूषण नियंत्रण और रोकथाम के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करवाना।
- जन माध्यमों के जरिए प्रदूषण संबंधी विषयों पर व्यापक कार्यक्रम आयोजित करवाना।
- प्रदूषण से संबंधित तकनीकी और सांख्यिकीय आंकड़े संग्रहित, संकलित और प्रकाशित करवाना।
- मल और उद्योगों से निकले गंदे पानी के उपचार और उसके निपटारे के लिए मैनुअल तैयार करना।

टिप्पणी

- जलीय गुणवत्ता के लिए मानक और मानदंड निर्धारित करना।
- प्रदूषण नियंत्रण, रोकथाम और उपशमन के लिए राष्ट्रव्यापी कार्यक्रमों की योजना तैयार करना।
- पानी, मल और औद्योगिक उत्प्रवाही के नमूनों के विश्लेषण के लिए प्रयोगशालाओं की स्थापना और उन्हें मान्यता प्रदान करना।

राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों के भी यही काम होते हैं। इनका क्रियान्वयन राज्य के स्तर पर किया जाना होता है। इनका नियंत्रण केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा किया जाता है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. वायु एवं जल प्रदूषण संरक्षण कानून की कौन–सी धारा मोटरगाड़ियों के लिये उत्सर्जन मानक तय करती है?

   (क) धारा 19 (ख) धारा 20

   (ग) धारा 21 (घ) धारा 22

4. जल (प्रदूषण नियंत्रण एवं रोकथाम) कानून कब लागू किया गया था?

   (क) 1978 (ख) 1974

   (ग) 1975 (घ) 1982

5.4 वन्य प्राणी संरक्षण कानून

वन्य जीवों का प्रबंधन पारिस्थितिक संसाधनों के संरक्षण एवं वन्य जीवों के प्रबंधन की वह शाखा है, जिसके अंतर्गत किस भी प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्र में उसकी क्षमता के अनुसार वन्य जीवों की सुरक्षा, उनकी संख्या में अधिकतम वृद्धि तथा उनकी देखभाल के लिए योजनाबद्ध कार्य किए जाते हैं, साथ ही उस पारिस्थितिक तंत्र की उत्पादकता में वृद्धि करने के लिए प्रयास भी किए जाते हैं। वन्य जीवों के प्रबंधन की सफलता निम्न कारकों पर निर्भर करती है– (अ) प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्र की पर्यावरण दशा, (ब) प्रबंधन के कार्यक्रम में सरकार, शिक्षाविदों, संरक्षणवादियों तथा नियोजनकर्ताओं की अभिरुचि तथा तत्परता, (स) पारिस्थितिक नियमों एवं सिद्धांतों का समुचित ज्ञान तथा उनका पालन तथा (द) सरकार द्वारा प्रभावी कानूनों एवं नियमों का निर्माण एवं उनका सख्ती के साथ कार्यान्वयन।

भारत के अधिकांश वन्य जंतु अब संकटपन्न (endangered) हो गए हैं क्योंकि उनकी संख्या में तेजी से गिरावट हो रही है। वास्तव में प्राकृतिक आवासों एवं महत्वपूर्ण वन्य जंतुओं का विनाश ब्रिटिश शासन काल से ही प्रारम्भ हो गया था। ब्रिटिश अधिकारियों तथा भारतीय शासकों ने महत्वपूर्ण वन्य जंतुओं का व्यापक स्तर पर शिकार के माध्यम से हनन प्रारम्भ कर दिया था। आमोद–प्रमोद, खाद्य पदार्थ, खाल, हाथी दांत, कस्तूरी, सींग, समूरदार खाल (fur), ऊन आदि के लिए शिकारी जानवरों के अंधाधुंध संहार, कृषि भूमि में विस्तार, औद्योगिक प्रगति एवं नगरीय विस्तार के लिए

टिप्पणी

व्यापक स्तर पर वन विनाश के कारण भारत में वन्य जंतुओं की भारी क्षति हुई है। भारत में वन्य जीवों के प्रबंधन के पहले उनका मूल्यांकन करना आवश्यक है।

एक अनुमान के अनुसार भारतीय उपमहाद्वीप में स्तनधारी जंतुओं की 400 जातियां (species). पक्षियों की 1200 जातियां, रेप्टाइल की 350 जातियां तथा कीटों की 29,70,000 से अधिक जातियां पायी जाती हैं–भारत के वन्य जीवों को निम्न वर्गों में रखा जा सकता है–

बेजोड़ जंतु (unique animals)– बौना सूअर (pigmy hog), ब्लैक बक (black buel-काला मृग), नीलगिरि, टार, स्वर्ण लंगूर।

विशिष्ट जंतु– हाथी, गैंडा स्वैम्प मृग–बारासिंघा, डांसिंग मृग–सांभर, थामिन तथा कश्मीर स्टैग), ऐण्टीलोप (यथा–ब्लैक बक, चौसिंघा, भारतीय गजेल–चिंकारा, नीलगाय), जंगली भैंसा (bison), जंगली भैंस, हिमालयन रीछ, स्लाथ रीछ (पेड़ पर रहने वाला), बंदर (यथा–नीलगिरि लंगूर, लघु पुच्छ बन्दर, रीसस बन्दर, हनुमान, बन्दर), भारतीय वृहदाकार गिलहरी, पोरक्यूपाइन (साही), पैंगोलिन, पक्षियां (यथा–पीफाउल–मोर तथा मोरनी, वन मुर्गी, तीतर, बटेर, ग्रेट इण्डियन बस्टर्ड–सारस, बत्तख, कबूतर, भट्टतीतर–sandgrouse, महाबक–storkss, पेलिकन, बाझ, उल्लू, क्रेन–सारस आदि), रेप्टाइल्स (यथा–मगरमच्छ, घड़ियाल, छिपकली, गोह तथा नाना प्रकार के सांप) आदि।

भारत में वन्य जीवों के प्रबंधन के उपाय– देश में वन्य जीवों के परिरक्षण (preservation) तथा संरक्षण (conservation) के लिए केन्द्रीय तथा प्राप्तीय सरकारों ने कई उपाय किए हैं। इनके अंतर्गत कानून के अधिनियम, संकटापन्न जातियों(endangered species) की सुरक्षा तथा पक्षीविहारों, अभयारणयों एवं राष्ट्रीय उद्यानों की स्थापना को सम्मिलित किया जाता है।

वन्य जीवों की सुरक्षा एवं संरक्षण के लिए समय–समय पर कई नियम तथा कानून पारित किए गए हैं। वन्य पक्षी तथा जंतु सुरक्षा अधिनियम सन् 1887 में पारित किया गया। परंतु इसे 1912 में बदल दिया। सन् 1927 में पारित 'वन अधिनियम' का प्रमुख उद्देश्य वन्य जानवरों की सुरक्षा करना है। वन्य जंतुओं की सुरक्षा के लिए सन् 1952 में 'इण्डियन बोर्ड ऑफ वाइल्डलाइफ की स्थापना की गई। आगे चलकर प्रांतीय स्तर पर भी 'वन्य जीव बोर्ड' का गठन किया गया। 'नए शवन्य जीव अधिनियम' के अंतर्गत वन्य जीवों के प्रबंधन के लिए कारगर नियमों एवं उपायों की व्यवस्था है। इस अधिनियम के अंतर्गत निम्न व्यवस्था की गई है– (i) जीवित या मृत जानवरों के हनन, आखेट, जाल में फसाने आदि की निगरानी करना एवं उन पर रोक लगाना, (ii) वन्य जंतुओं एवं उनके उत्पादों के वन विभाग के कर्मचारियों (प्रमुख वन्य जीव वार्डेन या अन्य अधिकृत कर्मचारी) द्वारा स्थानांतरण एवं निर्यात का परिनिरीक्षण एवं नियंत्रण, (iii) जंतुओं की जातियों की सुरक्षा (iv) अन्य वन्य जीवों की आवश्यकतानुसार सुरक्षा आदि। आगे चलकर वन्य जीवों के प्रबंधन के लिए देहरादून में वन्य जीव संस्थान की स्थापना की गई।

निम्नलिखित संकटापन्न एवं संकटस्थ जंतुओं की सुरक्षा के लिए व्यापक प्रयास किए जा रहे हैं–ब्लैक बक (इण्डियन ऐण्टीलोप), चौसिंघा, श्वेत आंख वाला बक (मृग), स्वैम्प हिरन, हाथी, भारतीय गजेल (चिंकारा), कस्तूरी मृग, भराल, स्नोलेपर्ड, ग्रेट इण्डियन बस्टर्ड, पीफाउल, सेरो, टार, सुनहरी बिल्ली, की जाति), जल लिजर्ड, मार्श

टिप्पणी

मगर, मोनल फीजैण्ट (चकोर), चीड़ फीजैण्ट, कोक्लास फीजैण्ट, सींग वाला फीजैण्ट, पाइथान, शेर, बाघ, चीता आदि।

विभिन्न श्रेणियों के वन्यजीवों की सुरक्षा के लिए देश भर में लगभग 200 वन विहारों, अभयारण्यों, राष्ट्रीय उद्यानों तथा अन्य प्राकृतिक क्षेत्रों की स्थापना की गई है। वन विहार तथा अभयारण्य (sancturaires) पक्षियों सहित विभिन्न प्रकार के जंतुओं को अधिकतम सुरक्षा तथा रहने के लिए अनुकूलतम दशाएं अनुमति के बिना इन वनविहारों तथा अभयारण्यों में शिकार करना या किसी जंतु को पकड़ना दण्डनीय अपराध होता है। राष्ट्रीय उद्यानों के अंतर्गत उनके जंतुओं, वनस्पतियों, स्थलाकृतियों, पर्यावरण दशाओं, आवासों आदि के प्राकृतिक स्वरूप के परिरक्षण के लिए प्रयास किए जाते हैं। वास्तव में राष्ट्रीय उद्यान का प्रकृति प्रारक्षण (nature reserve) के रूप में परिरक्षण एवं संरक्षण किया जाता है। सन् 1983 में नेशनल वाइल्डलाइफ एक्शन प्लान की शुरुआत निम्न उद्देश्यों के लिए की गई थी–भविष्य में वन्य जीवों के संरक्षण के लिए रणनीतियों, कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं का नियमन (formulation) तथा क्रियान्वयन तथा रक्षित क्षेत्र में वृद्धि करना। वर्तमान समय में देश के समस्त भौगोलिक क्षेत्रफल का 3 प्रतिशत भाग रक्षित है। इसे बढ़ाकर 4 प्रतिशत करने की योजना है।

देश में बाघों की संख्या को बढ़ाने के लिए प्रोजेक्ट टाइगर नामक योजना चलायी जा रही है। कुछ विशिष्ट प्रकार के चयनित बाघ प्रारक्षणों (tiger reserves) में बाघों की पूर्ण सुरक्षा की जाती है। प्रमुख बाघ प्रारक्षण निम्न स्थानों पर हैं–मनास (आसाम के कामरूप जिले में, क्षेत्रफल 540 वर्ग किलोमीटर, सागर तल से ऊंचाई 80 मीटर) पलामू (बिहार प्रांत के डाल्टनगंज जिले में, क्षेत्रफल 345 वर्ग किलोमीटर), सिमलीपाल (उड़ीसा प्रांत के मयूरभंज जिले में क्षेत्रफल 2750 वर्ग किलोमीटर), कॉर्बेट नेशनल पार्क (उत्तराखण्ड के नैनीताल जिले में क्षेत्रफल 525 वर्ग किलोमीटर), मेलघाट (महाराष्ट्र), बंदीपुर (कर्नाटक), सुन्दरबन (पं. बंगाल), करिस्का (राजस्थान) आदि (देश में कुल 16 बाघ प्रारक्षण हैं)।

उल्लेखनीय है कि देश में प्राकृतिक क्षेत्रों या वन्य क्षेत्रों (wild areas) तथा पारिस्थितिक सम्पदा की सुरक्षा के लिए केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के प्रयासों के बावजूद राष्ट्रीय, उद्यानों, वन विहारों, अभयारण्यों, आरक्षित एवं रक्षित वनों आदि की हालत जटिल सामाजिक–राजनैतिक–आर्थिक कारकों के कारण दिन प्रतिदिन खस्ता होती जा रही है।

केंद्र सरकार ने महसूस किया कि देश में पौधों और वन्य जीवों की जिंदगी को सुरक्षित बनाने के लिए एक कानून की जरूरत है। ऐसे में वर्ष 1972 में वन्य जीव (संरक्षण) कानून अमल में आया। इस कानून की मुख्य बातें इस प्रकार हैं–

1. यह कानून पौधों और जीवों की ऐसी संरक्षित प्रजातियों को अधिसूचित करता है जिनको काटना अथवा शिकार करना गैर कानूनी है।
2. यह वनस्पति और प्राणि जगत की सूचिबद्ध प्रजातियों को सुरक्षा मुहैया करवाता है और पारिस्थितिकीय रूप से महत्वपूर्ण संरक्षित क्षेत्रों के लिए संजाल स्थापित करता है।
3. यह कानून केंद्र और राज्य सरकारों को अधिकार देता है कि वह किसी भी क्षेत्र को वन्य जीव अभयारण्य, राष्ट्रीय पार्क अथवा बंद क्षेत्र घोषित कर सकती हैं।

टिप्पणी

इन संरक्षित क्षेत्रों में कोई भी औद्योगिक गतिविधि संचालित करने पर पूरी तरह से प्रतिबंध है।

4. अनुसूचित जानवरों का शिकार पूरी तरह प्रतिबंधित है। हालांकि इसका अपवाद यह है कि जब कोई जानवर मानव जीवन अथवा संपत्ति के लिए खतरा बन जाता है अथवा ठीक न होने के स्तर तक अक्षम हो जाता है तो प्राधिकृत अधिकारी की अनुमति से उसका शिकार किया जा सकता है।
5. कानून के अनुसार, जंगली जानवरों को पकड़ना अथवा फांसना भी शिकार की श्रेणी में ही आता है।
6. अनुसूची 1 और अनुसूची 2 के भाग दो में सूचिबद्ध प्रजातियों को यह अनुसूचियां विशुद्ध सुरक्षा मुहैया करवाती हैं। इसके तहत अपराधों की कड़ी सजा निर्धारित की गई हैं।
7. अनुसूची 3 और 4 में सूचिबद्ध प्रजातियां भी संरक्षित हैं, लेकिन इनके लिए दंड काफी कम हैं।
8. अनुसूची 5 में ऐसे जानवर शामिल हैं, जिनका शिकार किया जा सकता है।
9. अनुसूची 6 में सूचिबद्ध पौधों की खेती पर पाबंदी है।
10. इस कानून के तहत वन्य जीव सलाहकार बोर्ड का गठन और वन्य जीव संरक्षकों की नियुक्ति की जाती है। कानून में इनके अधिकारों और कर्तव्यों का भी उल्लेख है।
11. इस कानून के तहत केंद्रीय चिड़ियाघर प्राधिकरण का भी गठन किया जाता है।
12. खतरे में आई प्रजातियों के कैप्टिव प्रजनन कार्यक्रम का भी इस कानून में प्रावधान है। खतरे में आई विभिन्न प्रजातियों के संरक्षण के लिए इस कानून के तहत कैप्टिव प्रजनन कार्यक्रम चल रहे हैं। इनमें से कुछ कार्यक्रम हैं : शेर (1972), बाघ (1973), मगरमच्छ (1974), भूरे बारहसिंगा (1981) का संरक्षण करना।

इस कानून में कई संशोधन हुए हैं। 1982 में हुए संशोधन में पशुओं की जनसंख्या का वैज्ञानिक प्रबंधन करने के लिए जंगली जीवों को पकड़कर दूसरे क्षेत्रों में भेजने की अनुमति का प्रावधान जोड़ा गया। 1991 में जोड़े गए संशोधन ने आदिवासियों और वनों में रहने वाले लोगों की जरूरतों को भी समझा और उनके कल्याण के लिए कुछ परिवर्तन जोड़े गए। शिकार पर करीब–करीब पूरा प्रतिबंध भी इस संशोधन के बाद भी प्रभावी बनाया गया।

वन (संरक्षण) कानून, 1980

वन (संरक्षण) कानून वन और उनसे जुड़े पहलुओं की सुरक्षा और संरक्षण से जुड़ा है। वन्य जीव (सुरक्षा) कानून की तरह यह कानून भी जम्मू और कश्मीर को छोड़कर पूरे भारत पर लागू होता है। जम्मू और कश्मीर का अपना खुद का वन (संरक्षण) कानून है। यह कानून सभी प्रकार के वनों जैसे आरक्षित वन, संरक्षित वन और अन्य वन्य भूमि पर लागू होता है, भले ही इसका मालिक कोई भी क्यों न हो।

टिप्पणी

इस कानून की मुख्य बातें इस प्रकार हैं–

1. इस कानून के तहत राज्य सरकारों को निर्देश दिए गए हैं कि वन भूमि का प्रयोग केवल वानिकी उद्देश्यों के लिए ही किया जाए। अगर फिर भी कोई राज्य सरकार वन को किसी अन्य उद्देश्य के लिए इस्तेमाल करना चाहती है तो पहले इसे केंद्र सरकार की अनुमति लेनी होगी जिसके बाद वह आरक्षित वन के कुछ हिस्सों को गैर–वानिकी गतिविधियों (जैसे खनन) के लिए प्रयोग करने के आदेश जारी कर देगी या फिर प्राकृतिक रूप से उगे पेड़ों को काटकर उनकी जगह आर्थिक रूप से महत्वपूर्ण पौधों को लगाया जाए (पुनर्वनीकरण)।
2. यह सभी प्रकार के वनों के संरक्षण के लिए प्रावधान बनाता है और इस उद्देश्य के लिए कानून के तहत एक सलाहकार समिति गठित की गई है जो कि केंद्र सरकार को संरक्षण परियोजनाओं के वित्त पोषण के लिए अनुशंसाएं भेजती है।
3. किसी भी वन में चल रही अवैध गैर–वानिकी गतिविधि इस कानून के तहत तुरंत रोकी जा सकती है। गैर वानिकी गतिविधियों में वन भूमि को अन्य प्रकार के पौधे अथवा फसल लगाने के लिए साफ करना या फिर कोई अन्य उद्देश्य शामिल है (वनीकरण को छोड़कर)। हालांकि वन्य जीवों अथवा वन प्रबंधन के लिए वन में किए जाने वाले थोड़े बहुत निर्माण कार्य (जैसे बाड़बंदी, पानी के लिए छेद बनाना, खाई खोदना, पाइप लाइन बिछाना, चेक पोस्ट का निर्माण करना, बेतार संचार स्थापित करना इत्यादि) को गैर वानिकी गतिविधि से छूट प्राप्त है।
4. राज्य सरकारें किसी भी ऐसे व्यक्ति अथवा प्राधिकरण, निगम, एजेंसी अथवा संगठन, जिसका प्रबंधन सरकार के नियंत्रण में न हो, को वन भूमि अथवा इसका कोई हिस्सा बट्टे पर नहीं दे सकती।

बदलते समय के साथ तालमेल बैठाने और अधिक सख्त बनाने के उद्देश्य से वर्ष 1992 में वन (संरक्षण) कानून में कुछ संशोधन किए गए थे, जो इस प्रकार हैं–

1. एक उपबंध जोड़ा गया जो कि पेड़ों को नुकसान पहुंचाए बगैर अथवा केंद्र सरकार की पूर्वानुमति के साथ पेड़ों की सीमित कटाई के साथ कुछ गैर–वानिकी गतिविधियों की इजाजत देता था। इन गतिविधियों में पारेषण लाइनें बिछाना, भूकम्पीय सर्वेक्षण, अन्वेषण, ड्रिलिंग और पनबिजली परियोजनाएं शामिल हैं। इनमें अंतिम गतिविधि के लिए बड़े पैमाने पर वन नष्ट किए जाते हैं, जिसकी केंद्र सरकार से पूर्व अनुमति लेना अति आवश्यक है।
2. इस कानून के तहत वन्य जीव अभ्यारण्यों, राष्ट्रीय पार्क इत्यादि जगहों पर बिना पूर्व अनुमति लिए किसी भी प्रकार का अन्वेषण अथवा सर्वेक्षण जैसी गतिविधियां पूर्णतः प्रतिबंधित हैं, भले ही इन गतिविधियों से पेड़ों को कोई नुकसान नहीं पहुंचता हो।
3. चाय, कॉफी, मसालें, रबर और नगदी फसलों में शामिल अन्य पौधे उगाना भी गैर वानिकी गतिविधियों में शामिल है और आरक्षित वनों में इसकी भी इजाजत नहीं है।

टिप्पणी

4. वन क्षेत्र में फलदार पेड़, तेल देने वाले पौधे अथवा चिकित्सीय महत्व के पौधे लगाने से पहले भी केंद्र सरकार की मंजूरी आवश्यक है। ऐसा इसलिए है कि वन में प्रविष्ट होने वाली नई प्रजाति कहीं पारिस्थितिकी तंत्र में असंतुलन तो पैदा नहीं कर देगी। हां, अगर लगाई जाने वाली प्रजाति इसी क्षेत्र की है तो उसके लिए अनुमति लेने की जरूरत नहीं होती।
5. आदिवासियों द्वारा वनों में की जाने वाली रेशम के कीड़ों की खेती उनके जीवन का आधार है। इस गतिविधि को वानिकी का अंग माना गया है। हालांकि इसमें अर्जुन जैसे विशिष्ट मेजबान पौधे नहीं होने चाहिए। जैव विविधता में समृद्ध वनों में मोनो कल्चर प्रेक्टिस को हतोत्साहित करने के लिए ऐसा किया जाता है।
6. खनन एक गैर–वानिकी गतिविधि है और इसके लिए केंद्र सरकार से पूर्व अनुमति लेना आवश्यक है।
7. वन क्षेत्र के अंदर पड़ने वाले नदी बेड से पत्थर, बजरी इत्यादि निकालना भी गैर–वानिकी गतिविधि है।
8. गैर–वानिकी गतिविधि के लिए केंद्र सरकार को भेजे जाने वाले प्रस्ताव में प्रस्तावित गतिविधि के पारिस्थितिकीय और सामाजिक–आर्थिक प्रभावों के संदर्भ में इसका लागत–मुनाफा विश्लेषण और पर्यावरणीय प्रभाव वक्तव्य (ईआईएस) जरूर साथ लगाना चाहिए।

पर्यावरण कानूनों का प्रवर्तन

हमारे पर्यावरण की गुणवत्ता की रक्षा करने के लिए काफी कानून मौजूद हैं। लेकिन इतने कानून होने के बावजूद पर्यावरण विघटन खतरनाक गति से जारी है। हमारी 33 प्रतिशत भूमि को वनों के तहत लाने के लक्ष्य को भी प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। हमारे वन्य जीव लगातार शिकारियों, वन्य जीवों के व्यावसायियों और मनुष्य के निर्दयी व्यवहार के शिकार बनते जा रहे हैं। कई जगहों पर तो नदियां खुले गटरों का रूप धारण कर चुकी हैं और हमारे बड़े शहरों की हवा अत्यधिक प्रदूषित है। यह वास्तविकता साबित करती है कि केवल पर्यावरण संबंधी कानून होना ही काफी नहीं है। जब तक विभिन्न कानूनों के प्रावधान कड़ाई और सख्ती से लागू नहीं किए जाते, तब तक हवा और पानी की गुणवत्ता में सुधार की उम्मीद नहीं की जा सकती।

इसके लिए जरूरी है कि कानून प्रवर्तन एजेंसियों को किसी भी प्रकार के अतिक्रमण के बारे में सभी सूचनाएं और आंकड़े उपलब्ध होने चाहिए। यह बात भी काफी महत्वपूर्ण है कि वन संरक्षकों और पुलिस को पर्यावरण से जुड़े मुद्दों और संवैधानिक प्रावधानों के प्रति संवेदनशील बनाया जाए। यह प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि पर्यावरण कानूनों के किसी भी उल्लंघन की सूचना तुरंत पुलिस और अन्य कानून प्रवर्तन एजेंसियों को दे, ताकि दोषियों के खिलाफ कड़ी कार्यवाही की जा सके। ऐसा होने पर लोग भविष्य में ऐसी हरकतों स बचेंगे। अतः विभिन्न कानूनों और उनके प्रावधानों के बारे में जनता को जागरूक करना बेहद जरूरी है। इसके कुछ निम्नांकित स्वरूप हो सकते हैं–

टिप्पणी

जन जागृति फैलाना

पर्यावरण से संबंधित विभिन्न मुद्दों पर धीरे–धीरे भारत में जागरूकता बढ़ रही है। लेकिन लोग अब भी इसके कानूनी पहलुओं और एक नागरिक के तौर पर हमारे वनों, नदियों, पक्षियों और जानवरों को बचाने में वह क्या भूमिका निभा सकते हैं, इससे अधिकतर लोग अनजान हैं। यह जागरूकता एक जन अभियान के जरिए ही आ सकती है। यह अभियान निम्नलिखित तरीकों के तहत चलाया जा सकता है–

शिक्षा : शुरुआती वर्षों से ही बच्चों को प्रकृति के मूल्य के बारे में जानना चाहिए। साथ ही यह बात भी उनकी समझ में आनी चाहिए कि पर्यावरणीय समस्या किस प्रकार उन्हें प्रभावित कर सकती है। अध्यापकों और पाठ्य–पुस्तकों को संशोधनों का न्यायोचित उपयोग सिखाना चाहिए। आने वाली पीढ़ियों के लिए भी हमें पर्याप्त संसाधन छोड़ने चाहिए। उच्चतम न्यायालय का एक आदेश आने के बाद विद्यालयों और महाविद्यालयों की पुस्तकों में ये मुद्दे शामिल किए जा रहे हैं।

जन माध्यम : जनता को शिक्षित करने और नीति नियंताओं को प्रभावित करने में जन माध्यम महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं लेकिन इसके लिए जन माध्यमों को पर्यावरण संबंधी मुद्दों के प्रति ग्रहणशील बनना पड़ेगा। जन माध्यमों की दोहरी भूमिका महत्वपूर्ण है। पहले तो यह पर्यावरण संबंधी मामलों पर जन समर्थन जुटा सकते हैं। दूसरे जनता के दबाव में अधिकारी भी तत्परता से काम करेंगे।

निर्णय–नियंता और नेता : सत्ता में बैठे लोगों को भी कार्यशालाओं और प्रशिक्षण कार्यक्रमों के जरिए पर्यावरण संबंधी मुद्दों की जानकारी दी जानी चाहिए।

अपनी प्रगति जांचिए

5. वन्य प्राणी संरक्षण कानून में पशुओं की जनसंख्या का प्रबंधन करने के लिए जंगली जीवों को पकड़कर दूसरे क्षेत्रों में भेजने का प्रावधान कब जोड़ा गया?

   (क) 1985 (ख) 1972

   (ग) 1982 (घ) 1975

6. वन्य प्राणी संरक्षण कानून की किस अनसूची में शिकार योग्य वन्य प्राणियों की सूची दी गयी है?

   (क) अनुसूची 3 (ख) अनुसूची 4

   (ग) अनुसूची 5 (घ) अनुसूची 6

5.5 पर्यावरण तथा स्वास्थ्य रक्षा में सूचना प्रौद्योगिकी

मानवाधिकारों से तात्पर्य उन अधिकारों से है, जिसमें 'मानव होने के नाते उनका (अधिकारों का) आनंद उठाना हर इंसान का अधिकार है।' इन अधिकारों में सम्मानजनक, सुरक्षित और पूरा जीवन जीने का अधिकार शामिल है।

हालांकि, डब्ल्यूएचओ का आकलन है कि दुनिया में हर पांचवां आदमी कुपोषण का शिकार है। उसे न तो पीने के लिए स्वच्छ पानी मिलता है और न ही स्वास्थ्य सेवाएं

टिप्पणी

और रहने के लिए स्वच्छ परिस्थितियां उपलब्ध हैं। तीन में से एक आदमी को भोजन बनाने अथवा खुद को गर्म रखने के लिए पर्याप्त ईंधन भी नहीं मिल पाता। पांच में से एक आदमी इतना गरीब है कि उसके लिए जीवन अस्तित्व की खातिर संघर्ष से ज्यादा कुछ नहीं है।

क्षेत्रों, वर्गों और लिंगों के बीच प्राकृतिक संसाधनों और धन का असमान वितरण अग्रणी पर्यावरणीय चिंता है। विकसित देश प्राकृतिक संसाधनों के एक बहुत बड़े हिस्से का दोहन कर रहे हैं और औद्योगिक उन्नति का लाभ भी उठा रहे हैं लेकिन वे अपने उद्योगों से उत्पादित खतरनाक कचरे का बोझ बिल्कुल नहीं उठा रहे हैं। यह कचरा विकसित देशों में निर्यात कर दिया जाता है, जिस कारण जनसंख्या बेवजह जहरीले रसायनों की चपेट में आ जाती है।

विकसित देशों के अंदर भी आर्थिक तौर पर समृद्धों की बजाय गरीबों को ही ज्यादा परेशानियां उठानी पड़ती हैं। गरीबों को उचित घर, सुरक्षित पीने का पानी, साफ हवा और काम करने को स्वस्थ परिस्थितियां नहीं मिलती। अगर हम और गहराई से अंदर झांकें तो पाएंगे कि महिलाओं की तुलना में पुरुष बेहतर जीवन शैली, स्वास्थ्य और पोषण का आनंद उठाते हैं। और वर्तमान पीढ़ी संसाधनों का इतने खुले दिल से प्रयोग कर रही है कि भावी पीढ़ियों को इनकी किल्लत से जूझना पड़ेगा।

लेकिन हर समाज और संस्कृति को यह बात समझनी चाहिए कि भूमि, पानी, भोजन, हवा और स्वास्थ्य के सभी अधिकार पर्यावरण का अंग है, जिसमें हम सबकी भागीदारी है। सामाजिक और पारिस्थितिकीय भलाई के लिए अमीर और गरीब, पुरुष और महिला, वर्तमान और आने वाली पीढ़ियों के बीच चौड़ी होती खाई को पाटना अत्यंत जरूरी है।

पर्यावरणीय मूल्य संबंधी शिक्षण

मूल्य व्यक्तिगत विश्वास होते हैं, जिनके आधार पर व्यक्ति सही और गलत का निर्णय लेते हुए कदम उठाता है। हमारे पर्यावरण के संदर्भ में मूल्य शिक्षा वह जो कि प्रकृति, संस्कृति और लोगों के प्रति सम्मान की भावना पैदा करे और टिकाऊ जीवन का मार्ग प्रशस्त करे।

असल में पर्यावरणीय मूल्य कक्षा में सीखना संभव नहीं है। बच्चों को प्रकृति के तोहफे दिखाकर उनकी तारीफ करने और पर्यावरण में मनुष्य के हस्तक्षेप से हो रहे विध्वंस से पैदा होने वाली समस्याओं से रूबरू करवाकर ही ये मूल्य पैदा किए जा सकते हैं। दूसरा महत्वपूर्ण पहलू 'विकास' की सच्ची समझ विकसित करना है। निश्चित रूप से तेज दौड़ने वाली कारें, हाईटैक उपकरण और आलिशान घर महत्वपूर्ण हैं लेकिन संसाधनों का इतना दोहन करने की कीमत पर नहीं कि आने वाले कल के लिए कुछ न बचे।

पर्यावरण शिक्षा के मूल्य में बच्चों से हर रोज के अनुभवों के बारे में सवाल पूछे जाने चाहिए—मुझे अपनी पेंसिल और कागज बर्बाद क्यों नहीं करने चाहिए? मुझे इन संसाधनों का पुनः उपयोग क्यों करना चाहिए? कीटनाशक बुरे क्यों हैं? अगर मैंने ए. सी. बंद नहीं किया तो क्या होगा? कार होने के बावजूद हमें बाजार पैदल ही क्यों जाना चाहिए?

यह सब बच्चों में प्रकृति के प्रति सम्मान और प्रेम पैदा करेगा और उन्हें अपने आप से आगे सोचने के लिए प्रशिक्षित करेगा। बच्चे आज ही नहीं, बल्कि आने वाले कल के लिए भी सोचना सीखेंगे और प्रकृति के साथ सौहार्द्र भाव से रहेंगे।

टिप्पणी

पर्यावरण और मानवीय स्वास्थ्य में सूचना प्रौद्योगिकी की भूमिका

सूचना प्रौद्योगिकी की वृद्धि ने पर्यावरण और स्वास्थ्य पर दोहरा प्रभाव डाला है। एक तरफ तो इसने पर्यावरण और स्वास्थ्य से जुड़े मुद्दों के बारे में समझ और जागरूकता फैलाने में मदद की है, वहीं दूसरी तरफ इसने इन मुद्दों पर सूचना संपत्ति उत्पादित और सुगमता से उपलब्ध करवाई है। पर्यावरण अध्ययन में मदद करने वाले सूचना प्रौद्योगिकी के कुछ औजारों में शामिल हैं।

भौगोलिक सूचना प्रणाली (जीआईएस) : डिजीटल टोपोशीट्स और उपग्रह चित्रों का विश्लेषण करते हुए यह औजार भूमि–प्रयोग के पैटर्न का नक्शा तैयार करता है और उसमें होने वाले बदलाव पर नजर रखता है। योजना और प्रयोग में इस औजार ने पर्यावरणविदों की काफी मदद की है।

इंटरनेट : इंटरनेट पर छात्रों और शोधकर्ताओं के लिए मददगार साबित होने वाली अत्यधिक सामग्री उपलब्ध है। पर्यावरण संबंधी मुद्दों पर समझ बढ़ाने और जन जागरूकता फैलाने में भी इंटरनेट ने काफी मदद की है।

विशेषीकृत सॉफ्टवेयर : जनसंख्या, वन्य जीवों, संक्रामक बीमारियों, प्रदूषण का स्तर इत्यादि पर आंकड़ों का संकलन और विश्लेषण करने में सक्षम कई सॉफ्टवेयर उपलब्ध हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

7. विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार दुनिया में कुपोषण का शिकार है–

   (क) हर चौथा आदमी (ख) हर पांचवां आदमी

   (ग) हर छठा आदमी (घ) हर तीसरा आदमी

8. पर्यावरण अध्ययन में आंकड़ों के विश्लेषण में उपयोगी है–

   (क) इंटरनेट (ख) विशेष सॉफ्टवेयर

   (ग) जीआईएस (घ) संगणक

5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)
3. (ख)
4. (ख)
5. (ग)

6. (ग)
7. (ख)
8. (ख)

टिप्पणी

5.7 सारांश

भारतीय उपमहाद्वीप प्राकृतिक आपदाओं के लिये सबसे अधिक संभावित क्षेत्र है। बाढ़, सूखा, चक्रवात और भूकम्प भारत में बार–बार और जल्दी–जल्दी आते ही रहते हैं। प्राकृतिक आपदा मानवनिर्मित आपदाओं जैसे आग आदि की पुनरावृति से मिल कर और बढ़ जाते हैं। पर्यावरण के अवक्रमण से स्थलाकृति (टोपो = भूमि) परिवर्तित हो जाती है। इसके साथ ही प्राकृतिक आपदाओं के लिये असुरक्षा भी बढ़ जाती है। 1988 में कुल भूमि का 11.2 प्रतिशत क्षेत्र ही बाढ़ संभावित था परन्तु 1998 तक यह भू–भाग बढ़ कर 37 प्रतिशत हो गया। अभी हाल ही में जिन चार सबसे बड़ी आपदाओं का सामना भारत को करना पड़ा है वह हैं– महाराष्ट्र के लातूर जिले में 1993 में आने वाला भूकम्प, 1999 में उड़ीसा का बड़ा चक्रवात, 2001 में गुजरात का भूकम्प और दिसम्बर 2004 में आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु में आयी सुनामी।

आपदाएं दो प्रकार की होती हैं– प्राकृतिक और मानव निर्मित। उदाहरण के लिये– आग, दुर्घटनाएं (सड़क, रेल या वायु) औद्योगिक दुर्घटनाएं या महामारी मानव निर्मित आपदाओं के कुछ उदाहरण हैं। प्राकृतिक और मानवनिर्मित दोनों ही आपदाएं भयानक विनाश करती हैं। मानव जीवन की क्षति, जीविका उपार्जन के साधनों, सम्पत्ति और पर्यावरण का अवक्रमण इन आपदाओं का परिणाम होता है। आपदाओं से समाज के सामान्य क्रियाकलापों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और इसका दुष्प्रभाव दीर्घकालीन होता है। भूकम्प, चक्रवात, बाढ़ और भू–स्खलन प्राकृतिक आपदाओं के उदाहरण हैं।

किसी बड़े भू–भाग का जलमग्न होना, जिसमें अपार जनधन की हानि होती है, बाढ़ कहलाता है। इसके उत्तरदायी कारकों में अतिवृष्टि, पर्यावरण विनाश, भूस्खलन, बांध, तटबंध तथा बैराज का टूटना, सड़क तथा अन्य निर्माण कार्य, नदियों में गाद बढ़ना, नदियों में निर्मित बांधों में तलछट भरना आदि हैं। केन्द्रीय बाढ़ आयोग की रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 1953 से 1990 के मध्य औसत रूप से प्रतिवर्ष 7944 मि.हे. क्षेत्र बाढ़ से प्रभावित होता रहता है। बाढ़ द्वारा सर्वाधिक प्रभावित क्षेत्र वर्ष 1978 में 17500 मि.हे. क्षेत्र भी रहा है। 1953 से 1990 के मध्य की अवधि में औसत रूप से प्रतिवर्ष 12, 18, 690 भवन तथा 1532 व्यक्ति बाढ़ आपदा के शिकार हुए हैं। जबकि इसी अवधि में सर्वाधिक 35,07,542 भवन वर्ष 1978 में तथा सर्वाधिक 11,316 व्यक्ति वर्ष 1977 में बाढ़ के शिकार हुए हैं।

बाढ़ों को कई प्रकार से नियंत्रित किया जा सकता है। वृक्षारोपण करके (वृक्ष लगा कर) बह कर आने वाले जल की मात्रा कम करने से बाढ़ के पानी का स्तर भी घट जायेगा। जंगल बारिश के पानी को भूमि के अंदर जाने का रास्ता देते हैं। इससे भूमिगत जल स्तर पुनः स्थापित होता है और पानी का व्यर्थ बहना कम हो जाता है। बांधों के निर्माण से पानी का भंडारण होता है और बाढ़ के जल में कमी आती है। बांध पानी को एकत्रित कर सकते हैं, इस कारण पानी नीचे नदियों तक नहीं पहुंच पाता। यदि बांध में एकत्रित पानी सीधा नदियों तक पहुंचे तो बाढ़ की स्थिति पैदा हो सकती

टिप्पणी

है। बांधों से पानी को नियंत्रित रूप में छोड़ा जाता है। नदी/नहर/नालों से गाद निकालकर उन्हें गहरा करने से और तटों को चौड़ा करने से उनमें अधिक पानी भरने की धारण क्षमता बढ़ जाती है। यदि बाढ़ नियंत्रण की उचित योजना और उचित प्रबन्धन तरीकों का नियोजित ढंग से पालन करें, तो बाढ़ से होने वाली क्षति और जान–माल की हानि को काफी हद तक रोका जा सकता है और कम किया जा सकता है।

भूकम्प प्राकृतिक आपदा के सर्वाधिक विनाशकारी रूपों में से एक है, जिसके कारण व्यापक तबाही हो सकती है। भूकम्प का साधारण अर्थ है 'भूमि का कम्पन' अर्थात भूमि का हिलना। भूकम्प पृथ्वी की आंतरिक क्रियाओं के परिणाम स्वरूप आते हैं। पृथ्वी के आंतरिक भाग में होने वाली क्रियाओं का प्रभाव पर्पटी पर भी पड़ता है और उसमें अनेक क्रियाएं होने लगती हैं। जब पर्पटी की हलचल इतनी शक्तिशाली हो जाती है कि वह चट्टानों को तोड़ देती है और उन्हें किसी भ्रंश के साथ गति करने के लिये मजबूर कर देती है, तब धरती के सतह पर कम्पन या झटके, उत्पन्न हो जाते हैं। कम्पन ही भूकम्प होते हैं, भूकम्प का पृथ्वी पर विनाशकारी प्रभाव भूस्खलन धरातल का धसाव मानव निर्मित पुलों, भवनों जैसी संरचनाओं की क्षति या नष्ट होने के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

चक्रवात एक प्रकार से हिंसक तूफान होते हैं। ये एक प्रकार की तेज और बहुत उच्च वेग वाली हवाएं हैं, जो निम्न वायुमंडलीय दबाव के शान्त केन्द्र के चारों ओर तीव्रता से घूमती हैं। यह शान्त केन्द्र प्रायः आगे की ओर बढ़ता है। कभी–कभी इनका वेग 50 कि.मी./घंटा होता है। चक्रवात अचानक ही घटित होते हैं, जबकि इनको बनने में लम्बा समय लग जाता है। चक्रवात के बाद प्रायः तेज वर्षा होती है, जिसके कारण बाढ़ भी आ जाती है। उपग्रहों के द्वारा इनके द्वारा प्रभावित होने वाले संभावित क्षेत्रों का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है, और वहां के निवासियों को चेतावनी दी जा सकती है। चेतावनी और स्थान परिवर्तन प्रस्तावित मार्ग के अनुसार ही होना चाहिये।

भूस्खलन भी एक प्राकृतिक घटना है। भूस्खलन भूमि उपयोग को सीधा प्रभावित करता है। ये प्रायः पर्वतीय भागों जैसे भारत के हिमालय पर्वत के ढालू भागों में आते हैं। चट्टानों का नीचे खिसकना भूस्खलन कहलाता है। यह क्रिया प्राकृतिक एवं मानवीय कारणों से हो सकती है। इसमें सड़क अवरुद्ध हो जाती है, बांध टूट जाते हैं तथा गांव और शहर नष्ट हो जाते हैं। भूस्खलन के लिये प्राकृतिक कारणों में भूकम्प सबसे प्रभावशाली कारक है। इसके साथ ही वनों के ह्रास, जल के रिसाव, अपक्षय, भू–क्षरण तथा अधिक वर्षा के साथ ही मानवीय क्रियाओं जैसे– सड़क निर्माण, उत्खनन, सुरंग, बांध, जलाशय आदि से भूस्खलन को बढ़ावा मिलता है। सिक्किम, भूटान तथा नेपाल जैसे पहाड़ी क्षेत्रों में भूस्खलन के कारण प्रायः मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं।

सामान्य तौर पर पर्यावरण क्षरण तथा उससे जनित पर्यावरण समस्याओं एवं पर्यावरण संकट के निम्न कारण हैं– (1) मानव जनसंख्या में गुणोत्तर वृद्धि, (2) तेज गति से वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकीय विकास, (3) तीव्र गति से विकास के लिए महत्वाकांक्षी विकासीय योजनाओं एवं कार्यक्रमों का नियमन एवं कार्यान्वयन (4) औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं कृषि–विकास में तेजी से वृद्धि (5) समाज के दार्शनिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण (6) मनुष्य का प्राकृतिक पर्यावरण एवं प्रकृति के प्रति शत्रुतापूर्ण

टिप्पणी

निर्दयी व्यवहार, (7) जनसाधारण में पर्यावरण बोध (environmental perception) तथा पर्यावरण समस्याओं के प्रति जागरूकता एवं जानकारी की कमी, (8) निर्धनता (9) कुछ देशों एवं कुछ वर्गों में आवश्यकता से अधिक समृद्धि, (10) प्राकृतिक संसाधनों का अविवेकपूर्ण अवैज्ञानिक ढंग से विदोहन आदि।

भारत सरकार ने 1972 में पर्यावरण आयोजन व समन्वय राष्ट्रीय समिति (National Committee on Environmental Planning and Coordination) का गठन किया। इस समिति को जिम्मेदारी सौंपी गई कि वह पर्यावरण संबंधी नीतियों एवं कार्यक्रमों का पुनः अवलोकन करें इस समिति के प्रयासों से इस दिशा में नई वैधानिक कार्यवाही की शुरुआत हुई तथा पर्यावरण संरक्षण के लिए संस्थात्मक ढांचा तैयार किया। भारतीय संविधान में पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं थे। यह काम 1976 में किया गया जब संविधान में 42वें संशोधन के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण को संविधान में शामिल किया गया। 1976 में राज्य के निर्देशक सिद्धांतों में अनुच्छेद 48 शामिल किया गया जिसमें कहा गया कि ''राज्य, पर्यावरण संरक्षण तथा सुधार का प्रयास करेगा।''

हमारे पर्यावरण की गुणवत्ता की रक्षा करने के लिए काफी कानून मौजूद हैं। लेकिन इतने कानून होने के बावजूद पर्यावरण विघटन खतरनाक गति से जारी है। हमारी 33 प्रतिशत भूमि को वनों के तहत लाने के लक्ष्य को भी प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। हमारे वन्य जीव लगातार शिकारियों, वन्य जीवों के व्यावसायियों और मनुष्य के निर्दयी व्यवहार के शिकार बनते जा रहे हैं। कई जगहों पर तो नदियां खुले गटरों का रूप धारण कर चुकी हैं और हमारे बड़े शहरों की हवा अत्यधिक प्रदूषित है। यह वास्तविकता साबित करती है कि केवल पर्यावरण संबंधी कानून होना ही काफी नहीं है। जब तक विभिन्न कानूनों के प्रावधान कड़ाई और सख्ती से लागू नहीं किए जाते, तब तक हवा और पानी की गुणवत्ता में सुधार की उम्मीद नहीं की जा सकती।

5.8 मुख्य शब्दावली

- **प्रवर्तन** : प्रारंभ, शुरुआत।
- **वानिकी** : वन से संबंधित।
- **विधायी** : कानूनी।
- **नियामक** : नियम के अधीन।
- **अपशिष्ट** : कचरा।
- **क्षरण** : ह्रास, अवनति।

5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. आपदा प्रबंधन में महत्वपूर्ण क्षेत्र कौन से हैं?

टिप्पणी

2. सामुदायिक स्तर पर आपदा प्रबंधन की मुख्य बातों का उल्लेख कीजिए।
3. बाढ़ के प्रमुख प्रभावों का परिचय दीजिए।
4. भूकम्प क्यों आते हैं?
5. चक्रवात और सुनामी का अन्तर स्पष्ट कीजिए।
6. भू–स्खलन के लिये कौन से कारक जिम्मेदार होते हैं?
7. वनों के विनाश का पर्यावरण पर क्या प्रभाव पड़ा है?
8. जलवायु परिवर्तन का आशय स्पष्ट कीजिए।
9. वायु एवं जल प्रदूषण रोकने के लिये क्या विधायी प्रावधान किये गये हैं?
10. वन्य प्राणी संरक्षण कानून में हुए संशोधनों का उल्लेख कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. आपदा प्रबंधन एवं पर्यावरण संरक्षण के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालिए।
2. बाढ़, भूकम्प, चक्रवात एवं भूस्खलन के कारणों, प्रभावों एवं उनके प्रबंधन के तरीकों का वर्णन कीजिए।
3. वायु एवं जल प्रदूषण की रोकथाम से जुड़े कानूनों का विश्लेषण कीजिए।
4. वन्य प्राणी संरक्षण कानूनों का विस्तार से परिचय दीजिए।
5. पर्यावरण एवं स्वास्थ्य रक्षा के क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी की भूमिका पर टिप्पणी लिखिए।

5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

Allaby, M. Environment. York: Gareth Stevens Publishing, 2000.

Carson, R. Silent Spring. Boston: Houghton Miffin Harcourt, 1962.

Rajagopalan, R. Environmental Studies, 2nd edn. New Delhi: Oxford University Press.

Rangarajan M. and K. Sivaramakrishnan (eds). India's Environmental History-A Reader: (Vol. 1: From Ancient Times to the Colonial Period, Vol. 2: Colonialism, Modernity, and the Nation). New Delhi: Orient Blackswan Press, 2011.

Rangarajan, M (ed). Environmental Issues in India: A Reader. New Delhi: Pearson Longman, 2007.

WCED (World Commission on Environment and Development). Our Common Future. New York: Oxford University Press, 1987.